महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

ज्ञान शांति मैत्री

एम.ए. राजनीति विज्ञान

पाठ्यक्रम कोड : एम.ए.पी.एस. – 016

द्वितीय सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : - 07

पाठ्यचर्या का शीर्षक : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन (भाग-1)

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

दूर शिक्षा निदेशालय महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

एम.ए.राजनीति विज्ञान प्रथम सेमेस्टर-पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन (भाग-1)

मार्गदर्शन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. कृष्ण कुमार सिंह
प्रभारी निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि.,वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. अरविंद कुमार झा
पूर्व निदेशक,
दूर शिक्षा निदेशालय
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. पवन कुमार शर्मा
विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय
अटल बिहारी बाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. जे.वी. गवई
विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर, महाराष्ट्र

डॉ. सुशील कुमार त्रिपाठी
पाठ्यक्रम संयोजक : एम.ए.राजनीति विज्ञान पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादक मंडल

प्रो. आर. आर. झा
पूर्व विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय
बी.एच.यू. वाराणसी

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
गांधी एवं शांति अध्ययन, संस्कृति विद्यापीठ,
म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

डॉ. सुशील कुमार त्रिपाठी
पाठ्यक्रम संयोजक : एम.ए.राजनीति विज्ञान पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय,
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड -1
इकाई 1 – डॉ. सरिता कुमारी
इकाई 2 - डॉ. सरिता कुमारी
इकाई 3 - डॉ. सरिता कुमारी
इकाई 4 - डॉ. सरिता कुमारी

खंड - 2
इकाई 1- डॉ. सरिता कुमारी
इकाई 2- डॉ. सरिता कुमारी
इकाई 3- डॉ. सरिता कुमारी
इकाई 4- डॉ. सरिता कुमारी

खंड - 3
इकाई 1 – डॉ. संजय कुमार झा
इकाई 2 - डॉ. संजय कुमार झा
इकाई 3 - डॉ. संजय कुमार झा
इकाई 4- डॉ. संजय कुमार झा

खंड - 4
इकाई 1- डॉ. संजय कुमार झा
इकाई 2 - डॉ. संजय कुमार झा
इकाई 3 - डॉ. संजय कुमार झा
इकाई 4 - डॉ. संजय कुमार झा

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
सहायक कुलसचिव
दू.शि. निदेशालय म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री अरविन्द कुमार
टेक्निकल असिस्टेंट
दू.शि. निदेशालय म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

सुश्री राधा ठाकरे
टंकक/फार्मेटिंग/एडिटिंग
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री सचिन सोनी
सॉफ्टवेयर स्पेशलिस्ट
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री गुड्डू यादव
कंप्यूटर ऑपरेटर
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन (भाग-1)

क्रेडिट्स :04 क्रेडिट

मूल्यांकन के मानदंड :

1. सत्रांत परीक्षा : 70 %
2 . सतत आंतरिक मूल्यांकन : 30 %

खण्ड भारतीय पुनर्जागरण 1

इकाई-1. आधुनिक भारतीय समाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन और भारतीय पुनर्जागरण

इकाई-2. राजा राममोहन राय

इकाई-3. स्वामी दयानन्द सरस्वती

इकाई-4मी विवेकानन्दस्वा .

खण्ड नउदारवादी चिन्त 2

इकाई-1. भारत में उदारवादी चिन्तन का स्वरूप

- दादाभाई नौरोजी

इकाई-2. फिरोज शाह मेहता

इकाई-3 .सुरेद्रनाथ बनर्जी

इकाई-4. महादेव गोविन्द रानाडे

इकाई-5. गोपाल कृष्ण गोखले

खण्ड नवादी चिन्तउग्र राष्ट्र / आदर्शवादी 3

इकाई-1. भारत में आदर्शवादीरूपन का स्ववादी चिन्तउग्र राष्ट्र/

- बाल गंगाधर तिलक

इकाई-2. लाला लाजपत राय

इकाई-3 पालविपिन चन्द्र .

इकाई-4 .श्री अरविन्द घोष

इकाई-5. रविन्द्र नाथ टैगोर

खण्ड दीवासाम्य 4 एवं समाजवादी चिन्तन

इकाई-1. भारत में साम्यवादी आंदोलन का उद्भव एवं विकास

- एम.एनराय .

इकाई-2. भारत में समाजवादी आंदोलन का उद्भव एवं विकास

- आचार्य नरेन्द्र देव

इकाई-3 .डॉराम मनोहर लोहिया .

इकाई-4 .जय प्रकाश नारायण

अनुक्रम

क्र.सं.	इकाई के नाम	पृष्ठ क्रमांक
1.	**खण्ड 1 भारतीय पुनर्जागरण**	
	इकाई-1. आधुनिक भारतीय समाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन और भारतीय पुनर्जागरण	3-10
	इकाई-2. राजा राममोहन राय	11-25
	इकाई-3. स्वामी दयानन्द सरस्वती	26-43
	इकाई-4. स्वामी विवेकानन्द	44-60
2.	**खण्ड 2 उदारवादी चिन्तन**	
	इकाई-1. भारत में उदारवादी चिन्तन का स्वरूप • दादाभाई नौरोजी	61-81
	इकाई-2. फिरोज शाह मेहता	82-90
	इकाई-3. सुरेद्रनाथ बनर्जी	91-101
	इकाई-4. महादेव गोविन्द रानाडे	102-116
	इकाई-5. गोपाल कृष्ण गोखले	117-136
3.	**खण्ड 3 आदर्शवादी / उग्रराष्ट्र वादी चिन्तपन**	
	इकाई-1. भारत में आदर्शवादीरूपन का स्ववादी चिन्तउग्र राष्ट्र/ • बाल गंगाधर तिलक	137-158
	इकाई-2. लाला लाजपत राय	159-176
	इकाई-3. विपिन चन्द्र पाल	177-188
	इकाई-4. श्री अरविन्द घोष	189-209
	इकाई-5. रविन्द्र नाथ टैगोर	210-226
4.	**खण्ड 4 साम्यवादी एवं समाजवादी चिन्तन**	
	इकाई-1. भारत में साम्यवादी आंदोलन का उद्भव एवं विकास • एम.एन. राय	227-243
	इकाई-2. भारत में समाजवादी आंदोलन का उद्भव एवं विकास • आचार्य नरेन्द्र देव	244-260
	इकाई-3. डॉ. राम मनोहर लोहिया	261-277
	इकाई-4. जय प्रकाश नारायण	278-297

खंड-1 : भारतीय पुनर्जागरण

इकाई-1 : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन और भारतीय पुनर्जागरण

इकाई की रूपरेखा

1.1.1. उद्देश्य
1.1.2. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन का इतिहास
1.1.3. भारतीय पुनर्जागरण का उद्गम
1.1.4. भारतीय पुनर्जागरण का कारण
1.1.5. भारतीय पुनर्जागरण का कारक
1.1.5.1. ब्रह्म समाज
1.1.5.2. प्रार्थना समाज
1.1.5.3. आर्य समाज
1.1.5.4. थियोसोफिकल सोसाइटी
1.1.5.5. रामकृष्ण मिशन
1.1.5.6. अन्य संप्रदायों का सुधार आंदोलन
1.1.6. भारतीय पुनर्जागरण का प्रभाव
1.1.7. योगदान
1.1.8. सारांश
1.1.9. पारिभाषिक शब्दावली
1.1.10. बोध प्रश्न
1.1.11. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.1.1. उद्देश्य

1. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के इतिहास को जान सकेंगे।
2. भारतीय पुनर्जागरण के उद्गम के कारण एवं कारक को जान सकेंगे।
3. ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एवं आर्य समाज के योगदान को जान सकेंगे।
4. पुनर्जागरण में थियोसोफिकल सोसाइटी एवं रामकृष्ण मिशन की भूमिका को जान सकेंगे।
5. भारतीय पुनर्जागरण के कारण राष्ट्रीय जागरण एवं भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम पर प्रभाव को समझ सकेंगे।
6. पुनर्जागरण पर अन्य संप्रदायों के सुधार-आंदोलन के प्रभाव को जान सकेंगे।

1.1.2. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन का इतिहास

आधुनिक भारत में नई राजनीतिक तथा सामाजिक शक्ति उद्दाम वेग के साथ उमड़ रही है। इसीलिए यह कहना कठिन है कि भारत में आधुनिक युग वस्तुतः कब आरंभ होता है। कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि भारत में आधुनिक युग, कम से कम अपने आद्र रूप में सोलहवीं शताब्दी से प्रारंभ हो जाता है। क्योंकि उस युग में देश में एकेश्वरवाद तथा भक्ति-मार्ग की गहरी छाप पड़ रही थी और

भक्ति-मर्गियों ने आध्यात्मिक तथा सामाजिक एकता का पाठ पढ़ाया था। कुछ मुगल बादशाह धार्मिक सहिष्णुता के प्रबुद्ध समर्थक होने के साथ-साथ ऐसी प्रशासन-व्यवस्था स्थापित की, जो समकालीन पाश्चात्य राजाओं की प्रशासन-व्यवस्था से अधिक प्रगतिशील थी। वास्को डी गामा 1498 में भारतीय तट पर उतरा और तब से भारत के कुछ प्रदेशों के द्वार पश्चिमी व्यापारियों, उपनिवेशवादियों और आक्रमणकारियों के लिए खुल गए। इससे स्पष्ट है कि सोलहवीं शताब्दी में भारत में कुछ ऐसे तत्वों का प्रादुर्भाव हो चुका था जिनकी प्रकृति आधुनिक थी।

हलाँकि भारत में सुधारवादी आंदोलन 14 वीं शताब्दी में ही प्रारंभ हो चुका था। देश की सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ दिनानुदिन बिगड़ती ही गई, धर्म के नाम पर समाज में अनेक रूढ़ियाँ अंधविश्वास, कुप्रथाएँ तथा बुराईयाँ घुस आई। सती-प्रथा, बाल-हत्या, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, देव-दासी प्रथा आदि अनेक सामाजिक कुप्रथाएँ प्रचलित हुई, धर्म के ठेकेदार बुराइयों को प्रोत्साहन देते थे, मूर्तिपूजा तथा बाह्य आडंबरों को अधिक बल दिया जाने लगा, धर्म में ज्ञान का स्थान नहीं के बराबर रह गया, 18वीं सदी में धर्म का इतना ह्रास हुआ कि उसे इतिहास में अंधकार युग कहा जा सकता है इसके विरूद्ध पुनर्जागरण का प्रारंभ हुआ। भारत में नई चेतना और नए जागरण की लहर दौड़ गई। विवेक और ज्ञान ने विश्वास का स्थान ले लिया, अंधविश्वास ने विज्ञान के सम्मुख घुटने टेक दिए, रूढ़िवाद की शृखलाएँ एक-एक कर टुटने लगीं और पुरानी विचारधाराओं की आलोचनाएँ प्रारंभ हुईं, पुनर्जागरण ने मनुष्य को उठाकर उच्च प्रस्थिति तथा गरिमा के स्तर पर प्रतिष्ठित किया, पुनर्जागरण काल से ब्रह्मांड विद्या की समस्याओं के संबंध में भी नए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आरंभ हुआ। किंतु भारतीय पुर्नजागरण के मूल में तत्वतः नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं का प्राधान्य था।

1.1.3. भारतीय पुनर्जागरण का उद्भव

सच तो यह है कि पश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान के प्रचार से देश में बौद्धिक अनुसंधान की नयी भावना उत्पन्न हुई जिसका प्रयोग धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए किया गया, भारत का बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक महत्वपूर्ण कारण था, जिस प्रकार इटली के पुर्नजागरण तथा जर्मनी के धर्म-सुधार आंदोलन ने यूरोपीय राष्ट्रवाद के उदय के लिए बौद्धिक आधार का काम किया था, उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत तथा आत्म-निर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न की, भारतीय आत्मा के जागरण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्रों में हुई। राजनीतिक आत्म-चेतना का उदय उसके अपरिहार्य परिणाम के रूप में हुआ। भारतीय पुनर्जागरण में अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रवृति अधिक बलवती थी। यह भावना आक्रामक तथा अहंकारपूर्ण विदेशी सभ्यता की महान चुनौती के विरूध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई थी। चूँकि यह सभ्यता राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से बलशाली थी, इसलिए उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया का होना अत्यधिक स्वाभाविक था। इस पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता तथा भारत की धार्मिक तथा पुण्योन्मुखी संस्कृतियों के बीच इस संघर्ष से नए भारत का उदय हुआ।

भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन के कुछ नेताओं ने खुले रूप में इस बात का समर्थन किया कि हमें जान-बुझकर वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों के आधार पर अपने वर्तमान जीवन को ढालना चाहिए। उन्होंने उन भारतीयों की निंदा की जो हक्सले, डार्विन, मिल और स्पेंसर के विचारों से

प्रभावित थे तथा जिनका जीवन-दर्शन आध्यात्मिकता तथा राष्ट्र-प्रेम से पूर्णतः शून्य हो गया था। चूँकि विदेशी साम्राज्यवाद ने अत्यंत क्रूर और विनाशकारी तरीकों से काम लिया था, और भारत की मैसूर, मराठा, सिक्ख, आदि बड़ी शक्तियाँ धीरे-धीरे भूमिसात हो गयी थीं। इस प्रकार देश भयंकर विषमावस्था में फँस गया, ऐसी स्थिति में देशवासियों के सामने धार्मिक तथा अध्यात्मिक सांत्वना को छोड़कर और कोई चारा नहीं रह गया था। यही कारण था कि ब्रिटेन की प्रचंड राजनीतिक शक्ति तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, रामकृष्ण आंदोलन आदि का उदय हुआ। अतः निश्चित रूप से ईसाइयत के एकेश्वरवाद, दैवी धार्मिकता, ईश्वर के पितृत्व तथा आध्यात्मिक अराधना तथा प्रेम के आदर्श आदि धारणाओं का आधुनिक भारतीय चिंतन पर प्रभाव पड़ा है। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती और रामकृष्ण परमहंस ने धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण का सुत्रपात किया। इसलिए डॉ. जाकरिया ने कहा है कि "भारत की पुनर्जागृति मुख्यतया आध्यात्मिक थी। इसने राष्ट्र के राजनीतिक उद्धार के आंदोलन का रूप धारण करने से बहुत पहले अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधारों का सूत्रपात किया"।

1.1.4. भारतीय पुनर्जागरण का कारण

भारतीय पुनर्जागरण का प्रांरभ अंधकार युग के विरूध हुआ, पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के कारण भारतीयों ने पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य, दर्शन एवं इतिहास का अध्ययन किया जिससे उनका मानसिक क्षितिज बहुत व्यापक हो गया। पाश्चात्य संस्कृति तथा विचारों के आदान-प्रदान से भारतीयों में नवीन दृष्टिकोण पैदा हुआ। साथ ही ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मपरिवर्तन ने सोए हुए हिंदुओं को जगा दिया। विदेशी विद्वानों तथा साहित्यकारों ने भारतीयों के समक्ष उनकी प्राचीन संस्कृति, साहित्य और कला के महत्व को उपस्थित किया। भारतीय सुधारकों संतो तथा विद्वानों ने भी हिंदू धर्म के विशुद्ध रूप का विवेचन किया तथा उसके बाह्य आंडबर की भर्त्सना की। राजा राममोहन राय, केश्वचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द राणाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि सुधारकों ने हिंदु धर्म समाज तथा संस्कृत में सुधार लाने का सराहनीय प्रयत्न किया।

भारत में 19 वीं शताब्दी में धर्म और समाजसुधार की लहर दौड़ पड़ी थी। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, थियोसोफिकल सोसाईटी, रामकृष्ण मिशन आदि अनेक धर्मसुधार आंदोलनों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता का रूप बदल दिया तथा अनेक धार्मिक और सामाजिक कुप्रथाओं के विरूद्ध जेहाद बोल दिया। इन्हीं कारणों से भारतीय पुनर्जागरण की प्रक्रिया तीव्र होकर भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को जगाया तथा उन्हें अंधकार से निकालकर नए युग में लाया। इसीलिए महात्मा गांधी ने सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के कार्यक्रमों को राजनीतिक कार्यक्रमों से कहीं अधिक महत्व दिया।

1.1.5. भारतीय पुनर्जागरण का कारक

राजा राममोहन राय को पुनर्जागरण का 'सुबह का तारा' कहा जाता है, जकारिया की राय में उन्हें सुधारकों का 'आध्यात्मिक पिता' कहा जा सकता है। अनेकों विद्वानों ने तो उन्हें आधुनिक भारत का पिता तथा नए युग का अग्रदूत कहा है। आधुनिक भारत में राजनीतिक जागृति और धर्मसुधार का आध्यात्मिक आरंभ राजा राममोहन राय ने किया। वे एक युग प्रवर्तक के रूप में आए। भारतीय पुनर्जागरण के निर्माण में विभिन्न सुधार आंदोलनों की भूमिका उल्लेखनीय हैं, जो निम्न हैं-

1.1.5.1. ब्रह्म समाज

इस पुनर्जाग्रत नवीन भारत के निर्माण में जिन महान शक्तियों ने योग दिया उनमें ब्रह्म समाज का स्थान अग्रगण्य है। ब्रह्म समाज की स्थापना 23 जनवरी 1830 को हुई थी, यद्यपि उसने धर्म प्रचार का काम 1828 में ही आरंभ कर दिया था। इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म में सुधार लाकर उसके खोए हुए गौरव को पुनः वापस करना था। ब्रह्म समाज एक धार्मिक आंदोलन नहीं बल्कि एक समाजिक आंदोलन था, यह आंदोलन काफी व्यावहारिक तथा उपयोगी सिद्ध हुआ। इसके प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक सामाजिक कुरीतियों से हिंदू समाज को छुटकारा मिला। इस संस्था ने बंगाल में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथा सामाजिक कार्य किया तथा अनेक प्रकार से दीन-दुखियों की सेवा-सहायता की। देश के अन्य भागों में भी ब्रह्म समाज का प्रभाव पड़ा, राजा राममोहन राय, देवेन्द्र नाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन इसके मुख्य नेता थे।

1.1.5.2. प्रार्थना-समाज

ब्रह्म समाज के अलावा देश में अन्य धर्मसुधारक संगठन भी कायम हुए। महाराष्ट्र में 1849 ई. में परमहंस नामक एक आस्तिक समाज कायम हुआ, लेकिन वह शीघ्र ही समाप्त हो गया, पुनः 1867 ई. में डॉ. आत्माराम पांडुरंग ने एक संगठन की स्थापना की जिसे प्रार्थना-समाज कहते हैं, जिसके प्रमुख नेता पांडुरंग, गोपाल भंडारकर तथा गोविन्द राणाडे हुए। यह संगठन ब्रह्मसमाज का ही एक रूप था जो एक आस्तिकवादी समाज की स्थापना करना चाहता था, इसने विवेकपूर्ण पूजा और समाज सुधार पर जोर दिया, इसने जाति-प्रथा के अंत, विधवा-विवाह के प्रचलन, बाल-विवाह के निषेध तथा स्त्री-शिक्षा के प्रसार को अपना उद्देश्य बनाया, गोविन्द राणाडे के प्रयत्नों के फलस्वरूप विधवा-विवाह संघ तथा डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी की नींव पड़ी।

1.1.5.3. आर्य समाज

आर्य समाज भारत का सबसे शक्तिशाली धार्मिक तथा समाजिक आंदोलन रहा है, इसी समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द वेदों के अद्वितीय पण्डित शास्त्रार्थ समर के महासेनानी, प्रथम श्रेणी के न्यायिक और धार्मिक एकेश्वरवाद के महान उपद्रिष्ट थे, उन्होंने घोषणा की कि सब मनुष्यों को वेदाध्ययन का जन्मसिद्ध अधिकार है, यद्यपि आर्य समाज विशुद्ध वैदिक संस्कृति के पुनरूधार का समर्थन रहा है, तथापि उसने महान सेवा के बदौलत उत्तरी भारत की हिंदू जनता में गहरी जड़े जमा ली थीं। उसने डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर तथा गुरूकूल कांगड़ी की स्थापना करके शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है, स्वामी दयानंद राष्ट्रीय एकता में विश्वास रखते थे। उन्होने एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति का प्रचार किया, ऐनी बेसेंट के अनुसार, दयानंद राष्ट्रीय एकता में विश्वास रखते थे। ऐनी बेसेंट के अनुसार, दयानंद पहले व्यक्ति थे जिन्होने कहा कि भारत भारतीयों के लिए है। उनके बाद लाला लाजपत राय तथा स्वामी श्रद्धानंद जैसे महान नेताओं ने आर्यसमाज की बागडोर सँभाली। आज भी वह संगठन एक महत्वपूर्ण धर्मसुधारक संस्था का काम कर रहा है।

1.1.5.4. थियोसोफिकल सोसाइटी

भारत के पुनर्जागरण में इसका भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है इसकी स्थापना 1875 में न्यूयार्क में हुई थी। इस सोसाइटी का प्रारंभिक उद्देश्य सृष्टि मनुष्य की प्रकृति आदि का पता लगाना तथा उसके अनुसार जीवन-प्रणाली का प्रचार करना था। इसका संबंध हिंदू धर्म से नहीं था, बल्कि यह एक विश्वधर्म था जिसका आदर्श विश्वबंधुत्व था। यह संस्था सभी धर्मो का मूलश्रोत एक ही मानती थी। विचारों की

विशालता तथा उदारता के कारण यह संस्था भारत में काफी लोकप्रिय हुई। इससे ईसाई धर्म के प्रचारकों को गहरा धक्का लगा, भारत में थियोसोफिकल आंदोलन को सफल बनाने का श्रेय एनी बेसेंट को है। उन्होने वेदों और उपनिषदों पर अपना विश्वास प्रकट किया, हिंदू संस्कृति को पश्चिमी सभ्यता के मुकाबले श्रेष्ठ घोषित किया और मूर्ति-पूजा का समर्थन किया।

1.1.5.5. रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस के पूर्ववर्ती धर्म सुधारकों ने केवल हिंदू धर्म की कुप्रथाओं को दूर कर उसे ईसाई धर्म और पाश्चात्य विचारों से बचाने का प्रयास किया था। उन्होनें भक्ति और श्रद्धा को कोई महत्व नहीं दिया जबकि हिंदू धर्म में इनका बहुत स्थान है। रामकृष्ण परमहंस ने इस कमी को दूर किया। उन्होने हिंदू समाज को एक गहरी आध्यात्मिकता से परिपूर्ण आदर्श जीवन तथा उदार एवं समन्वित दृष्टिकोण दिया, वे एक महान मानवतावादी भी थे। उन्होनें दरिद्रों और अपाहिजों की सेवा में अपना सारा जीवन बिताया। उनके शिष्यों ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर उनके संदेश का प्रचार किया तथा मानवता की सेवा की।

स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण परमहंस के महान शिष्य थे। उनपर गुरू का काफी प्रभाव पड़ा। उन्होनें गूढ़ रहस्यों का चिंतन किया, उन्होंने 1893 ई. में शिकागो के धर्म सम्मेलन में सक्रिय भाग लिया और अपने पांडित्य का परिचय दिया। उन्होने सम्मेलन में घोषणा की कि वेदांत संसार का भव्य, व्यापक तथा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, इसका प्रधान उद्देश्य रामकृष्ण के सिद्धांतों को चारों ओर फैलाना है। इसकी शाखाएँ पूरे भारत में और विदेश में भी खुली हुई है। यह संस्था सेवा तथा परोपकार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। रामकृष्ण मिशन का आधार रामकृष्ण परमहंस के सिद्धांत है, जिन्हें स्वामी विवेकाननद ने विकसित किया।

1.1.5.6. अन्य संप्रदायों का सुधार आंदोलन

हिंदू धर्म की भाँति मुस्लिम धर्म का भी 19 वीं शताब्दी में ह्रास हो चुका था। मुस्लिम समाज में भी अंधविश्वास तथा पाखंड का बोलबाला हो गया था। अतः मुस्लिम समाज की धार्मिक और समाजिक कुरीतियों को दूर करने के उद्देश्य से कई आंदोलन शुरू हुए, जिसमें बेहाबी तथा अहमदी आंदोलन महत्वपूर्ण है। सैयद अहमद खाँ इसके प्रमुख नेता थे, जो मुस्लिम समाज के महान सुधारक समझे जाते है। इन्होंने अलीगढ़ में एक कॉलेज की स्थापना कर मुस्लिम विश्वविद्यालय की नींव डाली और भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया, उसी तरह सिख धर्म में भी बुराईयाँ घुस आई थीं। गुरूद्वारों में भ्रष्टाचार व्याप्त था। इसे दूर करने के लिए शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक समिति की स्थापना की गई, सिखों में शिक्षा के प्रचार के लिए देश भर में स्कूल तथा कॉलेज खोले गए, जिसमें अमृतसर का खालसा कॉलेज विख्यात हैं।

पारसी धर्म भी सुधारवादी आंदोलनों से अछूता न रहा। इसके धर्मसुधारकों में दादाभाई नौरोजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 1851 ई. में पारसियों की रहनुमाई मजदायसन सभा नामक संगठन की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य पारसी धर्म को पुनर्जीवित करना तथा समाज में सुधार लाना था, 1900 ई. में धर्मसुधार के उद्देश्य से पारसियों का एक सम्मेलन हुआ, पारसी सुधारकों ने जरथुष्ट धर्म को पुनर्जागृत किया तथा इसमें अनेक सुधार लाए। परंतु अन्य धर्मो की भाँति ईसाई धर्म में सुधार आंदोलन नहीं चलाया गया, क्योंकि भारत में ईसाई पादरियों का ध्यान धर्म के प्रचार की ओर था, आज भी मिशनरी लोग धर्म प्रचार एवं समाजसुधार के कार्य में लगे हुए है।

1.1.6. भारतीय पुनर्जागरण का प्रभाव

वस्तुतः भारतीय पुनर्जागरण का प्रादुर्भाव धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में हुआ, इस विराट आंदोलन के पीछे शताब्दियों का इतिहास है। भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप विदेशी राजनीतिक शक्ति के आघात के विरूद्ध बचाव की व्यवस्था के रूप में देश की प्राचीन संस्कृतियाँ पुनः सचेत तथा सचेष्ट हो उठीं तथा अपने अस्तित्व को पुनः आग्रहपूर्वक जताने लगीं प्राचीन ग्रंथों का नए मानवतावादी तथा सर्वराष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया जाने लगा। प्रायः प्राचीन धर्मशास्त्रों में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांतों का बीज ढूँढ़ निकालने का भी प्रयत्न किया गया। उत्तर भारत तथा मद्रास प्रांत में पुनर्जागरण का रूप मुख्यतः आध्यात्मिक तथा धार्मिक था, किंतु पश्चिमी भारत में पुनर्जागरण मुख्य रूप से भारतीयों को अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की महानता तथा वैभव का ज्ञान हुआ, इसने सोए हुए भारतीयों को जगा दिया।

1.1.7. योगदान

भारतीय पुनर्जागरण आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बंकिमचन्द्र चटर्जी बंगाल के पुनर्जागरण आंदोलन के एक प्रमुख नायक थे। उन्होने 1872 ई. में 'बंग-दर्शन' की स्थापना की, वे बंगला की राजनीतिक एकता के संस्थापक थे। विष्णु कृष्ण चिपलूणकर एक महान लेखक थे और अपने को मराठी भाषा का शिवाजी कहा करते थे, उन्होनें पाश्चात्य शिक्षा की प्रशंसा की परंतु महाराष्ट्र की संस्थाओं परंपराओं और संस्कृतिक से गहरा प्रेम होने के कारण उन्होंने पश्चिम का जानबूझकर तथा अविकल रूप से अनुकरण करने पर अतिशय बल देने वालों का विरोध किया। साथ ही उन्होंने महाराष्ट्र की जनता की अंतर्निहित देश-भक्ति की भावना को जागृत कर तीव्र कर दिया। महाराष्ट्र में उनका वही स्थान था जो बंकिमचन्द्र चटर्जी का बंगाल में था, इसके अतिरिक्त हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास ने भी आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद के उत्कर्ष में एक आधारभूत तत्व का काम किया है। समाचार पत्रों के उदय ने भारत में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारत के राष्ट्रवादियों की एक माँग यह थी कि ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं एवं अन्य नियत्रंणकारी संस्थाओं में भारतीयों को अधिक से अधिक प्रविष्टि किया जाए। इसके लिए 1833 ई. के अधिकार-पत्र की दुहाई दी गई। फलस्वरूप रानी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा में विधि के समक्ष समता, प्रतिभा के अनुसार नौकरी, धार्मिक सहिष्णुता तथा धार्मिक स्वतंत्रता का राज्य की नीति के रूप में प्रतिवादन किया गया। इस बात की माँग उतरोत्तर बढ़ती गई कि देश में ब्रिटेन की तरह ही प्रतिनिधि राजनीति-संस्थाओं को स्थापित किया जाय। इस प्रकार 1885 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना आधुनिक भारत के राष्ट्रवाद तथा स्वतंत्रता के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। कांग्रेस की उत्पत्ति लॉर्ड डफरिन की एक विचारपूर्ण योजना के अंग के रूप में हुई। वह भारतीय जनता को अपनी वास्तविक इच्छाओं को अधिकृत रूप से अभिव्यक्त करने का अवसर देना चाहते थे, उन्होने अपने विचार भारत सरकार के एक भूतपूर्व सचिव ए.ओ. हयूम के समक्ष रखे और वही हयूम भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रमुख संस्थापक बने। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण कांग्रेस की स्थापना का कारण बना और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को दिशा दिया।

1.1.8. सारांश

भारतीय पुनर्जागरण आधुनिक सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन का आधार है। पुनर्जागरण तथा धर्म-सुधार के प्रभाव के कारण मध्ययुग के सर्वभौमता के आदर्श का ह्रास हुआ और राष्ट्रवाद की विजय हुई, इससे राष्ट्रीय जागरण हुआ, लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई, जिसके फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई और राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात हुआ, सच तो यही है कि जब किसी देश की विभिन्न कोटि के नागरिकों के बीच राष्ट्रीय अस्मिता की चेतना आ जाती है तथा जब वे राष्ट्र की राजनीतिक एकता तथा स्वतंत्रता के विषय में सचेत हो जाते हैं, तब उन्हें हम राष्ट्रीय जागरण की स्थिति में पाते हैं, 18 वीं तथा 19 वीं सदी में राष्ट्रीय जागरण का उद्भव हम विभिन्न देशों में पाते हैं। परंतु भारत में 19 वीं शताब्दी के मध्य तथा उत्तरार्ध को जागरण का युग कहा जाता है जिसके कारण ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन मजबूत एवं प्रभावी हुआ और अंततः भारत को विदेशी सत्ता से स्वतंत्रता मिली, भारतीय पुनर्जागरण के पीछे शताब्दियों का इतिहास है।

1.1.9. पारिभाषिक शब्दावली

(1) पुनर्जागरण - फिर से जागना
(2) अनुसंधान - खोज
(3) एकेश्वरवाद - एक ही ईश्वर में विश्वास एंव विचार
(4) आस्तिकवादी - ईश्वर में विश्वास एवं प्रचार-प्रसार
(5) पुनरूद्धार - फिर से उद्धार
(6) विश्वबंधुत्व - सारे जहाँ को अपना मानना

1.1.10. बोध प्रश्न

1. किन्हें पुनर्जागरण का 'सुबह का तारा' कहा जाता है?
   (क) केशवचन्द्र सेन को (ख) राजा राममोहन राय को
   (ग) स्वामी विवेकानन्द को (घ) रामकृष्ण परमहंस को
2. आर्य समाज के संस्थापक थे।
   (क) स्वामी दयानन्द सरस्वती (ख) स्वामी विवेकानन्द
   (ग) लोकमान्य तिलक (घ) ए.ओ. हयूम
3. ब्रह्म समाज के संस्थापक थे।
   (क) स्वामी विवेकानन्द (ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती
   (ग) राजा राममोहन राय (घ) इनमें से काई नहीं
4. 'वेदों की ओर लौटने' का नारा किसने दिया था?
   (क) रामकृष्ण परमहंस (ख) महादेव गोविन्द राणाडे
   (ग) स्वामी विवेकानन्द (घ) स्वामी दयानन्द सरस्वती
5. आर्य समाज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य क्या था?
   (क) परंपरागत वर्ण-व्यवस्था की पुर्नस्थापना
   (ख) मुसलमानों को पुनः हिंदू धर्म ग्रहण करने की प्रेरणा देना

(ग) गोरक्षा (घ) विधवा विवाह का विरोध करना

उत्तर- 1 (ख), 2 (क), 3 (ग), 4 (घ), 5 (ख)

1.1.10.1. लघु उत्तरीय प्रश्न-

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पनी लिखिए-

1. बह्म समाज 2. आर्य समाज 3. रामकृष्ण मिशन
4. थियोसोफिकल सोसाइटी 5. प्रार्थना समाज

1.1.10.2. दीर्घउत्तरीय प्रश्न-

1. भारतीय पुनर्जागरण के कारण को स्पष्ट करें।
2. भारतीय पुनर्जागरण से क्या समझते है? उसे प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या करें।
3. भारतीय पुनर्जागरण से ही राष्ट्रीय जागरण हुआ विवेचना करें।
4. भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में भारतीय पुनर्जागरण के योगदान को स्पष्ट करें।
5. भारतीय पुनर्जागरण के अग्रणी नेताओं के कृतित्व पर प्रकाश डालें।

1.1.11. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. वर्मा डॉ0 बी0 पी0 आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशन आगरा-3 1982 पृष्ठ स0 1-13
2. सिंह बीरकेश्वर प्रसाद, राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारतीय शासन, भारती भवन, पटना, 1997 पृष्ठ-5-19
3. रोलॉ रोम्यां, 'विवेकानन्द की जीवनी और सार्वदेशिक उपदेश' मूल फ्रांसीसी से अनुवादक डॉ0 मैलकम स्मिथ, मायावती, अल्मोड़ा, हिमालय, 1953, पृ0-26.
4. फर्कुहर जे0 एन0 द्वारा उध्दृत, 'माडर्न रिलिजस मूवमेंट इन इंडिया', (लन्दन, मैकमिलन, 1929) पृ0-202.
5. विवेकानन्द ग्रन्थावली, मायावती स्मारक संस्करण, (मायावती, अल्मोड़ा, 1945) जिल्द 4, पृ0-181.
6. रोलॉ रोम्यां ''दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण'', मूल फ्रांसीसी से अनुवादक डॉ0 मेलकम स्मिथ (अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, 1947), पृ0-84

इकाई-2 : राजा राममोहन राय

इकाई की रूपरेखा

1.2.1. उद्देश्य
1.2.2. जीवन परिचय
1.2.3. राजा राममोहन राय की प्रमुख रचनाएँ
1.2.4. राजा राममोहन राय के चिंतन की आध्यात्मिक आधारशीला
1.2.5. राजा राममोहन राय के राजनीतिक विचार
1.2.5.1. वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का सिद्धांत
1.2.5.2. न्यायिक व्यवस्था
1.2.5.3. मानवतावाद और विश्व भ्रातृत्व
1.2.5.4. अंतरराष्ट्रीयतावाद
1.2.5.5. शासन का व्यापक कार्यक्षेत्र
1.2.5.6. विधि संबंधी धारणा
1.2.5.7. भारत में यूरोप निवासियों का आवास
1.2.5.8. प्रेस की स्वतंत्रता
1.2.5.9. अंग्रेजी शासन भारत के लिए लाभदायक
1.2.6. राजा राममोहन राय के सामाजिक विचार
1.2.6.1. मूर्ति पूजा का विरोध
1.2.6.2. सती प्रथा का विरोध
1.2.6.3. नारी शिक्षा एवं नारी स्वतंत्रता के समर्थक
1.2.6.4. जाति प्रथा का विरोध
1.2.7. राजा राममोहन राय के धार्मिक विचार
1.2.8. राजा राममोहन राय के आर्थिक विचार
1.2.8.1. भारत की राजस्व प्रणाली तथा किसान
1.2.8.2. ब्रिटिश नागरिकों का भारत में उपनिवेश
1.2.8.3.निर्बाध व्यापार
1.2.9. राजा राममोहन राय के शिक्षा संबंधी विचार
1.2.10. कानून एवं नैतिकता से संबंधित विचार
1.2.11. योगदान
1.2.12. सारांश
1.2.13. पारिभाषिक शब्दावली
1.2.14. बोध प्रश्न
1.2.15. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1.2.1. उद्देश्य-

1. राजा राम मोहन राय की जीवनी को समझ सकेंगे।
2. राजा राम मोहन राय के धार्मिक विचार को समझ सकेंगे।
3. राजा राम मोहन राय के राजनीतिक विचार को समझ सकेंगे।
4. राजा राम मोहन राय के आर्थिक विचार को समझ सकेंगे।
5. राजा राम मोहन राय के कानून और नैतिकता के संबंध में जान सकेंगे।
6. राजा राम मोहन राय के शिक्षा संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
7. भारतीय इतिहास में राजा राममोहन राय के योगदान को समझ सकेंगे।
8. राजा राममोहन राय के विचारों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

1.2.2. जीवन परिचय

राजा राममोहन राय को आधुनिक भारतीय राजनीतिक और सामाजिक चिंतन का जन्मदाता कहा जाता है। उन्होंने हमें आधुनिकता की राह दिखाई। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु व्यावहारिक विकल्प प्रस्तुत किए, यही कारण है कि उन्हें आधुनिक सामाजिक राजनीतिक चिंतन का जन्मदाता कहा जाता है। वे ब्रह्म-समाज के संस्थापक, भारतीय भाषाई प्रेस के प्रवर्तक, जन जागरण और सामाजिक सुधार आंदोलन के प्रणेता तथा बंगाल के नवजागरण युग के पितामह थे। राजा राममोहन राय ने तत्कालीन भारतीय समाज की कट्टरता रुढ़िवादिता और अंधविश्वासों को दूर करके उसे आधुनिक बनाने का प्रयास किया। वे न केवल आधुनिक भारत के प्रवर्तक थे अपितु उन्होंने सृजनात्मक सुधारवाद की नींव रखते हुए अकर्मण्यता भाग्यवाद, विघटन आदि के विरोध में प्रबल आवाज उठाई और देश की विघटित सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को झकझोर दिया। उन्होंने सदियों से सुषप्त भारत में नए जीवन का संचार किया। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शब्दों में- ''राजा राममोहन राय ने हमें आधुनिकता की राह दिखाई। उनकी प्रतिभा में रचनात्मक सजीवता होने के कारण उन्होंने अतीत एवं समकालीन दोनों संस्कृति के सर्वोत्तम गुणों को आत्मसात किया था। उनका चिंतन कोरा कल्पनावादी नहीं था बल्कि उन्होंने सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु व्यावहारिक विकल्प प्रस्तुत किया और यही कारण है कि उन्हें सामाजिक और राजनीतिक चिंतन का जनक कहा जाता है। एक समाज सुधारक, धार्मिक सुधारक, राजनीतिक विचारक और शिक्षाविद् के रूप में उन्होंने देश की समस्याओं के लगभग सभी पहलुओं को छुआ और उनके समाधान प्रस्तुत किए।''

राजा राममोहन राय का जन्म 22 मई, 1772 ई. को बंगाल के हुगली जिला के राधानगर ग्राम में हुआ था। उनका परिवार पुराने विचारों से संपन्न एक बंगाली ब्राह्मण परिवार था। उन्होंने अपने जीवन में अरबी, संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, ग्रीक, आदि भाषाओं का अध्ययन किया। हिंदू, इसाई, इस्लाम एवं सुफी धर्म का उन्होंने गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया। वे मूर्ति पूजा के घोर विरोधी थे तथा अंग्रेजी भाषा और सभ्यता से काफी प्रभावित थे। धर्म और समाज का सुधार उनका मुख्य लक्ष्य था। उन्होंने इंग्लैंड की भी यात्रा की। वे ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे तथा सभी प्रकार के धार्मिक अंधविश्वास एवं कर्मकांड के विरोधी थे। अपने विचारों को उन्होंने लेखों और पुस्तकों में प्रकाशित करवाया। उन्होंने बाल-विवाह और सत्ती-प्रथा का घोर विरोध किया तथा विधवा विवाह का समर्थन किया। उन्होंने उदारतावाद, तर्कवाद तथा

आधुनिकतावाद का वातावरण तैयार किया जिन्होंने भारतीय चिंतन में क्रांति उत्पन्न कर दी। जीवन भर अपने विचारों का समर्थन करते रहे, उनके प्रचार के लिए उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना की।

राजा राममोहन राय बाल्यकाल से ही प्रतिभा के धनी थे। 1809 से 1814 तक उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी की। 1815 में वे कोलकाता में जातीय सभा की स्थापना की एवं 'ब्रह्मपुत्र' का बंगला में अनुवाद प्रकाशित किया। 1818 में उन्होंने सती-प्रथा के उन्मूलन के आंदोलन शुरू किया परिणामस्वरूप 1829 में तत्कालीन गवर्नर जनरल विलियम बैंटिग ने कानून द्वारा सती-प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना उनके जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। उन्होंने तर्कवाद और आधुनिकता का वह वातावरण तैयार किया जिसने भारतीय चिंतन में क्रांति उत्पन्न कर दी। 15 नवंबर, 1920 को वे जहाज द्वारा इंग्लैंड गए। इंग्लैंड में प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक और विधि सुधारक वेंथम से उनकी मित्रता हुई एवं ब्रिटिश सम्राट ने उनका सम्मान किया। 20 सितंबर, 1923 को ब्रिस्टल में उनका स्वर्गवास हो गया।

1.2.3. राजा राममोहन राय की प्रमुख रचनाएँ

राजा राम मोहन राय की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. हिंदू उत्तराधिकार कानून के अनुसार महिलाओं के प्राचीन अधिकारों पर कतिपय आधुनिक अतिक्रमण संबंधी संक्षिप्त टिपणियाँ (1822)।
2. प्रेस नियमन के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय एवं सम्राट को याचिका (1823)।
3. अंग्रेजी शिक्षा पर लार्ड के नाम एक पत्र (1823)।
4. ईसाई जनता के नाम अंतिम अपील (1825)।
5. भारत की न्यायिक एवं राजस्व व्यवस्था आदि पर प्रश्नोत्तर (1832)।
6. यूरोपवासियों को भारत में बसाने संबंधी विचार (1831)।

राजा राममोहन राय अपनी रचनाओं में राजनीतिक समस्याओं के व्यावहारिक समाधान के लिए ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया। उनके अभिमत में गजनी तथा गोरी ने राजपूतों की आंतरिक कलह का लाभ उठाकर भारतीयों को पराधीन कर दिया। उनके अनुसार निरंकुशता के अलावा भारतीय नरेशों की आपसी फूट तथा कायरता, युद्ध कौशल की कमी तथा जनता में देशभक्ति के अभाव ने भारत को अहिंसा के मार्ग की ओर प्राप्त कर गुलामी की बेड़ियों से जकड़ लिया। राजा राममोहन राय न केवल भारतीय इतिहास के ज्ञाता थे, वरन् यूरोप के इतिहास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। उनकी समस्त रचनाओं में यह ऐतिहासिक अनुभव और दृष्टी परिलक्षित होती है।

1.2.4. राजा राममोहन राय के चिंतन की आध्यात्मिक आधारशीला

राजा राममोहन राय एकेश्वरवादी थे। ईश्वरत्व की एकता उनके दर्शन का केंद्रीय सिद्धांत था। उन्हें आत्मा के अमरत्व में विश्वास था। उनके चिंतन में प्राकृतिक धर्म के तत्व भी देखने को मिलते हैं। वे सांप्रदायिकता, अंधविश्वास तथा मूर्ति पूजा के घोर शत्रु थे और एकेश्वरवाद के उत्साही समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म ओर विश्वास व्यक्ति पर हावी नहीं होना चाहिए। उन्होंने एक सर्वशक्तिमान तथा अनंत शिवत्व में पूर्ण सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने स्वयं को एक ऐसे विश्व धर्म के प्रतिपादक के रूप में प्रस्तुत किया जो संप्रदाय और परंपरा के समस्त अस्वस्थ बंधनों को स्वीकार करता है। के.पी.

करूणाकरण के शब्दों में- "राजा राममोहन राय के आध्यात्मिक और धार्मिक अध्ययन ने उन्हें नए धर्म में परिवर्तित हीं नहीं किया बल्कि एक विश्वधर्म के मानने वाले तथा उनके दृष्टिकोण में विश्व की व्यापकता समाहित हो गई।" राजा राममोहन राय ने उपनिषदों के आध्यात्मिक एकत्ववाद के तात्विक सिद्धांत को स्वीकार किया। हिंदू धर्म ग्रंथों के ब्रह्म ज्ञान और इस्लाम के एकेश्वरवाद ने उनके विचारों को पूर्ण करने में अटूट भूमिका निभाई थी। कुरान के तौहीद (इश्वर एकता) के माध्यम से राजा राममोहन राय ने हिंदुओं के बहुदेववादी विचारों का खंडन किया। 1816 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'वेदांतसार' में उस समय प्रचलित बहुईश्वरवादी तथा कर्मकांड ग्रस्त धर्म के स्थान पर वेदांतीय एकेश्वरवाद को अपनाने पर बल दिया गया। उनके चिंतन में प्राकृतिक धर्म के तत्व भी देखने को मिलते हैं। उन्हें अमरत्व में विश्वास था। उन्होंने नास्तिकता को प्रोत्साहन न देकर विश्वास के स्थान पर विवेकी सृजन का समर्थक किया। व्यक्ति की गरिमा में उन्हें असीम विश्वास था। अतः उनकी मान्यता थी कि धर्म और विश्वास व्यक्ति पर हावी नहीं होना चाहिए। रामानुज की भाँति उन्होंने द्रव्य को सगुण माना है तथा सिनोजा की तरह वे द्रव्य की संकल्पना में विश्वास करते थे।

1.2.5. राजा राममोहन राय के राजनीतिक विचार

राजा राममोहन राय पुनर्जागरण के अग्रदूत थे। उन्हें आधुनिक भारतीय राजनीतिक का प्रवर्तक माना जाता है। उग्रवादीदल के नेता विपिनचन्द्र पाल के अनुसार- "राजा राममोहन राय पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की स्वतंत्रता के विचारों का संदेश प्रसारित किया।" यद्यपि वे इस बात से सुपरिचित थे कि ब्रिटिश शासन भारत के भौतिक, नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सर्वांगिक विकास के लिए वांछनीय और अनावश्यक था तथापि वे सदैव यह स्वप्न संजोए रहे कि भारतवर्ष एक दिन स्वतंत्र होगा और अपने भाग्य का निर्माण करेगा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन्हें "भारत में संवैधानिक आंदोलन का जनक कहा है।" 1819 में 'संवाद कौमुदी'पत्रिका के माध्यम से वर्षों से सुषुप्त राजनीतिक चिंतन को नई दिशा दी तथा इसके माध्यम से भारतीयों के प्रारंभिक राजनीतिक अधिकारों की माँग प्रस्तुत की। उस युग में न कोई राजनीतिक जीवन था और न ही कोई विदेशी हुकुमत के सामने अपनी शिकायतें रखने की बात सोंचता था। ऐसे युग में राजा रामामोहन राय ने ओजपूर्ण राजनीतिक विचार व्यक्त कर अपने राजनीतिक आंदोलन को शासन सत्ता के केंद्र तक ले गए। हालाँकि वे गोखले, तिलक और बनर्जी की भाँति कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे तथापि देश-विदेश की राजनीति में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। उन्हें इंग्लैंड की राजनीति का अच्छा ज्ञान था। भारत में सामाजिक और राजनीतिक नवचेतना जगाने के कारण ही उन्हें नवीन भारत का संदेशवाहक कहा जाता है। उनके कुछ प्रमुख राजनीतिक विचार इस प्रकार हैं-

1.2.5.1. वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का सिद्धांत

राजा राममोहन राय वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा अधिकारों के प्रबल समर्थक थे। जॉन लॉक तथा टॉमस पेन की भाँति उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों की पवित्रता को स्वीकार किया। जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति धारण करने के प्राकृतिक अधिकारों के साथ-साथ उन्होंने व्यक्ति के नैतिक अधिकारों का भी समर्थन किया। किंतु उन्होंने अपने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को सामाजिक हित के ढाँचे में ढालकर उग्र व्यक्तिवादी चिंतक के बजाए समाजवादी दार्शनिक की झलक प्रस्तुत की। अधिकारों तथा स्वतंत्रता की व्यक्तिवादी अवधारणा का समर्थन करते हुए भी आग्रह किया कि राज्य को समाज सुधार तथा शैक्षिक पुनर्निर्माण के लिए विधि निर्माण करना चाहिए। वे चाहते थे कि राज्य को निर्बल तथा असहाय

व्यक्तियों की रक्षा करनी चाहिए। राज्य का कर्तव्य है कि जनता की सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक और राजनीतिक दशाओं में सुधार के लिए प्रयत्न करे। राष्ट्रीय स्वाधीनता के संदर्भ में उनकी आकांक्षा और निष्ठा को इंगित करते हुए विपिनचन्द्र पाल ने लिखा है- "राजा राममोहन राय ही वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की स्वतंत्रता का संदेश प्रसारित किया।" वाल्टेयर, मान्टेस्क्यू तथा रूसो की भाँति उन्हें स्वतंत्रता के सिद्धांत से उत्कट प्रेम था। उन्हें स्वतंत्रता की माँग से गहरी सहानुभूति थी चाहे वह विश्व के किसी भी भाग से क्यों न उठी हो।

राजा राममोहन राय वैयक्तिक स्वतंत्रता के महान समर्थक थे। वे स्वतंत्रता को मनुष्य का अमूल्य धन मानते थे। किंतु उनका मत था कि स्वतंत्रता राष्ट्र के लिए भी आवश्यक होती है। उन्हें यूनानियों तथा नेपिल्सवासियों की स्वतंत्रता की माँग से सहानुभूति थी। 1820 में नेपिल्स में पुनः स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना होने से राजा राममोहन राय को काफी क्षोभ हुआ। 1821 में उन्होंने 'कलकत्ता जर्नल' पत्रिका के माध्यम से संपादक जे.एस. वकिंघम को एक पत्र लिखा और विश्वास प्रगट किया कि अंततोगत्वा यूरोपीय राज्य तथा एशियाई उपनिवेश निश्चय ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर लेंगे।

राजा राममोहन राय सृजनात्मक आत्मा की अविचल स्वतंत्रता के मूल्य को भली-भाँती समझते थे। वे देश की जनता में प्रबल तथा दुर्दम्य आत्मविश्वास जागृत करना चाहते थे। वे अंधविश्वास तथा अविवेक के घोर विरोधी थे। वे अंग्रेज जाति के समर्थक थे। उनका मानना था कि अंग्रेज स्वयं नागरिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग नहीं करके अपने अधीनस्थ देशों में भी स्वतंत्रता, सामाजिक सुख तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन देते हैं। भारतीय स्वतंत्रता को राजा राममोहन राय की देन का मूल्यांकन करते हुए विपिनचन्द्र पाल लिखते हैं कि "राजा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता का संदेश दिया। उनके लिए यह सहन करना कठिन था कि विदेशी जाति उनके देश पर अपना आधिपत्य जमा ले। इसलिए 20 वर्ष से कम ही आयु में वे देश छोड़कर तिब्बत की यात्रा पर चले गए। बाद में जब ब्रिटिश जाति की संस्कृति तथा चरित्र से उनका परिचय हुआ तो उन्हें लगा कि अंग्रेज अधिक बुद्धिमान तथा आचरण में उनसे अधिक सुदृढ़ तथा संयत है। इसलिए राजा का झुकाव उनके पक्ष में हो गया।" किंतु वे इस बात से सहमत नहीं थे कि भारतीय जनता के उद्धार के लिए देश का अनंतकाल तक ब्रिटिश शासन के अंतर्गत रहना आवश्यक है। इंग्लैंड की लोक सभा की प्रवर समिति के समक्ष उन्होंने जो विस्तृत साक्ष्य प्रस्तुत किया उसमें उन्होंने सुधार की वह दिशा इंगित कर दी थी जो इंग्लैंड को भारत में अपना नैतिक कार्य पूरा करने में सहायता दे सकेगी।

1.2.5.2. न्यायिक व्यवस्था

राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने शासन और न्याय विभाग को पृथक करने की आवाज उठाई। उन्होंने अनुरोध किया कि भारत में सेवा करने वाले दंडनायकों के न्यायिक और प्रशासनिक कार्यों को पृथक कर दिया जाए। उन्होंने न्यायालयों के सुधार, जूरी-प्रथा, कार्यकारी तथा न्यायिक पदों का पृथक्ककरण, विधि का संहिताकरण, विधि-निर्माण में जनता से परामर्श करना, रैयत की दशा का सुधार तथा रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण तथा स्थायी भूमि के प्रबंध पर जोर दिया। उन्होंने भारत में राजस्व एवं न्यायिक व्यवस्था नामक अपनी पुस्तक में निर्भिकता से न्यायिक व्यवस्था के स्वरूप के बारे में अपने विचार रखे।

राजा राममोहन राय असैनिक सेवाओं में अपरिपक्व व्यक्तियों की नियुक्ति के विरूद्ध थे। इसलिए उनका सुझाव था कि प्रसंविदाबद्ध सेवाओं में नियुक्ति के लिए न्यूनतम 22 वर्ष की आयु सीमा होना

चाहिए। प्रवर समिति के सम्मुख अपने साक्ष्य में उन्होंने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि न्याय अधिकारियों और जनता के बीच संवाद का माध्यम कोई एक ऐसी भाषा नहीं थी जिसे बोल तथा समझ सकते हैं, इससे भी उचित न्याय करने में बाधा पड़ती थी। इसके अतिरिक्त न्यायालयों की कार्यवाही की रिपोर्ट प्रकाशित करने के लिए सार्वजनिक समाचार पत्रों का भी अभाव था। उन्होंने यह भी कहा कि भारत के लोग पंचायत के रूप में जूरी द्वारा न्याय के सिद्धांत से भली-भाँति परिचित थे। उनकी दृष्टि में जूरी और पंचायत में लगभग थोड़ा ही अंतर है। उनका सुझाव था कि सेवानिवृत न्यायिक अधिकारी तथा अपने काम से अवकाश ले लेने वाले वकीलों को जूरियों का सदस्य चुना जा सकता है। वे एक भारतीय आपराधिक विधि संहिता तैयार करने के पक्ष में थे। वह ऐसे सिद्धांत पर आधारित थे जो देश की जनता के विभिन्न वर्गों में आमतौर पर प्रचलित हो और जिन्हें वे सब स्वीकार कर ले तथा वह संहिता सरल, शुद्ध एवं स्पष्ट हो। न्यायिक प्रशासन को आधार पर खड़ा करने के लिए विभिन्न सुझाव देने में उन्होंने शासकों और शासितों के हितों का ही केवल ध्यान रखा।

1.2.5.3. मानवतावाद और विश्वास भ्रातृत्व

राजा राममोहन राय मानवतावाद के प्रतिमूर्ति थे, विश्व भ्रातृत्व के उपासक थे और धार्मिक मत-मतांतरों से ऊपर उठकर सार्वभौम धर्म के चिंतक थे। राजा राममोहन राय की मान्यता थी कि संपूर्ण विश्व एक ही विशाल परिवार है और विभिन्न राष्ट्र तथा जाति के लोग इसकी भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। उन्होंने एक जैसे विश्व संगठन की कल्पना की थी जो राष्ट्रों के बीच मतभेदों को पंच फैसले द्वारा निपटाने के लिए भेजा जा सके। डॉ.वी.पी. वर्मा के शब्दों में "वे महान मानवतावादी और सार्वभौमिकतावादी थे और डेविड ह्यूम की भौति सार्वभौमिक सहानुभूति के सिद्धांत को मानते थे।"

स्वतंत्रता तथा अधिकारों के समर्थक होने के नाते राजा राममोहन राय महान मानवतावादी थे तथा सहयोग, सहिष्णुता और सहचर्य में विश्वास करते थे। वे चाहते थे कि मनुष्य की सहिष्णुता, सहानुभूति तथा बुद्धि पर आधारित समाज का निर्माण करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए। वे विश्व नागरिकता के प्रतिपादक तथा भ्रातृत्व और स्वतंत्रता के समर्थक थे। राजा राम मोहन राय तुलनात्मक धर्म अध्ययन आरंभ किया किंतु बाद में वे सार्वभौमिक धर्म की आवश्यकता की कल्पना करने लगे। अंत में वे आध्यात्मिक विश्लेषण की एक आधारभूत योजना आरंभ की और एक परमेश्वर की अराधना पर आधारित धार्मिक अनुभव की एकता पर बल दिया। वे सच्चे हृदय से व्यापक सहिष्णुता तथा मानव-प्रेम पंथ के अनुयायी थे। बैंथम राजा राममोहन राय के सार्वभौमिकतावाद और मानवतावाद की प्रशंसा किया करता था। एक पत्र में उसने उनको लिखा था "आपके कार्यकलाप से परिचय मुझे आपकी पुस्तक द्वारा हुआ। उसकी शैली ऐसी है कि यदि उसमें हिंदू नाम न जूड़ा होता तो मैं निश्चय ही यह समझता कि यह उच्च कोटि के शिक्षित और दीक्षित अंग्रेज द्वारा लिखी गई है.... ।" जेम्स मिल ने 'भारत का इतिहास' नामक महान रचना की प्रशंसा करते हुए कहा- "यद्यपि जहाँ तक शैली का संबंध है मेरी इच्छा होती है कि मैं हृदय से और ईमानदारी के साथ कह सकता हूँ कि वह आपकी शैली के समतुल्य है। राजा राममोहन राय ने ईश्वर के नैतिक व्यक्तित्व की धारणा के आधार पर सार्वभौम प्रेम के नैतिक आदर्श की स्थापना की।"

1.2.5.4. अंतरराष्ट्रीयतावाद

राजा राममोहन राय का अंतरराष्ट्रीयतावाद बहुत उँचे दर्जे का था। उनकी ईश्वर प्रार्थना में अंतरराष्ट्रीयतावाद की झलक मिलती है- "परमात्मा धर्म को ऐसा बना दे जो मनुष्य और मनुष्य के बीच

भेदों और घृणा को नष्ट करने वाला हो और मानवजाति की एकता तथा शांति का प्रेरक हो। साथ हीं वे यूरोपवासियों को भारत में बसने के पक्ष में थे, लेकिन केवल ऐसे लोगों को जो अपने उच्च ज्ञान एवं लोकनिष्ठा से भारतीयों के चरित्र को उन्नत कर सके।"

1.2.5.5. शासन का व्यापक कार्यक्षेत्र

राजा मोहन राय व्यक्तिवाद अथवा राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप के अनुगामी नहीं थे। उन्होंने शासन के कार्यक्षेत्र को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के विचार को अपना समर्थन दिया। वे कंपनी शासन को भारत की नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आर्थिक और शैक्षिक उन्नति के लिए प्रोत्साहन करना चाहते थे। उन्होंने शासन द्वारा धर्म सुधार के कार्य करने की भी अनुमति दे दी थी ताकि असत्य और अधार्मिक कृत्यों पर शासन अपना नियंत्रण स्थापित कर सके। उनके अनुसार भारत में प्रचलित अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवहार को शासन की आज्ञा से ही नियंत्रित एवं नियमित किया जा सकता है।

1.2.5.6. विधि संबंधी धारणा

राजा राम मोहन राय को विधिशास्त्र के संबंध में गहन ज्ञान था। उन्होंने विधि को रीति-रिवाजों एवं सामाजिक मान्यताओं से संबंधित माना है। उनके अनुसार विधि का आधार कालांतर से चली आ रही सामाजिक मान्यताएँ होती हैं, जो समय पाकर संप्रभु द्वारा विधि में हेर-फेर किया जा सकता है और वह मान्य भी है, किंतु वे मान्य विधियों में स्वेच्छा चारिताजन्य परिवर्तन के पक्षपाती नहीं थे। यदि प्रचलित विधि तर्कसम्मत है तथा कल्याणकारी है तो कोई कारण नहीं है कि उसकी मान्यता शासन द्वारा समाप्त कर दी जाए। यदि यह अन्यायपूर्ण है तो चाहे कितनी भी पुरानी मान्यता क्यों न हो वह निरस्त की जा सकती है। कानून और नैतिकता के संबंध में विचार करते हुए वे कहते हैं कि कुछ नैतिक नियम कानून से भी अधिक बाध्यकारी होते हैं तो कुछ कानून भी नैतिक नियम से अधिक प्रभावशाली होते हैं।

अंत में उन्होंने यह भी माना कि कानून चाहे नैतिक हो या न हो उसका पालन अवश्य होना चाहिए। उनका यह तर्क था कि भारत पर शासन करने की अंतिम संप्रभु शक्ति स-संसद में निहित है इसलिए वे चाहते थे कि स-संसद सम्राट ही भारत के लिए कानून पारित करे न कि गवर्नर-जनरल। उनका विचार था कि एक भारतीय अपराधिक विधि संहिता तैयार की जाए और वह ऐसे सिद्धांतों पर आधारित हो जो देश की जनता के विभिन्न वर्गों में आमतौर पर प्रचलित हो और जिन्हें वे सब स्वीकार कर ले। विधि संहिता जटिल न होकर स्पष्ट, सरल और जन-कल्याण की संरक्षिका होनी चाहिए।

1.2.5.7. भारत में यूरोप निवासियों का आवास

राजा राममोहन राय ने भारत में यूरोपवासियों के बसने का समर्थन किया। सन् 1932 में ब्रिटिश कॉमन सभा की प्रवर समिति ने भारत में यूरोपीय लोगों के बसने के प्रश्न पर राममोहन राय की राय माँगी। 1813 के चार्टर एक्ट के अनुसार यूरोपीयन भारत में भूमि खरीदकर बस नहीं सकते थे। राजा राम मोहन राय का विचार था कि यदि कुछ यूरोपीयन भारत में स्थायी रूप से रहकर कृषि कार्य या व्यापार करे तो भारत को इससे लाभ होगा क्योंकि यूरोपीय लोग अपनी पूँजी लगाकर वैज्ञानिक प्रणाली से व्यापार करेंगे जिससे देश के कृषि कार्य, खनिज, व्यापार, शिल्प कला आदि की उन्नति होगी। रोमा रोलाँ के शब्दों में- "राजा राममोहन राय यह तो कभी चाहते ही नहीं थे कि इंग्लैंड को भारत सें निकाल दिया जाय। अपितु उनकी इच्छा थी कि वह वहा इस प्रकार जम जाय कि उसका रक्त, उसका सोना, उसके विचार भारतवासियों के साथ मिल जाय।"

1.2.5.8. प्रेस की स्वतंत्रता

राजा राममोहन राय प्रेस की स्वतंत्रता के महान समर्थक थे। उनका पत्र 'सम्बाद कौमुदी' बंगला तथा अंग्रेजी भाषा में और दूसरा पत्र 'मिरात उल अखबार' फारसी भाषा में प्रकाशित होता था। वे समाचार पत्रों के निर्भिक और निष्पक्ष समीक्षा के पक्ष में थे। उनका कहना था कि चूँकि भारत की शासन व्यवस्था प्रतिनिधि शासन के सिद्धांत पर आधारित नहीं थी इसलिए ऐसी स्थिति में प्रेस की स्वतंत्रता आवश्यक थी ताकि इस माध्यम से वाद-विवाद की स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। उनका मानना था कि स्वतंत्र प्रेस से संसार के किसी भी भाग में क्रांति नहीं हो सकती क्योंकि इससे लोग स्थानीय अधिकारियों के आचरण से उत्पन्न होने वाले शिकायतों को सर्वोच्च सरकार के सम्मुख रख सकते हैं। अतः क्रांति के उभरने वाले असंतोष का आधार ही नहीं रह जाता। इसके विपरीत जब प्रेस स्वतंत्र नहीं रहता है तो वहाँ शिकायतों का न अभिभेदन किया जा सकता है और न उन्हें दूर कराया जा सकता है। ऐसी स्थिति में क्रांति उभरने की संभावना बढ़ जाती है। यदि उन्हें सरकार की शस्त्र-शक्ति से रोक दिया जाता है तो जनता सदैव विद्रोह करने के लिए तत्पर बनी रहती है।

प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए 1823 में हाइकोर्ट के सामने एक पेटीशन प्रस्तुत करके उन्होंने लिखित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की माँग की। उस समय समाचार-पत्र निकालने के लिए सरकार से लाइसेंस लेना पड़ता था। राजा राममोहन राय ने अपने कुछ साथियों के साथ मिलकर सर्वोच्च न्यायालय में प्रेस की स्वतंत्रता के लिये अपील की जो निष्फल रहा। फिर उन्होंने किंग-इन-कौंसिल में अपील की वो भी निष्फल रहा। उनका कहना था कि प्रेस की स्वतंत्रता शासक और शासित दोनों के लिये हितकर है। इससे शासक को अपनी शासन नीति के बारे जनता के विभिन्न विचारों का पता लग जाता है तथा जनता में ज्ञान का प्रसार होता है जिससे मानसिक विकास में सहायता मिलती है।

1.2.8.9. अंग्रेजी शासन भारत के लिए लाभदायक

राजा राममोहन राय को विश्वास था कि अंग्रेजी शासन भारत के लिए लाभदायक है और भविष्य में भी यह लाभदायक सिद्ध होगा। एक प्रबुद्ध राष्ट्र द्वारा शासित होने तथा उसके संपर्क में आने से होने वाले लाभों को वे भली-भाँति समझते थे। 15 नवंबर, 1823 में प्रकाशित शिव प्रसाद शर्मा के नाम एक लेख में लिखा- हम अपने गंभीर भक्ति भावना से अन्य वस्तुओं के साथ-साथ ईश्वर को भारत में अंग्रेजी शासन के वरदान के लिए प्रायः विनम्र धन्यवाद अर्पित किया करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह शासन आने वाली अनेक शताब्दियों तक अपनी कृपापूर्ण कार्य करता रहे। यह आश्चर्य की बात है जिसे यूनान तथा नेपिल्स की राजनीतिक स्वाधीनता में गहरी अभिरूचि थी वही व्यक्ति भारत में ब्रिटिश शासन को शताब्दियों तक कायम रखने की प्रार्थना करता है। राजा राममोहन राय बौद्धिक तथा सामाजिक मुक्ति के समर्थक थे और राजनीतिक स्वतंत्रता में भी उनका विश्वास था। जिस समय सिक्ख, मराठा स्वधीनता के लिए संघर्ष कर रहे थे, उसी समय आधुनिक भारत के जनक ब्रिटिश शासन का गुणगान कर रहे थे।

1.2.6. राजा राममोहन राय के सामाजिक विचार

राजा राममोहन राय एक महान समाज-सुधारक थे। उन्होंने सामाजिक पुनर्निर्माण एवं शिक्षा के क्षेत्र में उत्तम कार्य किया। उन्होंने तत्कालीन हिंदू समाज के दोषों का निरीक्षण करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों का जोरदार खंडन किया। उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना

कर सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध प्रचार प्रारंभ किया। इसलिए उन्हें भारतीय सामाजिक क्रांति का अग्रदूत कहा जाता है। अतः सामाजिक सुधार संबंधी उनके विचार निम्न है-

1.2.6.1. मूर्ति पूजा का विरोध

राजा राममोहन राय ने मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि मूर्तिपूजा हिंदुओं का कोई मौलिक अंग नहीं है। अपितु इसका चलन बाद में जाकर हुआ है। उनका कथन है कि उपनिषद्वाद में मूर्ति पूजा का कोई स्थान नहीं है। वे अद्वैतवाद की शिक्षा देते हैं। उनका दृष्टिकोण कठोर एकेश्वरवादी था। उन्होंने हिंदुओं के बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा की शत्रुतापूर्ण भर्त्सना की।

1.2.6.2. सती प्रथा का विरोध

राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे, जिन्होंने सती प्रथा के विरूद्ध आवाज उठाई। उनके विरोध के कारण ही 1929 में लॉर्ड विलियम वेंटिक ने सती-प्रथा को निषिद्ध घोषित कर दिया। उनकी दृष्टि में सती प्रथा या सहमरण शास्त्रसम्मत प्रथा नहीं है। उन्होंने इसे शास्त्र विकृत कुसंस्कार माना। सोफिया फॉलेट के शब्दों में- "राजा राममोहन राय ने हिंदू धर्मग्रंथों के अपने गंभीर ज्ञान के आधार पर यह प्रमाणित किया कि सती प्रथा धर्मसंगत नहीं थी। उन्होंने यह भी दिखाया कि स्वार्थी संबंधीजन किसी धार्मिक प्रेरणा से नहीं बल्कि विधवाओं के भरण-पोषण के खर्च से छुटकारा पाने के लिए इस प्रथा को जारी रखना चाहते थे।"

1.2.6.3. नारी-शिक्षा एवं नारी-स्वतंत्रता के समर्थक

राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के नारी स्वतंत्रता के अग्रदूत माने जा सकते हैं। राजा राममोहन राय ने नारी-शिक्षा, नारी स्वतंत्रता और नारी-अधिकार पर बड़ा बल दिया। तथा हिंदूवादी के साथ किया जाने वाला अन्याय और अत्याचार की कटु निंदा की। वे बहु-विवाह तथा सती प्रथा के घोर विरोधी थे। उन्होंने विधवा- विवाह, बाल-विवाह तथा प्रौढ़-विधवाओं के आत्म सम्मान का समर्थन किया। वे चाहते थे कि सरकार ऐसा नियम पारित करे जिससे पुरुष एक पत्नी रहते हुए दूसरा विवाह न कर सके। राजा राममोहन राय विधवा पुनर्विवाह तथ प्रौढ़ विधवाओं को शिक्षा के समर्थक थे ताकि प्रौढ़ विधवाएँ आत्मसम्मान का जीवन व्यतीत कर सके। वे भारतीय महिलाओं को लीलावती, गार्गी, मैत्रयी आदि के समान बनने की प्रेरणा देते थे।

1.2.6.4. जाति-प्रथा का विरोध

राजा राममोहन राय ने जाति-प्रथा का घोर विरोध किया और इसे हिंदू जाति का कलंक बताया। वे अंतर्जातीय विवाह के समर्थक थे। उन्होंने इस जाति व्यवस्था को हिंदू जाति का कलंक बताया। उनका विचार था कि जाति-प्रथा दोहरी कुरीति है। उसने असमानता पैदा की है और जनता को विभाजित किया है और उसे देशभक्ति की भावना से वंचित रखा है। शास्त्र का आधार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने शैव विवाह का समर्थन किया। जिसमें उम्र, वंश और जाति का बंधन नहीं होता।

इस प्रकार राजा राममोहन राय ने सामाजिक कुरीतियों और अन्याय की कटु भर्त्सना की और पारंपरावाद का खुलकर विरोध किया। बुद्धिवाद के माध्यम से वे सामाजिक बुराईयों का अंत करना चाहते थे। इस प्रकार उनकी तुलना फ्रेंच ज्ञानकोश के सह रचयिता दिदरों से की जा सकती है।

1.2.7. धार्मिक विचार

राजा राममोहन राय ने इस्लाम, हिंदू और इसाई धर्म से संबंधित ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। राजा राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों का ज्ञान प्राप्त कर उदारवादी बन गए। उन्होंने मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया और इसे समाज के लिए घातक बताया। वे एकेश्वरवादी थे। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और नैतिक उन्नति पर बल दिया। उन्होंने बहुलवाद का घोर विरोध कर एकत्ववाद का समर्थन किया। धार्मिक कट्टरता, संकीर्णता तथा अंधविश्वास के वे घोर विरोधी थे। फिर भी आत्मा के अमरत्व में उनका अटूट विश्वास था। उन्होंने समस्त विश्व को एकता और बंधुत्व के धागे में बाँधने का निश्चय किया। वे एक महान मानवतावादी थे। वे भाइचारे तथा मानसिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता के कट्टर समर्थक थे।

उन्होंने तत्कालीन हिंदू समाज के दोषों को सुक्ष्मता से परखा। उनके धार्मिक विचारों पर इस्लाम का प्रभाव परिलक्षित होता है। हिंदू धर्म तथा इस्लाम धर्म का समन्वय उनके विचारों का मूल है। धार्मिक उदारवाद से प्रेरित होकर उन्होंने समस्त धर्मों की सुक्ष्मतम समानता को स्वीकार करते हुए धर्मों के पारस्परिक विभाजन के सिद्धांतों को अमान्य कर दिया।

हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के लिए 1815 में अपने घर पर ही आत्मीय समाज की स्थापना की। इसकी बैठक सप्ताह में एकबार होती थी एवं इस सभा में वेदपाठ एवं ब्रह्म संगीत का आयोजन किया जाता था।

उनके द्वारा 1828 में ब्रह्म-समाज की स्थापना की गई। ब्रह्म-समाज में आधुनिकतावाद, उदारवाद तथा विवेकवाद की नवीन धारा भारत में प्रवाहित की। ब्रह्म- समाज का सर्वोच्च लक्ष्य सभी धर्मों में विश्वास करने वाले व्यक्तियों में एकता का संचार करना था। राजा राममोहन राय के धार्मिक विचारों पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। वेदांत में सत्य का साक्षात्कार कर उन्होंने ब्रह्मवाद तथा एकेश्वरवाद को मिलाना ही उचित समझा। धार्मिक उदारवाद से प्रेरित होकर उन्होंने समस्त धर्मों की सुक्ष्मतम समानता को स्वीकार करते हुए धर्मों के पारस्परिक विभाजन के सिद्धांतों को अमान्य कर दिया। हेमचन्द्र सरकार के शब्दों में- "राजा राममोहन राय न तो पूर्णतया हिंदू थे और न ही अनन्य रूप से एक ईसाई थे वरन् वे दोनों से ही कुछ बड़े तथा उदात्त थे। वे अतीत के हिंदू धर्म के मार्ग को ईसाई धर्म की ओर नहीं वरन् उसके बीच में से निकालकर सार्वभौमिक अधिभौतिकी ईश्वरवाद में गए, जिसमें हिंदू धर्म और ईसाई धर्म दोनों के मूल्यवान और प्रेरक समाविष्ट था।"

1.2.8. राजा राममोहन राय के आर्थिक विचार

राजा राममोहन राय कोई अर्थशास्त्री नहीं थे न ही उन्होंने किसी आर्थिक सिद्धांतों की रचना ही की थी। लेकिन देश के कतिपय आर्थिक समस्याओं के संबंध में समय-समय पर उन्होंने अपना विचार प्रकट किया। वे इस प्रकार हैं-

1.2.8.1. भारत की राजस्व प्रणाली तथा किसान

राजा राममोहन राय ने सर्वप्रथम जमींदारी प्रथा के विरोध में आवाज उठाई। उनका कहना था कि जमींदार तथा जागीरदार किसानों का शोषक है तथा आर्थिक-सामाजिक पतन के मुख्य कारण है। उन्होंने यह भी विचार प्रस्तुत किया कि सरकार जमींदार से अपनी माँग कम कर दे। हालाँकि ऐसा करने से राजस्व में क्षति होगी परंतु इस क्षति की पूर्ति दो उपायों से की जा सकती है- (1) विलासिता की सामग्री पर कर की वृद्धि की जाए (2) राजस्व विभाग पर किए जाने वाले रख-रखाव के व्यय में कटौती की जाए। उन्हें

वास्तव में जनता के हितों का ध्यान था, वे गरीब किसानों की मुक्ति चाहते थे, जो जमींदारों और उनके गुमस्तों की लूट का शिकार थे।

1.2.8.2. ब्रिटिश नागरिकों का भारत में उपनिवेश

राजा राममोहन राय ने भारत में पूँजी निर्माण तथा संरक्षण के लिए अपना विचार दिया कि देश से प्रतिवर्ष करोड़ों रूपये की धन राशि के निर्यात को रोका जाए। इसके लिए समृद्ध विदेशी व्यापारियों को, जो भारत से संपत्ति अर्जन करते है, उन्हें भारत में ही बसाया जाए ताकि वे अपना धन बाहर भेजने के स्थान पर भारत की ही उद्योग व्यवस्था में लगाएँ। उनका दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटिश तथा अन्य यूरोपवासी भारत की कृषि व्यवस्था में नवीन उपकरणों का प्रयोग कर उत्पादन वृद्धि में सहायक सिद्ध हो सकेंगे। उनके इस विचार की बंगाल में तीव्र आलोचना हुई। आलोचकों का कहना था कि राजा राममोहन राय का भारत में अंग्रेजों को आमंत्रित कर उन्हें यहाँ की भूमि का स्वामित्व देना चाहते हैं ताकि वे अपनी जमींदारी को कायम रख सके। पर वास्तविकता यह थी कि वे सिर्फ पढ़े लिखे यूरोपवासियों को ही भारत में बसाना चाहते थे ताकि उनके साथ भारतीयों का चरित्र उन्नत होकर औद्योगिक चेतना का विकास हो सके।

1.2.8.3. निर्बाध व्यापार

राजा राममोहन राय स्वतंत्र व्यापार के विचार के समर्थक थे। उनका कहना था कि अंग्रेजों द्वारा अपने देश में ले जाए जाने वाले माल पर से कर हटा लेना चाहिए ताकि विदेशी व्यापार पर भारतीय माल की अच्छी खपत हो सके। वे चाहते थे कि भारत भूमि पर आधुनिक वैज्ञानिक उद्योग खड़े किए जाए, जिससे देश की जनता के रहन-सहन के स्तर में और उनके साथ-साथ स्वास्थ्य और शरीर गठन में सुधार हो। वे भारतीय सभ्यता में रैयतबाड़ी, कृषि प्रधान तथा देहाती आधार को अक्षुण्ण रखने के पक्ष में थे।

1.2.9. राजा राममोहन राय के शिक्षा संबंधी विचार

राजा राममोहन राय एक महान विद्वान थे। उन्हें ग्रीक, संस्कृत, अरबी तथा फारसी भाषा का विशुद्ध ज्ञान था। उन्होंने वेदों, उपनिषदों, शास्त्र-पुराणों तथा अन्य शिक्षा संबंधी ग्रंथों का गहन अध्ययन किया। विशेषतः वेदों में उनकी विशेष रूचि थी। उनके शिक्षा संबंधी विचार रचनात्मक न्यूनतम एवं दूरदर्शी थे। वे पश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के जोरदार समर्थक थे। उनका मत था कि अंग्रेजी भाषा भारतीयों के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उन्होंने यह महसूस किया कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली परिवर्तित होने से ही जागरण और राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रसार होगा। उन्होंने भारतीय शिक्षा को वैज्ञानिक ढंग से देने का प्रबल समर्थन किया। उनका मानना था कि प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का प्रचलन अनिवार्य है। 1816-17 में उन्होंने कलकत्ता में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की और उसी की प्रेरणा से 1822-23 में हिंदू कॉलेज की स्थापना हुई। इस प्रकार उन्होंने देश में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का सुत्रपात किया। वे ईसाई मिशनरी को भी भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में लाए।

1823 में गवर्नर-जनरल को एक पत्र में लिखा कि- "यदि ब्रिटिश व्यवस्था का उद्देश्य भारतीयों को सदा अज्ञान के अंधकार में रखना है तो फिर संस्कृत प्रणाली ही अच्छी है, परंतु जब सरकार भारतीय जनता की प्रगति चाहती है तब आधुनिक एवं उदार शिक्षा-प्रणाली द्वारा गणित, दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीर विज्ञान एवं उपयोगी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए।

अंग्रेजी शिक्षा पर बल देते हुए उन्होंने संस्कृत की आवश्यकता का तिरस्कार नहीं किया। उनका विचार था कि देश की वास्तविक उन्नति के लिए विश्व से संबंध स्थापित करके कदम से कदम मिला करके चलना पड़ेगा। अतः शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को अपनाना जरूरी है पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम संस्कृत शिक्षा की अवहेलना करें और वेद, उपनिषद् आदि की चर्चा छोड़ दे।

1.2.10. कानून एवं नैतिकता संबंधी विचार

राजा राममोहन राय कानून और नैतिकता को पृथक-पृथक मानते थे। कानून और नैतिकता के संबंध पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि कुछ नैतिक नियम कानून से भी ज्यादा बाध्यकारी होते हैं तो कुछ कानून भी नैतिक नियमों से अधिक प्रभावकारी होते हैं। उनका मानना था कि कानून चाहे अनैतिक हो अथवा न हो उसका पालन किया जाना चाहिए। उन्होंने विधि के क्षेत्र में गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गए कानूनों को उचित नहीं माना।

उनका विचार था कि एक भारतीय अपराधिक विधि संहिता तैयार की जाए और वह ऐसे सिद्धांतों पर आधारित हो जो देश की जनता को विभिन्न वर्गों में आमतौर पर प्रचलित हो और जिन्हें वे सभी स्वीकार कर ले। विधि संहिता जटिल न होकर स्पष्ट, सरल और जनकल्याण की संरक्षिका होनी चाहिए।

राजा राममोहन राय ने विधायिका कार्यपालिका के पृथक्किकरण पर बल दिया। उनका विचार था कि इन दोनों शक्तियों के संयुक्तिकरण से न्यायपूर्ण शासन की स्थापना नहीं की जा सकती। वे कानून को सामाजिक परंपराओं पर आधारित संप्रभु के आदेश से संचालित नियम मानते थे। उनका कहना था कि कानून के समक्ष भेदभाव करना दोषपूर्ण है। उन्होंने पुरातन भारतीय व्यवस्था में प्रचलित न्याय पंचायत का समर्थन किया तथा कहा कि उसी प्रकार की जनसंबंद्ध संस्था द्वारा ही न्यायिक प्रणाली चलनी चाहिए।

1.2.11. योगदान

राजा राममोहन राय भारतीय राष्ट्रीयता के पैगंबर और आधुनिक भारत के जनक थे। एक राजनीतिक चिंतक समाज सुधारक और शिक्षाविद् के रूप में उन्होंने तत्कालीन भारत की समस्याओं के लगभग सभी पहलुओं को छुआ और उसका निदान प्रस्तुत किया। वे आधुनिक शिक्षा के समर्थक थे तथा उन्होंने गणित और विज्ञान पर अनेक लेख एवं पुस्तकें लिखी। 1821 में उन्होंने युनिटेरियन एशोसिएशन की स्थापना की। हिंदू समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए 1828 ई. में उन्होंने ब्रह्म- समाज नामक संस्था की स्थापना की। 1805 से 1814 तक वे बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी की। अवकाश प्राप्ति के बाद वे स्थायी रूप से कलकता में रहने लगे एवं अपने को पूर्ण रूप से जनता की सेवा में लगा दिया। 1814 में उन्होंने आत्मीय सभा आरंभ किया और 1831 ई. में विशेष कार्य के संबंध में दिल्ली के मुगल सम्राट के पक्ष का समर्थन करने के लिए इंग्लैंड गए। इसी दरम्यान 27 सितंबर, 1833 को उनका देहांत हो गया। उन्हें मुगल सम्राट की ओर से उपाधि भी प्रदान किया गया। अपने सभी कार्यों में राजा राममोहन राय को स्वदेश प्रेम अशिक्षितों और निर्धनों के लिए अत्यधिक सहानुभूति थी। अंग्रेजों के विरूद्ध सशस्त्र विद्रोह के संभव होने के कारण उन्होंने अपने देशवासियों में राजनीति जागृति की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए जनमत को शिक्षित किया। उन्होंने लोगों का नैतिक उन्नति करने का हर संभव प्रयास किया।

राजा राममोहन राय अपने समय के सबसे बड़े प्राच्य भाषाओं के ज्ञाता में से एक थे। उनका कहना था कि भारत की प्रगति केवल उदार शिक्षा द्वारा ही होगी, जिसमें पाश्चात्य ज्ञान तथा विद्या की सभी शाखाओं का शिक्षण व्यवस्था हो। उन्होंने ऐसे भारतीय का पूर्ण समर्थन किया जो अंग्रेजी भाषा तथा पश्चिमी विज्ञान का अध्ययन भारत में करना चाहते थे। उन्होंने हिंदू कॉलेज की स्थापना की जो उस समय की सर्वाधिक आधुनिक संस्था थी।

राजा राममोहन राय एक धार्मिक सुधारक एवं सत्य के अन्वेषक थे। उन्होंने तत्कालीन भारत की समस्याओं के लगभग सभी प्रमुख पक्षों को छुआ और उसका निदान प्रस्तुत किया वे भारतीय सभ्यता के रैयतवाड़ी, कृषि-प्रधान तथा देहाती आधार को अक्षुण्ण रखने के पक्ष में थे। उनकी इच्छा भारत की भूमि पर आधुनिक वैज्ञानिक उद्योग खड़े करने की थी। वे संस्कृत के स्थान पर पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था के समर्थक थे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे पाश्चात्य व्यवस्था को अपनाना चाहते थे, उनका विरोध भारतीयकरण की विकृतियों से था। आधुनिकता के प्रभाव में उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग चुना।

राजा राममोहन राय के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि 'सती-प्रथा का निवारण' था। उन्होंने अपने अथक प्रयासों से इस प्रथा को गैरकानूनी एवं दंडनीय घोषित करवाया। उन्होंने इस अमानवीय प्रथा के विरूद्ध निरंतर आंदोलन चलाया। अंत में 1829 में लॉर्ड विलियम वैंटिक ने इस प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया। सती प्रथा को मिटाने से राजा राममोहन राय संसार के मानवतावादी सुधारकों में सर्वप्रथम पंक्ति में आ गए।

1.2.12. सारांश

राजा राममोहन राय अद्भूत व्यक्ति थे। उनकी दूरदर्शिता एवं कल्पनाशक्ति महान थी। वे एक ऐसी आत्मा थे जिसने अपने को दूसरों के लिए अर्पित कर रखा था। वे निर्भिक तथा ईमानदार थे तथा अपने विश्वास को दूसरों के समक्ष व्यक्त करने का उनमें दुर्दम्यसाहस था। आधुनिक भारत में स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन करने वाले वे सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने स्त्रियों की पराधीनता के विरूद्ध विद्रोह किया। वे सच्चे अर्थों में समाज-सुधारक थे। उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। राजा राममोहन राय नए भारत की पुनर्जाग्रत आत्मा के प्रतीक थे। भारत में विदेशी विजेता आने के साथ ही सांस्कृतिक समन्वय की समस्या चली आई थी। नानक, कबीर, चैतन्य तथा जायसी समन्वय के प्रतिपादक थे। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही राजनीतिक संघर्ष की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया। राजा राममोहन राय तथा रणजीत सिंह समसामयिक होते हुए भी भारत में विदेशी शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया के दो भिन्न स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते थे। अपने दुर्दमनीय शूरत्व के बावजूद रणजीत सिंह पुराने जगत के व्यक्ति थे। किंतु राजा राममोहन राय अपने युग के गंभीरतर नैतिक और आध्यात्मिक तत्वों को भली-भाँति समझा। उन्होंने पूर्वी भारत में व्याप्त अज्ञान, अंधकार, अंधविश्वास तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अधःपतन के विरूद्ध संघर्ष किया। उन्होंने एकेश्वरवाद तथा समाज-सुधार के समन्वय के द्वारा अधिक गहरी एकता स्थापित करने पर बल दिया। वे धार्मिक सहिष्णुता तथा सांस्कृतिक परिपालन की भावना के आदर्श उदाहरण थे। यद्यपि परंपरावादी क्षेत्रों में उनकी कटु भर्त्सना की गई। किंतु उनका आधुनिक भारत के एक प्रमुख निर्माता तथा भारतीय सभ्यता के विकास की एक कड़ी के रूप में अभिनंदन किया गया।

राममोहन राय बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। सार्वभौमिकता के संदेशवाहक, स्वतंत्रता के सभी पक्षों के व्यग्र तथा उत्साही समर्थक, प्रेस की स्वतंत्रता तथा रैयत के अधिकारों के लिए राजनीतिक

आंदोलनकर्ता थे। वे भारत में आधुनिक राजनीतिक चिंतन के विकास के नेताओं में से एक हैं। वे तुलनात्मक धर्म के प्रकांड पंडित और बंगला गद्य साहित्य तथा बंगला पत्रकारिता के संस्थापक थे।

राजा राममोहन राय सामाजिक कुरीतियों तथा अन्याय की कटु भर्त्सना की और परंपरावाद का खुलकर विरोध किया। किंतु उनका विश्वास था कि सामाजिक बुराईयों का अंत करने का उग्र तरीका बुद्धिवाद का प्रचार करना है। इस प्रकार उनकी तुलना फ्रांस के ज्ञानकोष के सह-रचयिता दिदरो से की जा सकती है। किंतु राममोहन राय अनेक ज्ञानकोष रचियताओं की भाँति भौतिकवादी नहीं थे। उन्होंने नैतिक इंद्रियपरायणता के सिद्धांत का भी खंडन किया और नैतिक अंतःप्रज्ञावाद के सिद्धांत को स्वीकार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वे 30 वर्ष के थे उस समय उन्होंने बुद्धिवादियों तथा स्वतंत्र विचारकों की रचनाओं का अध्ययन किया। पर इतना तो निश्चित है कि उन्होंने मुवाहिदियों, सूफियों और मुतजिलों की रचनाओं का मनन किया था और शायद वे ह्यूम, वाल्तेयर और वोल्वी की रचनाओं से भी परिचित थे। स्वतंत्रता के एक दुर्घर्ष समर्थक की भाँति जो वे स्वयं थे उन्होंने विश्व के सभी तथाकथित ऐतिहासिक धर्म ग्रंथों तथा धर्मों के विरूद्ध संघर्ष किया और अपनी अरबी-फारसी में लिखित तौफात-उल-मुवाहिदीन (आस्तिकों की भेंट) नामक पुस्तक में विद्रोह का शंखनाद किया। उन्होंने वाल्तेयर की भाँति मनुष्य जाति को चार वर्गों में विभक्त किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में अंधविश्वास तथा उसकी व्यापकता के कारणों का जो विश्लेषण किया है उससे प्रतीत होता है कि उनपर लॉक तथा ह्यूम का प्रभाव था, क्योंकि अपने विश्लेषण में उन्होंने ऐतिहासिक तत्वों की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक तत्वों को अधिक महत्व दिया है।

1.2.13. पारिभाषिक शब्दावली-

शास्त्र सम्मत	-	शास्त्र के अनुसार
उदात्त	-	विशाल
संकीर्णता	-	संकुचित विचार वाला
संप्रभु	-	सर्वोच्च
दूरदर्शी	-	दूर दृष्टि वाला

1.2.14. बोध प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न

1. राजा राममोहन राय का जन्म किस ईसवी में हुआ था।
   (क) सन् 1772 ई० (ख) 1872 ई०
   (ग) 1572 ई० (घ) 1972 ई०
2. इनमें से कौन पुस्तक राजा राममोहन राय की रचना है-
   (क) भारत में राजस्व और न्यायिक व्यवस्था (ख) अर्थशास्त्र
   (ग) अनुस्मृति (घ) सत्यार्थ प्रकाश,
3. राजा राममोहन राय इनमें से किनके विरोधी नहीं थे-
   (क) मूर्ति पूजा (ख) सती प्रथा (ग) जाति प्रथा (घ) नारी शिक्षा एवं स्वतंत्रता
4. राजा राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना कब की?
   (क) 1809 ई० (ख) 1814 ई० (ग) 1827 ई० (घ) 1828 ई०

5. राजा राम मोहन राय का अखबार सम्वाद कौमुदी किस भाषा में प्रकाशित होता था।
   (क) बंगला तथा अंग्रेजी भाषा (ख) बंगला तथा फारसी भाषा
   (ग) अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा (घ) अंग्रेजी तथा फारसी भाषा
   उत्तर- 1 (क), 2 (क), 3 (घ), 4 (घ), 5 (क)

1.2.14.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का जन्मदाता क्यों कहा जाता है?
2. राजा राममोहन राय का जन्म कब और कहाँ हुआ, उन्होंने किन-किन भाषाओं का अध्ययन किया?
3. राजा राममोहन राय को पूर्नजागरण का अग्रदूत क्यों कहा जाता है?
4. जूरी-प्रथा किसे कहते हैं?
5. राजा राममोहन राय के 'सम्प्रभु' का क्या अर्थ है।
6. सती प्रथा क्या था? राजा राममोहन राय ने इसे कब और कैसे समाप्त करवाया।

1.2.14.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजा राममोहन राय की जीवनी अपने शब्दों में वर्णन करें।
2. राजा राममोहन राय के राजनीतिक विचार को स्पष्ट करें।
3. राजा राममोहन राय के सामाजिक विचार को स्पष्ट करें।
4. राजा राममोहन राय के धार्मिक विचार को स्पष्ट करें।
5. राजा राममोहन राय के आर्थिक विचार की व्याख्या करें।
6. राजा राममोहन राय के शिक्षा, संबंधी विचार की व्याख्या करें।
7. राजा राममोहन राय के 'प्रेस की स्वतंत्रता' संबंधी विचार की व्याख्या करें।
8. राजा राममोहन राय के 'कानून तथा नैतिक''- संबंधी विचार को स्पष्ट कीजिए।

1.2.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. फाड़िया डॉ० बी० एल०, 2008, राजनीति चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा पृष्ठ संख्या 67-74
2. वर्मा, डॉ० वी० पी०, 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, पृष्ठ संख्या- 14-23
3. ठाकुर, रविन्द्र नाथ, 'भारत पथिक राममोहन राय', निबंधमाला, पृ0 9-21
4. The English works of Raja Ram Mohan Roy, book-3, page- 327
5. जैन डॉ० पुखराज एवं मेहता प्रो0 जीवन, 2008, राजनीति विज्ञान, एस बी पी डी पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ठ सं0 141-157 ISBN-978-93-5767-176-3

इकाई-3 : स्वामी दयानन्द सरस्वती

इकाई की रूपरेखा

1.3.1. उद्देश्य
1.3.2. जीवन परिचय
1.3.3. स्वामी दयानन्द की रचनाएँ
1.3.4. स्वामी दयानन्द के चिंतन के मूल स्रोत- वेद
1.3.5. स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारों के दार्शनिक आधार
1.3.6. स्वामी दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद
1.3.7. स्वामी दयानन्द का सामाजिक चिंतन
1.3.7.1. वेद वर्णित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना
1.3.7.2. दलित उद्धार एवं शुद्धि आंदोलन
1.3.7.3. विभिन्न सामाजिक कुरीतियों पर बल
1.3.7.4. नारी समानता तथा शिक्षा पर बल
1.3.8. स्वामी दयानन्द का राजनीतिक चिंतन
1.3.8.1. मर्यादित शासन व्यवस्था का आग्रह
1.3.8.2. स्वतंत्रता एवं समानता के लिए आग्रह
1.3.8.3. सत्ता का विकेंद्रीकरण और ग्राम प्रशासन
1.3.8.4. न्याय, दंड एवं कर व्यवस्था
1.3.8.5. अंतरराज्य संबंध, सैन्य व्यवस्था और युद्ध
1.3.8.6. सार्वभौम मानवतावाद या अंतरराष्ट्रवाद के जनक
1.3.8.7. स्वामी दयानन्द के लोकतंत्र संबंधी विचार
1.3.9. स्वामी दयानन्द के धार्मिक विचार
1.3.9.1. एकेश्वरवाद में विश्वास
1.3.9.2. मूर्तिपूजा का विरोध
1.3.9.3. इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रति दृष्टिकोण
1.3.9.4. शुद्धि आंदोलन
1.3.10. स्वामी दयानन्द के शिक्षा संबंधी विचार
1.3.11. स्वामी दयानन्द का योगदान
1.3.12. मूल्यांकन
1.3.13. पारिभाषिक शब्दावली
1.3.14. बोध प्रश्न
1.3.15. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1.3.1. उद्देश्य

1. दयानन्द के जीवन के बारे में जान सकेंगे।
2. दयानन्द की रचनाओं को समझ सकेंगे।
3. दयानन्द के चिंतन का मूलस्रोत वेद है इसे समझ सकेंगे।
4. दयानन्द के राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे।
5. दयानन्द के राष्ट्रवाद को समझ सकेंगे।
6. दयानन्द के समाजिक चिंतन को समझ सकेंगे।
7. दयानन्द के धार्मिक विचार को समझ सकेंगे।
8. स्वामी दयानन्द के लोकतंत्र संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
9. दयानन्द के शिक्षा संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
10. स्वामी दयानन्द के चिंतन में योगदान और मूल्यांकन समझ सकेंगे।

1.3.2. जीवन परिचय

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय संस्कृति के वैदिक संरक्षक थे जिन्होंने सर्वप्रथम और सबसे अधिक प्रमुख रूप से 'वेदों की ओर लौटो' का संदेश दिया था। सतपाल और मार्टिन लूथर की संयुक्त शक्ति से युक्त इस निर्भय योगी ने विदेशी धर्मों से टक्कर लेने के लिए बाइबिल और कुरान की तुलना में वेदों को सर्वोच्च स्थान देकर अक्रांताओं की नीति से ही उसका सामना किया। उनके शब्दों में ''आर्य विशिष्ट जाति के हैं, वेद विशिष्ट ग्रंथ है, आर्यावर्त विशिष्ट भूमि है।'' वैदिक धर्म और संस्कृति को पुनर्जीवित करना उनका एकमात्र ध्येय था।

भारत के पुनर्जागरण आंदोलन में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महती जीवदायिनी शक्ति का काम किया। उन्होंने एक ऐसे युग में भारतीय राष्ट्रवाद में प्राण फूँके जब देश, विदेशी साम्राज्यवाद के लौह शिंकजे से कसा हुआ था। उन्होंने आर्य समाज के रूप में एक शक्तिशाली संस्था की नींव डाली जिसने उत्तर भारत में महत्वपूर्ण शैक्षणिक तथा सामाजिक कार्य किया। आर्य समाज ने देश के स्वतंत्रता संग्राम को अनेक योद्धा प्रदान किया इसलिए दयानन्द और आर्य समाज का भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

डॉ. वी. पी. वर्मा के शब्दों में- '' यद्यपि उन्होंने राजनीति दर्शन के क्षेत्र में कोई व्यवस्थित रचना नहीं प्रणीत की फिर भी वे भारतीय राजनीति सिद्धांत के इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी है। इनके दो प्रमुख कारण है। प्रथम, उन्होंने भारत की राजनीति में स्वतंत्रता की नींव तैयार की। उन्होंने हिंदी में वेद भाष्य लिखा, दलितों और स्त्रियों के उद्धार के लिए धर्मयुद्ध चलाया तथा शिक्षा पर बल दिया। इन सब बातों ने भारतीय जनता को नई शक्ति तथा बल प्रदान किया। सामाजिक न्याय के समर्थन के रूप में उन्होंने आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की पुनः स्थापना का उपदेश दिया। द्वितीय, दयानन्द ने आर्य समाज के रूप में एक शक्तिशाली संस्था की नींव डाली जिसने उत्तर भारत के महत्वपूर्ण शैक्षिक तथा सामाजिक कार्य किया। इसलिए दयानन्द और आर्य समाज का भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।'' दयानन्द के ग्रंथों में स्वाभिमान कुट-कुट कर भरा हुआ है। रूसों की तरह उन्होंने माना कि प्रकृतितः सभी मनुष्य समान है और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद की नैतिक, सामाजिक नीति पुष्ट की। जिस प्रकार रूसों ने फ्रेंच राज्य क्रांति एवं कार्ल मार्क्स ने रूसी समाजवादी क्रांति को दार्शनिक

आधार दिया, उसी भाँति स्वामी दयानन्द ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन व स्वतंत्रता, समानता एवं लोकतंत्र को सशक्त स्वर दिया।

दयानन्द सरस्वती का जन्म गुजरात के टंकारा नामक स्थान में 1924 ई. में एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनका पारिवारिक नाम मूलशंकर था। वाल्यवस्था से ही उनमें मूर्तिपूजा और धार्मिक कर्मकांड के प्रति अविश्वास जागृत हो गया। 21 वर्ष की आयु में वैवाहिक बंधन से बचने के लिए वे घर से भाग निकले। 1845 से 1860 तक लगभग 15 वर्षों तक वे ज्ञान प्रकाश तथा अमरत्व की खोज में भटकते रहे। 1860 में स्वामी विराजनन्द ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया।

नेत्रहीन स्वामी विरजानन्द प्राचीन ग्रंथों मुख्यतः वेद के प्रकांड विद्वान थे तथा समाज में व्याप्त अज्ञान और अंधविश्वासों के कटु आलोचक थे। स्वामी दयानन्द ने उनसे वेद ज्ञान और व्याकरण की शिक्षा ग्रहण की तथा उसी से उनमें वेदों में अटल निष्ठा की उत्पत्ति हुई। इसके आधार पर उन्होंने यह अनुभव किया कि पतनशील विकृति हिंदू समाज का पुनरूत्थान वेद-प्रतिपादित जीवन प्रणाली को अपनाकर ही संभव है। वेदों की ओर लौटना ही समाजसुधार का रामबाण है। उनके दीक्षा गुरू विरजानन्द ने भी इसी मार्ग की ओर संकेत करते हुए उनसे गुरू दक्षिणा के रूप में समाज सुधार हेतु वेद ज्ञान के प्रचार-प्रसार करने का जीवन पर्यत्त व्रत लेने और उनका पालन करने का आग्रह किया। उन्होंने कहा कि- ''जो शिक्षा तुमने मुझ से प्राप्त की है उसका समुचित उपयोग करो। देश में अज्ञान का अंधकार फैला हुआ है। लोग सद-असद के ज्ञान से अपरिचित हैं। वे जाति तथा संप्रदाय के नाम पर आपस में लड़ते झगड़ते हैं और वेदों के अध्ययन की अवहेलना करते हैं। उन्हें उनके अध्ययन हेतु प्रेरित कर एकेश्वरवाद की शिक्षा को, उनमें विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित करो तथा वेद-विहित जीवन-यापन में प्रशिक्षित करो।''

दयानन्द ने अपने गुरू के इस आज्ञा को शिरोधार्य कर उसी के अनुसार कार्य करने का व्रत लिया तथा वेदों के प्रचार-प्रसार हेतु देशाटन प्रारंभ किया। वेद-ज्ञान के प्रचार-प्रसार का प्रारंभ उन्होंने सन् 1867 में हरिद्वार में पाखंडी पताका के माध्यम से हिंदू धर्म में फैले हुए अंधविश्वासों पर प्रहार अभियान से शुरू किया। उन्होंने मूर्तिपूजा का खंडन किया तथा एक ईश्वर की उपासना करने का संदेश दिया। हिंदू समाज में घर कर गई विकृतियों और कुरीतियों पर प्रहार करते हुए उन्होंने अस्पृश्यता बाल-विवाह, बलात् वैधब्य तथा विदेश यात्रा पर प्रतिबंध जैसी सामाजिक कुरीतियों की घोर नींदा की तथा सुधार हेतु उनके उन्मूलन पर जोर दिया। उन्होंने सनातनी सर्ववादी पंडितों और धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ किया और अपनी अद्भूत तर्क प्रणाली और वाक्-शक्ति से उन्हें पराजित कर जन-मानस पर प्रबल प्रभाव डाला। आरंभ में संस्कृत में प्रवचन करने की परिपाटी का परित्याग कर जन-मानस में सुधार हेतु आवश्यक प्रभाव और वातावरण उत्पन्न करने के लिए हिंदी माध्यम से प्रवचन देना आरंभ किया।

10 अप्रैल, 1875 को उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की तथा बाद में 1877 में लाहौर में उसकी शाखा का उद्घाटन कर वेदों के देशव्यापी प्रचार-प्रसार हेतु कार्य आरंभ किया। इसके पश्चात् संपूर्ण उत्तर भारत में विशेषकर पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और गुजरात में आर्य समाज की शाखाओं की स्थापना कर उनका देश के एक बड़े भाग में जाल बिछा दिया।

राजपुताना के राजा महाराजाओं ने स्वामी जी का सम्मान किया। कई शासक उनके शिष्य बन गए। उदयपुर के महाराणा सज्जन सिंह, शाहपुर के राव नाहर सिंह तथा जोधपुर के राजा अजित सिंह उनके प्रिय शिष्य रहे। ऐसा कहा जाता है कि जोधपुर रियासत में स्वामीजी के विरूद्ध षडयंत्र रचकर अक्टूबर 1883 में उन्हें विष दे दिया और इसके साथ ही स्वामीजी का शरीरांत्त हो गया। प्रसिद्ध जर्मन

विद्वान मैक्समूलर ने उनकी प्रतिभा, वेदों के प्रचार प्रसार में उनके द्वारा निभाई गई भूमिका तथा हिंदू समाज में विद्यमान विकृतियों के उन्मूलन हेतु किए गए प्रयत्नों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फ्रेंच विद्वान रोम्यां रोला के शब्दों में- ''दयानन्द सरस्वती इलियड तथा गीता के प्रमुख नायक समान थे। उनमें हरकुलीश की शक्ति एवं सामर्थ्य थी। वस्तुतः शंकराचार्य के बाद इतना महान एवं प्रभावशाली संत भारत में दूसरा नहीं हुआ।''

1.3.3. स्वामी दयानन्द की रचनाएँ

स्वामी दयानन्द की निम्नलिखित रचनाएँ हैं-

सत्य प्रकाश, वेदान्तिध्वान्ति निवारण, पंचमहायज्ञ विधि, संस्कार विधि, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि।

उनकी रचना 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' वैदिक साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उनकी दूसरी महत्वपूर्ण रचना 'सत्यप्रकाश' है। सत्यप्रकाश का अष्टम अध्याय उनके राजनीतिक चिंतन का दिग्दर्शन कराता है।

1.3.4. स्वामी दयानन्द के चिंतन का मूल स्रोत- वेद

स्वामी दयानन्द वेद को सभी प्रकार के ज्ञान का स्रोत मानते थे तथा उनमें वर्णित बौद्धिक जीवन को ही जीवन का सच्चा स्वरूप समझते थे। भारतीय पुनरूत्थान के प्रवक्ता के रूप में उन्होंने भारतीयों की वेदों के माध्यम से अपने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव से परिचित ही नहीं कराया वरन् वेदों की ओर लौट चलने का भी नारा दिया। वेदों में वर्णित जीवन के पुनरूत्थान को उन्होंने भारतीय मुक्ति का साधन बताया। उनकी यह मान्यता थी कि वेदों का अनुशरण करने से ही मनुष्य की सर्वांगिक विकास संभव है। वेदों को वे सर्वकल्याण कारक मानते थे तथा मनुष्य समाज में उत्पन्न बुराईयों का उन्हें एक अमोध उपचार मानकर उनकी स्थापना करना चाहते थे।

स्वामी जी के समस्त चिंतन का मूल स्रोत और आधार वेद है। वेद सबसे प्राचीन और धर्म का मूल स्रोत है। उन्होंने घोषणा की कि चार वैदिक संहिताएँ अपौरूषेय हैं। उनका दावा था कि वेदों में स्वयं ईश्वर की वाणी निहित है। वेद शाश्वत, शुद्ध और आदि ज्ञान के स्रोत हैं। वे जीवन के समस्त समस्याओं को वैदिक सिद्धांतों के आधार पर समाधान करना चाहते थे।

वस्तुतः वैदिक संहिताओं के युग से लेकर आज तक विश्व में वेद का दयानन्द से बड़ा समर्थक उत्पन्न नहीं हुआ। 1864 के बाद उन्होंने सन्त पॉल और मार्टिन लूथर की संयुक्त शक्ति तथा उत्साह के साथ अपना संपूर्ण जीवन वेद की बेदी पर अर्पित कर दिया।

1.3.5. स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारों का दार्शनिक आधार

स्वामी दयानन्द एक राजनीतिक चिंतक न होकर एक महान दार्शनिक तथा धार्मिक एवं सामाजिक चिंतक थे। उनकी मान्यता थी कि धार्मिक सुधारों के अभाव में राष्ट्र और समाज के पुनरूत्थान का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। जबतक धर्म और सामाजिक बुराइयों को दूर नहीं किया जाता तबतक भारत में किसी की प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। वे काण्ट और स्पेन्सर की भाति संशयवादी नहीं थे। उनकी इच्छा थी कि ईश्वर में अविकल और अनन्य आस्था होनी

चाहिए और यह पवित्र जीवन के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। वे एकेश्वरवादी थे और उन्होंने योग पर अत्यधिक बल दिया। उनके अनुसार ईश्वर सभी मंगलमय गुणों का भंडार है इसलिए नैतिक जीवन की उपलब्धि का एक मार्ग ईश्वर के गुणों का चिंतन भी है।

स्वामी दयानन्द ने राष्ट्र और समाज को वेदों के आधार पर ज्योतिर्मय बनाने का प्रयत्न किया। उनका मानना था कि यदि भारतीय वेदों के अनुसार आचरण करे तो उनकी हीनता की भावना समाप्त हो जायेगी। वे जीवन की समस्याओं का वैदिक सिद्धांतों के आधार पर समाधान चाहते थे। उनका कहना था कि वेद शाश्वत शुद्ध तथा आदि ज्ञान के श्रोत है, वैदिक ज्ञान की पुरातन संहिताओं में स्वयं ईश्वर की ही वाणी है। उनका नारा था ''वेदों के युग में लौटो'' दयानन्द के अनुसार तीन प्रकार के शाश्वत द्रव्य हैं- ईश्वर जीव और प्रकृति। ये तीन तत्व अनादि तथा अनंत हैं। वे सांख्यों की भाँति प्रकृति को स्वतंत्र तथा शाश्वत मानते थे, किंतु उनका तर्क था कि पदार्थ को व्यवस्थित करने के लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर भी आवश्यक है- ताकि आगे के उत्तरदायित्वों का भली प्रकार निर्वाह कर सके। गृहस्थाश्रम जो 25 से 50 वर्ष की आयु तक चलता है। इसमें मनुष्य परिवारिक जीवन के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए, संतानोत्पति कर समाज को ज्ञातव्य बनाए रखने का कार्य करता है। ज्ञान प्रस्थाश्रम जो 50 से 75 वर्ष की अवस्था तक चलता है। इसमें मनुष्य धीरे-धीरे सांसारिक विषयों से अपने को मुक्त कर एकांत में अपने मोक्ष या मुक्ति हेतु स्वयं सन्मार्ग पर चलने की साधना करता है तथा समाज को भी इसके लिए प्रेरित करता है। उसका स्वयं का जीवन समाज के लिए अनुकरणीय उदाहरण और उपदेश बन जाता है। स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि इन विभिन्न चरणों के, विभिन्न आश्रमों के, उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए एक मनुष्य वेद वर्णित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चतुर्थ पुरुषार्थो को सिद्ध करते हुए एक सफल और सार्थक जीवन व्यतीत कर सकता है।

1.3.6. स्वामी दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद

स्वामी दयानन्द भारतीय राष्ट्रवाद के अनन्य पुजारी थे। यद्यपि न तो वे राजनीतिक दार्शनिक थे और नहीं प्रत्यक्ष रूप से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े हुए थे किंतु उन्होंने अपना ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वराज्य का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में देय का नेतृत्व भले ही न किया हो लेकिन अपने चिंतन और कार्यों से स्वधीनता की नैतिक और बौद्धिक नींव तैयार की। उन्होंने ऐसे समय में भारतीय राष्ट्रवाद के प्राण फूँके और देशवासियों को नवजागरण का संदेश दिया जब भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का शिकंजा कसता जा रहा था और ईसाई सभ्यता देय के पुरातन संस्कृति पर छाती जा रही थी। ऐसे बिकट समय में स्वामी दयानन्द हिंदू पुनरूत्थानवाद के उग्र प्रवक्ता बने और भारतीय संस्कृति की महानता से लोगों को परिचय कराया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि धर्म कर्म की प्रेरणा देता है और पुरुषार्थ से विमुख व्यक्ति कभी ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार उन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए कर्म और पुरुषार्थ दोनों का उपदेश दिया।

दयानन्द भारतीय चरित्र के दुर्बलताओं को देश के पतन के लिए उत्तरदायी मानते थे। उनके विचार में भारत के राजनीतिक अधः पतन के मूल में सामाजिक चरित्र का अभाव ही मुख्य तत्व है। उन्होंने व्यक्तिक चरित्र से आगे बढ़कर सामाजिक चरित्र और सामाजिक पुनर्निमाण की आवश्यकता पर बल दिया।

दयानन्द निर्भिक थे और निर्भिकता को मानव अधिकारों की प्राप्ति का आधार मानते थे। हिंदू पुनरुत्थानवाद के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद को जगाने के लिए उन्होंने अविवेक अंधविश्वास और रूढ़िवादिता से डटकर लोहा लिया। लोगों में स्वाभिमान की भावना जागृत की और गौरवशाली अतीत के प्रति स्वाभिमान जगाया। इन सभी बातों से भारतीय राष्ट्रवाद को संबल मिला।

भारतीय राष्ट्रवाद के जागरण में दयानन्द ने उस युग में भारत के लिए एक संपर्क भाषा की कल्पना राष्ट्रभाषा के रूप में कर ली थी। गांधी जी और सरदार पटेल से भी पहले गांधी स्वामी जी ने गुजरात में यह आवाज लगाई कि राष्ट्रीय एकता के लिए हिंदी का पूरे देश में प्रचलन आवश्यक है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि देश में एक भाषा एक धर्म और एक वेषभूषा को महत्व नहीं मिलेगा तो इसकी एकता बराबर लड़खड़ाती रहेगी।

भारतीय राष्ट्रवाद को प्रेरित करने के लिए स्वामी जी स्वदेशी के हिमायती थे। उन्होंने भारत की निर्धनता को दूर करने के लिए ''खादी के प्रयोग'' पर बल दिया। उन्होंने स्वदेशी के प्रयोग को प्रत्येक व्यक्ति का धार्मिक कर्त्तव्य बताया। उन्होंने देशी उद्योगों के विकास की आवश्यकता पर बल दिया। स्वधर्म, स्वभाषा, स्वदेशी के माध्यम से वे स्वराज्य के संदेशवाहक बन गए। संक्षेप में दयानन्द का राष्ट्रवाद अध्यात्मिक राष्ट्रवाद है। भारतीय राष्ट्रवाद विशेषकर हिंदू राष्ट्रवाद को दयानन्द ने अनेक प्रकार से संपुष्ट किया। डॉ. बी.पी. वर्मा के शब्दों में ''दयानन्द की भारत में अध्यात्मिक राष्ट्रवाद के महान पैगंबर के रूप में ख्याति है।''

1.3.7. स्वामी दयानन्द का सामाजिक चिंतन

विपिन चन्द्रपाल के अनुसार- ''दयानन्द का आंदोलन केवल धर्मसुधार आंदोलन नहीं था बल्कि समाज सुधार आंदोलन भी था। वे समाज सुधार को राजनीतिक चेतना की जागृति और राष्ट्रीयता के विकास के लिए अनिवार्य मानते थे।'' अपने ग्रंथ ''सत्यार्थ प्रकाश'' में स्वामी जी ने चार आश्रमों अर्थात ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास संबंधी विवेचन में अपने सामाजिक विचारों को प्रकट किया। सामाजिक व्यवस्था को उन्होंने शासन-व्यवस्था का ही अंग माना है तथा दोनों के क्रियाकलाप अन्योन्याश्रित रखा है।

1.3.7.1. वेद वर्णित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना

दयानन्द व्यक्ति और समाज को एक दूसरे का पूरक मानते थे। उनके अनुसार व्यक्ति का सर्वांगिक विकास समाज में रहकर ही संभव है। भारतीय समाज में विद्यमान ऊँच-नीच की भावना को देखकर उनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचता था। दयानन्द ने वेदों के आधार पर हिंदुओं के वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया। लेकिन जाति-प्रथा और छुआछूत की कटु आलोचना की। जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था का विरोध करके स्वामी दयानन्द ने दलित वर्ग के हृदय में एक नवीन आशा जागृत किया कि अब वे अच्छे कर्म करके अपने आप को ऊँचा उठा सकते हैं। शुद्रों के उत्थान के लिए उन्हें वैदिक संस्कारों से युक्त करने तथा उन्हें हिंदू समाज में प्रतिष्ठित पद दिलाने का उनका प्रयास अत्यंत प्रशंसनीय रहा। उन्होंने मूर्तिपूजा तथा बाल-विवाह का घोर विरोध किया। उनका मत था कि माता-पिता द्वारा संबंध तय किए जाने पर भी वर-कन्या से सलाह आवश्य ली जाए। संक्षेप में, दयानन्द ने सामाजिक बुराई के हर पहलू पर प्रहार किया। उनके अनुसार समुद्र-यात्रा, खान-पान और अंतरजातीय विवाह वर्जीत नहीं है।

1.3.7.2. दलित उद्धार एवं शुद्धि आंदोलन

19वीं सदी में दलित वर्ग अत्यंत अपमानित जीवन व्यतीत कर रहा था। स्वामी जी ने इस स्थिति को दूर करने के लिए छुआछूत की भावना का विरोध और दलितोद्धार की आवश्यकता पर बल दिया। अस्पृश्यता के विरूद्ध उनका युद्ध भारत के लिए भारतीय एकता के लिए महान देन कही जाएगी। सामाजिक न्याय के समर्थक के रूप में उन्होंने आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की पुनः स्थापना का उपदेश दिया। उनके द्वारा स्थापित संस्था आर्य समाज सभी जातियों के लिए समान रूप से खुले हुए हैं।

समानता के सिद्धांत में विश्वास रखने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाति-प्रथा की एक विकृति अस्पृश्यता थी दलित वर्ग के उद्धार हेतु जीवन पर्यंत कार्य किया तथा इस कुव्यवस्था के उन्मूलन हेतु आवश्यक सामाजिक वातावरण तैयार किया। देश के विभिन्न भागों में इस हेतु दलित उद्धार मंडलों की स्थापना की। जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था का विरोध करके स्वामी दयानन्द ने दलित वर्ग के हृदय में एक नवीन आशा जागृत किया कि अब वे अच्छे कर्म करके अपने को ऊँचा उठा सकते हैं। शुद्रों के उत्थान के लिए उन्हें वैदिक संस्कारों से मुक्त करने तथा उन्हें हिंदू समाज में प्रतिष्ठित पद दिलाने का उनका प्रयास अत्यंत प्रशसंनीय रहा। इतना ही नहीं, जो शुद्र वर्ण के सदस्य हीन भावना से मुक्त होने के लिए हिंदू धर्म को छोड़कर मुसलमान और ईसाई बन गए थे, उन्हें पुनः हिंदू धर्म में लाने के लिए 'शुद्धि आंदोलन' प्रारंभ किया। इस कदम के लिए उन्हें भारी विरोध का सामना करना पड़ा लेकिन इससे विचलित नहीं हुए और काफी निष्ठा के साथ संपन्न करते रहे।

1.3.7.3. विभिन्न सामाजिक कुरीतियों पर बल

दयानन्द व्यक्ति और समाज दोनों को एक दूसरे के पूरक मानते थे। उनके अनुसार व्यक्ति का सर्वांगिक विकास समाज में रहकर ही संभव है। उन्होंने अपने प्रमुख ग्रंथ में यह विचार प्रतिपादित किया कि समाज में मूर्ति पूजा, बाल-विवाह, मेल-विवाह, दहेज प्रथा, सतीप्रथा, विधवा विवाह निषेध जैसी जो सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित है और जो समाज के रूप को विकृत कर रही है तथा नैतिक दृष्टि से उसे भ्रष्ट कर रही है उसका उन्मूलन किया जाना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि उसके उन्मूलन पर ही समाज को स्वस्थ बनाकर उसका सर्वांगिक विकास किया जा सकता है। समाज में जो विभिन्न प्रकार के अंधविश्वास उत्पन्न हो गए हैं वही उसके पतन के कारण सिद्ध हो रहे हैं। समाज के नवनिर्माण हेतु स्वामी जी विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन के पक्षधर थे। देशहित तथा प्रगति की दृष्टि से उसने समाज की मुक्ति को आवश्यक घोषित किया।

1.3.7.4. नारी समानता तथा शिक्षा पर बल

स्वामी दयानन्द ने नारी गरीमा का समर्थन किया और हिंदू समाज में प्रचलित इस धारणा का खंडन किया कि नारी पुरुष के समान नहीं है। उस समय समाज में विभिन्न कुरीतियों के प्रचलन के कारण स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं थी उसके व्यक्तिक जीवन पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबंध लगे थे। समाज में उन्हें किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता तथा समानता प्राप्त नहीं थी। वेद-विहित जीवनचर्या से प्रेरित होने के कारण स्वामी दयानन्द स्त्री-पुरुष के समान शिक्षा पर बल दिया। उनका मानना था कि स्त्री- शिक्षा के अभाव में एक शिक्षित, सबल और प्रगतिशील राष्ट्र का निर्माण असंभव है। वेदों का उदाहरण देकर उन्होंने यह प्रमाणित किया कि पुरुषों के समान स्त्रियों को भी वेद-पाठ करने का अधिकार है। उन्होंने स्त्रियों के लिए भी गुरुकुल और स्कूल कॉलेज स्थापित कर उनकी शिक्षा का कार्य भी प्रारंभ किया। स्त्रियों

की स्थिति में सुधार लाने के लिए उन्होंने आर्य समाज के माध्यम से सक्रिय कार्य करना आरंभ किया। इस ओर संकेत करते हुए किसी विद्वान ने लिखा है- ''ऋषि दयानन्द 19वीं शताब्दी में नारी जाति को अपने गौरवशाली पूर्ण पद पर स्थापित करने हेतु उनके एक मुक्तिदाता के रूप में अवतरित हुए।'' स्त्री मुक्तिदाता की भूमिका का निर्वाह करते हुए दयानन्द ने आवश्यक विवाह का विरोध किया तथा सुशिक्षित एवं वयस्क युवतियों को अपने अनुरूप वर के स्वेच्छापूर्वक चयन का पूर्ण अधिकार देने का समर्थन किया।

स्वामी जी का मन मातृशक्ति के प्रति आदर से परिपूर्ण था। वे स्त्री जाति की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्के पक्षपाती थे। अतः उन्होंने स्त्रियों के जीवन पर लगे अनुचित प्रतिबंधो की नींदा की। उन्होंने पर्दा प्रथा का विरोध किया तथा स्त्री-शिक्षा पर बहुत अधिक बल दिया। उन्होंने अपने ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा कि ''जो तुम स्त्रियों के वेद पढ़ने का निषेध करते हो, तो वह तुम्हारी मुर्खता स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है।'' इस प्रकार उन्होंने स्त्री पुरुष की मूलभूत समानता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि स्त्री पुरुष दोनों को अपने विवेक के अनुसार जीवनसाथी चुनने का अधिकार होना चाहिए। 19वीं सदी में स्त्रियों के लिए इस प्रकार की अधिकार की बात करना निश्चय रूप से क्रांतिकारी विचार था। स्त्री-शिक्षा की गहरी आवश्यकता का अनुभव करते हुए उन्होंने फिरोजपूर में कन्या महाविद्यालय और मेरठ में कन्या पाठशाला स्थापित करने का कार्य अपने जीवनकाल में ही किया। वस्तुतः उन्होंने स्त्रियों के गौरव को बढ़ाया।

इस प्रकार समाज सुधारों तथा सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा हेतु दयानन्द का आग्रह केवल उनके सामाजिक चिंतन में ही व्यक्त नहीं हुआ अपितु उन्होंने समाज सुधार के प्रति अपनी निष्ठा को कर्म में भी उतारा। वे जीवनपर्यंत विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों और पाखंडों के विरूद्ध संघर्षरत रहे। उनके द्वारा स्थापित संस्था 'आर्य समाज' ने भारत में सामाजिक और राजनीतिक जागृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सामाजिक दर्शन के उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है उन्होंने एक ऐसी सर्वांगिक विकसित, न्याय आधारित, समता और स्वतंत्रता की मूर्तरूप सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की जो विवेक और ज्ञानसम्मत हो तथा साथ ही विभिन्न सामाजिक विकृतियों, कुरीतियों और विवेकहीन परंपराओं तथा अंधविश्वासों से मुक्त हो तथा वैज्ञानिक सामाजिक विकास की प्रेरक भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम भी हो, जो किसी विदेशी मॉडल का प्रतिरूप नहीं वरन् पूर्णतः स्वदेशी एवं शुद्ध भारतीय मॉडल का प्रतीक हो। उनकी इस मान्यता को गिस बोल्ड के शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकते हैं। उसके अनुसार, ''दयानन्द शानदार सपनों के स्वप्न दृष्टा थे। उनके पास अंधविश्वासों से मुक्त भारत की दृष्टि थी जो ईश्वर भक्ति एवं विज्ञान से युक्त हो तथा जो स्वशासन हेतु उपयुक्त हो, जो राष्ट्रों के मध्य बंधुत्व में विश्वास करता हो तथा जिसने अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त कर लिया हो।''

1.3.8. स्वामी दयानन्द का राजनीतिक चिंतन

स्वामी दयानन्द ने एक राजनीतिक चिंतक के रूप में विधिवत किसी राजनीतिक सिद्धांतो का प्रतिपादन नहीं किया, लेकिन धार्मिक और सामाजिक जीवन के साथ राजनीति भी उनके विचार का विषय रहा है। देश की राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति वे पूर्ण जागरूक थे। वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र से चयनित उदाहरणों के आधार पर उन्होंने भारत की प्राचीन राजनीतिक विचारावली को पुनर्प्रकाशित कर दिया। दयानन्द का राजनीति चिंतन कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनुस्मृति से प्रभावित है।

मनु समृति से प्रेरित होकर ही उन्होंने एक ऐसे समाज के आदर्श का प्रतिपादन किया जो सर्वांग समुन्नत हो तथा उसमें रहकर व्यक्ति अपना तथा अपने समाज का सर्वांगिक विकास कर सके। समाज एवं व्यक्ति, दोनों के संबंधों को निर्धारित करने में साथ एक महत्वपूर्ण संगठन है जो उन दोनों के अपने अधिकारों और कर्तव्यों का भान ही नहीं कराता वरन् उनके पारस्परिक हित-सिद्धि के आधार पर कैसे निर्वाद किया जा सकता, इसका भी निर्देश देता है। राज्य के इसी रूप को ध्यान में रखकर उन्होंने राज्य के प्रयोजन संगठन शक्ति पर नियंत्रण तथा राज्य की सुरक्षा, आदि विषयों पर अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। यद्धति मनुस्मृति एवं वैदिक चिंतन में वर्णित विचार उनके प्रेरणा स्रोत रहे हैं, लेकिन इन विचारों को इन्होंने हु-ब-हू ग्रहण नहीं किया वरन् आधुनिक परिस्थितियों और संदर्भों को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपनाया। उनके व्यावहारिक रूप देने की दृष्टि से उन्होंने यह आवश्यक समझा। अतः प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन से प्रेरित होते हुए भी उनके द्वारा व्यक्ति राजनीतिक विचार आधुनिकता तथा मौलिकता की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

स्वामी दयानन्द एक धर्म और समाज सुधार आंदोलन के शीर्ष नेता ही नहीं थे, वे एक महान राष्ट्रवादी, लोकतंत्र समर्थक, विश्व-बंधुत्व के संदेशवाहक तथा समस्त विश्व मानवता के कल्याण चिंतक एक सच्चे अंतरराष्ट्रवादी भी थे जो उनके द्वारा दी गई विभिन्न शिक्षाओं से स्पष्ट है। वे लोकतंत्र और अंतरराष्ट्रीयतावाद के भी अग्रदूत थे। उनका राष्ट्रवाद संकीर्ण चरित्र का नहीं वरन् सर्वव्यापी या और वह अंतरराष्ट्रवाद का प्रतीक और प्रतिबिंब था। लोकतंत्र के वे परम् उपासक थे। आर्य समाज के सभी पद निर्वाचित होते थे। उनके द्वारा सुझाई गई राजनीति व्यवस्था में भी आदि से अंत तक सभी पदों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई तथा जनता के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायित्व उनका प्रमुख लक्षण था। वे अपने लोकतंत्र में विश्वास के कारण ही ग्राम, स्वराज्य के माध्यम से सत्ता के विकेंद्रीकृत स्वरूप के समर्थक थे। उनका राज्य ग्राम स्वराज्य का ही प्रतिरूप था। इस प्रकार वे एक कोरे सिद्धांतवादी चिंतक ही नहीं यर्थाथवादी एवं व्यावहारिक चिंतक थे तथा उन्होंने अपने समन्वयवादी और यर्थायवादी चिंतन से समाज के हर क्षेत्र में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक शैक्षणिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में महान योगदान देकर उसपर अपने विचारों की अमिट छाप छोड़ी है। उनका यह बहुआयामी योगदान सदैव स्मरण रखने योग्य ही नहीं, वंदनीय है। दयानन्द के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं-

1.3.8.1. मर्यादित शासन व्यवस्था का आग्रह

दयानन्द की विचारधारा में कहीं राजतंत्रीय व्यवस्था की ओर संकेत है तो कहीं लोकतंत्रीय व्यवस्था की ओर। दयानन्द वंशानुगत राजतंत्र के विरोधी थे। वे शासन की समस्त शक्तियाँ किसी एक व्यक्ति को प्रदान करने पक्ष में नहीं थे। उन्होंने शासक के लिए राजा शब्द के स्थान पर सभाध्यक्ष शब्द का प्रयोग किया है। विद्या-सभा, राज-सभा और धर्म-सभा इन तीनों सभाओं की कल्पना शासन के तीन निकायों, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका से की गई थी और इन सभाओं का गठन चुनाव के आधार पर होना था।

1.3.8.2. स्वतंत्रता और समानता के लिए आग्रह

स्वामी दयानन्द ने व्यक्ति के अधिकारों का कोई औपचारिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया पर स्वतंत्रता और समानता के सिद्धांत का आग्रह अवश्य किया। उनका विचार था कि व्यक्ति आत्मोन्नति का प्रयत्न कर सके इसके लिए उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। लेकिन स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए उन्होंने स्वछंदता का समर्थन नहीं किया।

दयानन्द ने जिस व्यवस्था की कल्पना की है स्वतंत्रता के साथ समानता उसका मूल आधार है। इस व्यवस्था में श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक सभी अधिकार लिंग, जन्म, जाति, धर्म, संपत्ति आदि भेदभाव के बिना सभी व्यक्तियों को प्राप्त होने चाहिए।

1.3.8.3. सत्ता का विकेंद्रीयकरण और ग्राम प्रशासन

एक राज्य के प्रशासन हेतु दयानन्द ने उसके विकेंद्रीकृत स्वरूप का समर्थन किया है। मनुस्मृति में उन्होंने राज्य को 'ग्रामों का संघ' कहा है। दयानन्द ऐसे विशाल राज्य का निर्माण करना चाहते थे जिसका मूल इकाई 'ग्राम' है। उन्होंने राज्य प्रशासन को ग्रामों की एक शृंखला के रूप में विकेंद्रित आधार पर संचालित करने का सुझाव दिया है। 'मनुस्मृति' के आधार पर ग्रामों के प्रशासनिक तंत्र का अभिन्न अंग बनाने पर जोर दिया। दयानन्द ने गाँवों की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के पतन पर खेद व्यक्त किया है। मनुस्मृति से प्रेरित होकर दयानन्द ने उस विकेंद्रित ग्राम स्वराज्य की कल्पना प्रस्तुत की जो बाद में जाकर भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के शीर्ष नेता महात्मा गांधी के द्वारा प्रतिपादित स्वावलंबी ग्राम स्वराज्य की प्रेरणा का मुख्य आधार बनी।

1.3.8.4. न्याय, दंड एवं कर व्यवस्था

स्वामी दयानन्द वैयक्तिक जीवन में अहिंसा के पक्षधर थे लेकिन महात्मा गांधी की तरह राज्य के संदर्भ में निरपेक्ष अहिंसा का समर्थन न करके उन्होंने सापेक्ष अहिंसा का समर्थन करते हुए उसके द्वारा शांति और व्यवस्था बनाए रखने तथा उसको भंग करने वाले अपराधियों के लिए उचित दंड की व्यवस्था किए जाने के मत का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि अपराध किए जाने पर व्यक्ति को दंडित किया जाना चाहिए ताकि भविष्य में होने वाले अपराधों पर अंकुश लगाया जा सके। एक राज्य जो अपनी दंड शक्ति का समुचित उपयोग करने में सक्षम होता है वही राज्य स्वयं को सुसंचालित करने में समर्थ होता है। दयानन्द के अनुसार न्याय राज्य का एक महत्वपूर्ण दायित्व है। न्यायिक शक्ति का उपयोग धर्म के अनुकूल व पक्षपात रहित होकर किया जाना चाहिए। न्याय की शक्ति का प्रयोग सुयोग्य विद्वानों द्वारा गठित 'धर्मसभा' द्वारा किया जाना चाहिए। उन्होंने मनु के इस विचार को दोहराया कि न्यायिक शक्ति का दुरुपयोग करने वाले तथा पक्षपात करने वाले न्यायाधीशों को दंडित किया जाना चाहिए।

दयानन्द ने कर व्यवस्था के संबंध में भी समान्यतः मनुस्मृति में प्रतिपादित विचारों का समर्थन किया। प्रजा पर अधिक मात्रा में या अनावश्यक कर नहीं लगाए जाने चाहिए। शासन व्यवस्था के सुसंचालन के लिए प्रजा का कारारोपण आवश्यक है। इसी के माध्यम से वह आवश्यक आर्थिक साधन जुटाकर न सिर्फ प्रज्ञा को आंतरिक और बाह्य सुरक्षा प्रदान कर सकता है वरन् प्रजाहित सिद्धिहेतु विभिन्न जनकल्याणकारी कार्यों का भी सफल संयोजन करने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से मनुस्मृति के अनुसार राज्य के कारारोपण कार्य का समर्थन करते हुए दयानन्द ने यह प्रतिपादित किया है कि राज्य द्वारा प्रजाहित को ध्यान में रखकर ही उसके लिए आवश्यक धन संग्रह हेतु कर लगाए जाने चाहिए, ताकि उनको चुकाने में प्रजा को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े तथा वह स्वेच्छा से कर चुकाने हेतु तत्पर हो सके। कर व्यवस्था का मूल आधार प्रजा का शोषण नहीं उसका हित होना चाहिए तथा उसके अधिकांश भाग का व्यय जन-हितकारी कार्यों के संयोजन हेतु ही किया जाना चाहिए।

1.3.8.5. अंतरराज्य संबंध, सैन्य व्यवस्था और युद्ध

दयानन्द का मत था कि राज्य के लिए स्वयं की सुरक्षा अत्यधिक महत्व का विषय है। अतः राज्य को इसके लिए सतत् सावधान रहना चाहिए। दयानन्द ने राज्य की सुदृढ़ता पर विशेष बल देते हुए संगठित 'चक्रवर्ती साम्राज्य' की परिकल्पना की है। राज्य की सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। वैदेशिक संबंधों के संचालन में जनता के हित और राष्ट्रहित को ही सर्वाधिक महत्व दिया। वे सुदृढ़ और सुसंगठित दूतव्यवस्था एवं गुप्तचर व्यवस्था को अपनाने के पक्षधर थे ताकि शासक को राज्यों की गतिविधियों का निरंतर ज्ञान होता रहे तथा प्राप्त सूचना के आधार पर वह तर्कसंगत व्यावहारिक एवं राज्य के हित में निर्णय ले सके। उन्होंने कहा कि "एक राजा को साम, दाम, दंड तथा भेद की नीति अपनाकर अपने पड़ोसी राष्ट्रों से ऐसे परराष्ट्र संबंध विकसित करना चाहिए जिससे जो लाभ वह युद्ध के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है वह उन लाभों को शांतिपूर्ण तरीका अपनाकर भी प्राप्त कर सकता है। सद्भाव, सहयोग और मैत्रीपूर्ण आधार पर वह इन संबंधों को उसे निरंतर विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए।"

राज्य की सैन्य शक्ति संगठित और समर्थ होनी चाहिए ताकि वह किसी बाहरी आक्रमण का प्रतिकार कर सके। उसे एक सुनियोजित तथा संगठित सैन्य दलों का संगठन करना चाहिए। उचित सैन्य शक्ति की नीति का अनुसरण कर स्वयं को इतना सुदृढ़ बना लेना चाहिए कि कोई अन्य राष्ट्र उसपर आक्रमण करने का साहस न कर सके।

1.3.8.6. सार्वभौम मानवतावाद या अंतरराष्ट्रवाद के जनक

सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार- ''समाज का प्राथमिक उद्देश्य मनुष्य जाति की शारीरिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक दशा में सुधार कर समस्त विश्व के मानव जाति का कल्याण करना है। मैं उस धर्म को स्वीकार करता हूँ जो ऐसे मानवतावादी सार्वभौम सिद्धांतों पर आधारित है तथा जिसमें यह सब समाविष्ट है। जिसको मनुष्य जाति सत्य समझकर सदैव स्वीकार करती आई है तथा जिन्हें वह भविष्य में भी स्वीकार करती रहेगी।'' दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक विचारों के उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि इस दृष्टि से उनके प्रेरणास्रोत प्राचीन भारत के गौरवशाली इतिहास और ग्रंथों में निहित है तथापि वे देश को पीछे ले जाने वाले नहीं वरन् प्रगति पथ का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करने वाला हैं। अतः वे प्राचीन होते हुए भी आधुनिक हैं, विवेक और विज्ञान सम्मत हैं, तथा उनको व्यक्त करने में स्वामी दयानन्द ने पूर्ण मौलिकता का परिचय दिया। इसी कारण से उनके राजनीतिक विचार आधुनिक भारतीय राष्ट्रोत्थान की उस पृष्ठभूमि का निर्माण करने में सक्षम सिद्ध हुए जिसपर वह वर्तमान में आधारित हीं नहीं वरन् विकासोन्मुख भी है। स्वामी दयानन्द पुनरुत्थानवाद के प्रतीक तथा राष्ट्रवाद के पुजारी थे लेकिन इसके साथ ही उनके हृदय में संपूर्ण विश्व के लिए सद्भाव था। इस दृष्टि से वे सार्वभौम मानवतावाद के पुजारी थे।

इसके अतिरिक्त दयानन्द सत्य की खोज में संलग्न थे। उन्होंने अपने अध्ययन के क्रम में वैदिक धर्म को ही प्राणी मात्र के लिए सबसे अधिक हितकारी पाया था। स्वामी जी का विश्वास था कि सभी धर्मो का शांतिपूर्ण-सह अस्तित्व संभव है। उनका उद्देश्य मानव मात्र की मुक्ति था। दयानन्द में मानवता और विश्व-बंधुत्व के प्रति अद्भूत लगन थी और उसकी पूर्ति की दिशा में कार्य करने में उन्हें अत्यंत प्रसन्नता होती थी। दयानन्द के राजनीतिक चिंतन में आधुनिकता और प्रगतिशीलता के तत्व नीहित है।

1.3.8.7. स्वामी दयानंद के लोकतंत्र संबंधी विचार

दयानन्द लोकतंत्रवादी थे और प्राचीन भारत की राजनीतिक परंपरा, जो लोकतांत्रिक आदर्शों पर आधारित थी में उनकी पूर्ण निष्ठा थी। लोकतंत्र के प्रति उनके अनुराग का पता निम्न तथ्यों से मिलता है-

1. जिस आर्य समाज की स्थापना दयानन्द ने की उसका संगठन चुनाव पर आधारित था। आर्य समाज के सभी पदाधिकारी निर्वाचित होते थे। निर्वाचन के सिद्धांत को अपनाना हिंदू व्यवस्था में एक क्रांतिकारी कदम था।
2. जिस आदर्श राजतंत्र की रूपरेखा दयानन्द से प्रस्तुत की उसकी सरकार के सभी स्वीकृत और विधिक अंगों के निर्माण के लिए उन्होंने लोकतांत्रिक सिद्धांत को स्वीकार किया। उन्होंने धर्माय-सभा विधार्य-सभा, और राजार्य-सभा तीन निकायों का संगठन तथा कार्य निश्चित कर दिए। इन निकायों को नियंत्रण तथा संतुलन का पालन करना था। इसका आशय यह था कि किसी एक व्यक्ति में चाहे वह कितना भी अच्छा क्यों न हो सत्ता केंद्रीभूत नहीं होनी चाहिए। राजा और संसद दोनों को ही जनता की इच्छा का सम्मान करना चाहिए।
3. दयानन्द ने न्यायप्रिय शासक की कल्पना की। अकेला स्वाधीन और उन्मुक्त राजा प्रजा का नाशक होता है।
4. उन्होंने अमर्यादित खंड की व्यवस्था नहीं की।
5. दयानन्द को स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व के आधारभूत लोकतांत्रिक सिद्धांतों में पूरा विश्वास था। उनके अनुसार लोकतंत्र व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता वरन् व्यक्तियों को स्वतंत्र विकास का अवसर प्रदान करता है।

1.3.9. स्वामी दयानन्द के धार्मिक विचार

स्वामी दयानन्द मूलतः एक धर्मपुरुष थें उनका मुख्य कार्य धर्म का प्रचार करना था। वे आर्यधर्म को प्राचीन धार्मिक धरोहर मानते थे और वेद उनके लिए धरोहर के मूर्तीमान स्वरूप थे। उनके कुछ प्रमुख धार्मिक विचार इस प्रकार हैं-

1.3.9.1. एकेश्वरवाद में विश्वास

स्वामी दयानन्द एकेश्वरवादी थे। उनका कहना था कि जैसे परमात्मा के अनन्य गुण और स्वभाव है वैसे ही उनके अनेक नाम भी हैं, पर अनेक नामों के होते हुए भी तत्व रूप में ईश्वर एक ही हैं। ओउम् परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। धार्मिक मत-मतांतरों के आधार पर हिंदू समाज में प्रचलित विवादों का उन्होंने सदैव ही विरोध किया। उन्हें ईश्वर की सर्वव्यापकता और अनन्य सत्ता में विश्वास था।

1.3.9.2. मूर्तिपूजा का विरोध

बाल्यकाल की घटना से स्वामी जी के मन में मूर्तियों के प्रति विरक्ति भाव पैदा हो गए थे और मूर्ति पूजा का विरोध उनके धार्मिक चिंतन और विश्वास का एक अनिवार्य अंग बन गया। उन्होंने मूर्ति पूजा के समर्थकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और बहुत से मूर्ति पूजक विद्वान तो मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित करके उनके शिष्य बन गए।

1.3.9.3. इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रति दृष्टिकोण

स्वामी जी ने वैदिक धर्म श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ईसाई मत और इस्लाम का उन्हीं की मान्यताओं के आधार पर खंडन शुरू किया। परिणाम स्वरूप मौलवियों और पादरियों से उनका संघर्ष प्रारंभ हो गया। लेकिन इन दोनों धर्मों के प्रति उनके मन में न तो संकुचित दृष्टिकोण था और नहीं द्वेषभाव। आक्रमण की स्थिति में प्रत्याक्रमण ही बचाव का सही मार्ग हो सकता है। अतः तत्कालीन परिस्थितियों में हिंदू धर्म की रक्षा के लिए इस्लाम और इसाई मत पर आक्रमण आवश्यक हो गया था। वैदिक धर्म में दृढ़ आस्था रखने वाले इस सन्यासी ने प्राणी मात्र के कल्याण हेतु उनके वैदिक मत की ओर अनुप्रेरित किया।

1.3.9.4. शुद्धि आंदोलन

दयानन्द के 'शुद्धि आंदोलन' ने धार्मिक क्षेत्र में एक नया विवाद को जन्म दिया। उन्होंने घोषणा की कि जिन हिंदुओं ने हिंदू धर्म को त्यागकर अन्य धर्मों को ग्रहण कर लिया है वे अगर चाहे तो पुनः हिंदू धर्म स्वीकार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अहिंदू भी यदि चाहे तो हिंदूधर्म में प्रवेश कर सकते हैं।

स्वामी दयानन्द का विरोध इस्लामिक समाज से नहीं था बल्कि, विभिन्न धर्मशास्त्र की उन शिक्षाओं से था जिन्हें वे बुद्धि विरोधी समझते थे। वे मुस्लिम या ईसाई समाज के राजनीतिक या आर्थिक हितों के विरोधी नहीं थे। यही कारण है कि स्वामी दयानन्द के अन्य धर्मावलंबियों के प्रमुख व्यक्ति जैसे- सर सैयद अहमद खाँ, पादरी स्कॉट आदि का बहुत सम्मान प्राप्त थे। मूलतः वे स्वामी जी के न्यायप्रियता, मानवतावादी दृष्टीकोण और निर्भयता से प्रभावित थे।

स्वामी जी धार्मिक क्षेत्र में भी संपूर्ण अंशों में समानता के सिद्धांत को अपनाने के पक्षधर थे। स्वामी जी ने स्पष्ट घोषणा की कि स्त्री और पुरुष को वेद के पठन-पाठन का उतना ही अधिकार है जितना पुरोहित वर्ग के किसी व्यक्ति को हो सकता है। उन्होंने पुरोहितवाद, वितंडावाद, और पाखंडवाद के विरूद्ध जीवन-पर्यंत संघर्ष किया। उनका उद्देश्य धर्म के सभी प्रकार के आडंबरों से मुक्त कर उसे मानवता की सेवा में संलग्न करना था।

1.3.10. स्वामी दयानन्द के शिक्षा संबंधी विचार

दयानन्द शिक्षा को मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग मानते थे। उनके अनुसार जितने भी दान है उनमें विद्या दान सर्वश्रेष्ठ है। उनके शिक्षा संबंधी विचार वैदिक परंपरा के पोषक हैं। वे शिक्षण संस्थानों को गुरुकुल परंपरा के अनुसार संगठित करना चाहते थे जहाँ विद्यार्थियों का रहना आवश्यक था। नगर या ग्राम से लगभग 5 मील दूर आवासीय शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना उनका ध्येय था। इन शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों को अपनी शिक्षा पूरी करने तक वे आवश्यक मानते थे।

दयानन्द ने ऐसी शिक्षा पद्धति अपनाने पर बल दिया जो पूर्णरूप से राष्ट्रीय हो और जो ऐसा नागरिक उत्पन्न करे जिसमें समाज के प्रति कर्त्तव्य पारायणता और उत्तरदायित्व की भावना विद्यमान हो।

दयानन्द ने नारी-शिक्षा पर उतना ही बल दिया जितना पुरुषों की शिक्षा पर लेकिन वे सह-दिशा के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि प्रत्येक समाज में लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग शिक्षण संस्थाएँ होनी चाहिए। दोनों की शिक्षा पद्धति शिक्षा के विषय और पाठ्यक्रम में भी भिन्नता होना जरूरी है।

दयांनन्द ने देश की एकता के प्रसंग में भी शिक्षा को महत्वपूर्ण माना। उनकी शिक्षा योजना में हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए भी स्थान है। आर्य समाज ने गुरुकुलों के साथ-साथ सारे देश में पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था पर आधारित स्कूल और कॉलेज भी स्थापित किया है। ये शिक्षण संस्थाएँ ही स्वामी दयानन्द के सच्चे स्मारक हैं।

1.3.11. स्वामी दयानन्द का योगदान

स्वामी दयानन्द भारतीय राष्ट्रवाद के अध्यात्मिक पैगंबर थे। हिंदू समाज और हिंदू धर्म में उनका वही स्थान है जो ईसाई धर्म में मार्टिन लूथर का है। वे कोरे संन्यासी नहीं थे बल्कि एक महान समाज-सुधारक और कट्टर देशभक्त थे। उन्होंने परोक्ष रूप से स्वतंत्र राजनीति जीवन की नींव डाली। उन्होंने चरित्र निर्माण नैतिक शिक्षा शुद्धता और ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया। भारतीय समाज और भारत राष्ट्र के उत्थान में उनका योगदान बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने परोक्ष रूप से स्वतंत्र राजनीतिक जीवन की नींव डाली। उन्होंने चरित्र निर्माण, नैतिक शिक्षा, शुद्धता तथा ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया। उन्होंने वैदिक स्वराज्य का गुणगान किया। यद्यपि वे देश को स्वतंत्र देखना चाहते थे किंतु वे उस समय खुलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भर्त्सना न कर सके। अतः उन्होंने स्वराज्य के सिद्धांत का प्रतिपादन करके ही संतोष कर लिया। स्वराज्य के सिद्धांत की शिक्षा देकर दयानन्द ने भावी स्वतंत्रता की नींव तैयार कर दी।

दयानन्द का उद्देश्य भारतीय समाज का पुनरुत्थान था और इसके लिए समाज को अंधविश्वासों और कुरीतियों से मुक्त करना आवश्यक था। अतः उन्होंने बाल-विवाह, बहु-विवाह, विधवा-विवाह, नारी-अशिक्षा और अधोगति छुआछूत और दहेज-प्रथा, आदि सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध युद्ध प्रारंभ कर दिया। साहित्यकार दिनकर के शब्दों में- ''उन्होंने धीरे-धीरे पपड़ियाँ (सामाजिक कुरीतियों की पपड़ियाँ) तोड़ने का काम न करके उन्हें एक ही चोट में साफ कर देने का निश्चय किया। दयानन्द के अन्य समकालीन सुधारक केवल सुधारक मात्र थे किंतु दयानन्द क्रांति के वेग से आए।'' दयानन्द गणतंत्रीय शासन व्यवस्था के पोषक थे। उन्होंने लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण एवं ग्रामीण शासन का आदर्श प्रस्तुत किया। उस युग में उन्होंने निर्वाचन पद्धति का समर्थन किया। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज आंदोलन ने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को अनेक महान नेता तथा अनुयायी प्रदान किया। वे भारत में स्वतंत्रता के महान संदेशवाहक थे। यदि यह भी मान लिया जाय कि दयानन्द हिंदू एकता के समर्थक थे तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को बल दिया क्योंकि हिंदू जिनका भारत में भारी बहुमत था संगठित हो जाते तो वे निश्चय ही ब्रिटिश शक्तियों को चुनौती दे सकते थे। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में ''स्वामी दयानन्द एक महान सुधारक और प्रखर क्रांतिकारी पुरुष तो थे ही, साथ ही उनके हृदय में सामाजिक अन्यायों को उखाड़ फेंकने की प्रचंड अग्नि भी प्रज्वलित थी।'' उन्होंने अपने उदार और विवेक सम्मत सामाजिक दर्शन के द्वारा भारतीय सामाजिक जीवन में धर्म, जाति, वर्ण आदि आधार पर प्रचलित रूढ़ियों, अंधविश्वासों और कुरीतियों का खंडन ही नहीं किया वरन् भारतीयों को अपने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव से परिचित कराकर उसमें आत्मसम्मान की भावना को जागृत भी किया। इस तरह उन्होंने भारतीय समाज सुधार की दृष्टि से साकारात्मक और नाकारात्मक दोनों ही तरह की भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने इस उद्देश्य से वेदों की ओर लौटने का संदेश देकर जिस तरह 16वीं शताब्दी में यूरोपीयन धर्म सुधार आंदोलन में मार्टिन लूथर द्वारा बाइबिल की ओर लौटने का संदेश देकर ईसाई धर्म में

सुधारवादी भूमिका का निर्वाह किया गया था, ठीक वैसे ही सुधारवादी भूमिका भारतीय धर्म सुधार आंदोलन दयानन्द द्वारा निभाई गई।

स्वामी दयानन्द ने 10 अप्रैल, 1875 ई. को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। इस समाज ने हिंदू जाति के उत्थान के लिए जीवनपर्यंत माध्यम का कार्य किया। इस संस्था ने हिंदू जाति को संगठित कर अन्याय अंधविश्वास और कुरीतियों के विरूद्ध संघर्ष के लिए उन्हें साहस दिया। उनमें देश प्रेम की भावना जागृत की। शिक्षा के क्षेत्र में भी इसका योगदान सर्वविदित है।

भारतीय राजनीति में उग्रवाद के जन्म और विकास में आर्य समाज आंदोलन का सीधा हाथ था। न केवल लाल-बाल-पाल की त्रिमूर्ती स्वामी दयानन्द की शिक्षा से प्रभावित थे अपितु खारपड़े और अरविन्द जैसे उग्रवादी नेता तो महर्षि से भी दो कदम आगे बढ़ गए। अरविन्द के शब्दों में- ''राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर से प्राप्त होता है। उन्होंने हिंदू समाज को आत्मग्लानि और हीनता के बोध से मुक्त किया। स्वयं नैतिक साहस का परिचय देकर देश की जनता में साहस का संचार किया। अस्पृश्यता का अंत स्वधर्म स्वभाषा और स्वदेशी पर बल देकर उन्होंने स्वराज्य के लिए मानसिक पृष्टभूमि तैयार कर देश की स्वतंत्रता की नैतिक और बौद्धिक नींव रखी। दयानन्द संगठित और स्वतंत्र भारत के स्वप्नद्रष्टा थे। उन्होंने बुद्धिवाद की मशाल जलाई और मूर्तिपूजा, पुरोहितावाद तथा धार्मिक वितंडावाद पर कठोर प्रहार किए। इसके साथ ही उन्होंने हिंदू समाज को स्वाभिमान और आत्मगौरव प्रदान करने के लिए इस दोहरे उपचार ने हिंदुत्व को पुनः जीवित कर दिया। वे हिंदुओं के एक ऐसे नेता सिद्ध हुए जिसने उन्हें निराशाओं से मुक्त करने और उसमें नया विश्वास जाग्रत करने की दिशा में ठोस कार्य किया।

उन्होंने देशी रियासतों के नरेशों को व्यक्तिगत जीवन में सुधार की प्रेरणा दी और इस बात पर बल दिया कि भारत देश के प्रति भी उनके कुछ कर्त्तव्य है। एक विचारक के रूप में उन्होंने राजसत्ता पर नैतिक नियंत्रणों की व्यवस्था की। उनका आदर्श सदैव ही जनहित पर आधारित 'मर्यादित शासन' रहा जिसे आज 'संविधानवाद' कहा जाता है। स्वामी दयानन्द निजी जीवन में तप, त्याग, तपस्या, क्षमा, सदाचार और शांति के प्रतिमूर्ति थे लेकिन सामाजिक हित के लिए निर्भयता के साथ और वीरतापूर्ण संघर्ष में विश्वास रखते थे। भारत के धार्मिक तथा सामाजिक पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय जागृति में सत्य के इस पुजारी का भारी योगदान रहा है।

1.3.12. सारांश

स्वामी दयानन्द एक धर्म और समाज सुधार आंदोलन के शीर्ष नेता ही नहीं थे, वे एक महान राष्ट्रवादी, लोकतंत्र समर्थक, विश्व-बंधुत्व के संदेशवाहक तथा समस्त विश्व मानवता के कल्याण चिंतक एक सच्चे अंतरराष्ट्रवादी भी थे, जो उनके द्वारा दी गई विभिन्न शिक्षाओं से स्पष्ट है। वे लोकतंत्र और अंतरराष्ट्रीयतावाद के भी अग्रदूत थे। उनका राष्ट्रवाद संकीर्ण चरित्र का नहीं वरन् सर्वव्यापी था और वह अंतरराष्ट्रवाद का प्रतीक और प्रतिबिंब था। लोकतंत्र के वे परम् उपासक थे। आर्य समाज के सभी पद निर्वाचित होते थे। उनके द्वारा सुझाई गई राजनीति व्यवस्था में भी आदि से अंत तक सभी पदों के निर्वाचन की व्यवस्था की तथा जनता के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायित्व उसका प्रमुख लक्षण था। वे अपने लोकतंत्र में विश्वास के कारण ही ग्राम, स्वराज्य के माध्यम से सत्ता के विकेंद्रीकृत स्वरूप के समर्थक थे। उनका राज्य ग्राम स्वराज्य का ही प्रतिरूप था। इस प्रकार वे एक कोरे सिद्धांतवादी चिंतक ही

नहीं यर्थाथवादी एवं व्यावहारिक चिंतक थे तथा उन्होंने अपने समन्वयवादी और यर्थायवादी चिंतन से समाज के हर क्षेत्र- सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक शैक्षणिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में महान योगदान देकर उसपर अपने विचारों की अमिट छाप छोड़ी है। उनका यह बहुआयामी योगदान सदैव स्मरण रखने योग्य ही नहीं, वंदनीय है।

1.3.14. पारिभाषिक शब्दावली

पुनर्जागरण	-	नवचेतना
पुरोहितावाद	-	ब्राह्मणवाद
अश्पृश्यता	-	छुआछुत
शरीरांत	-	शरीर का अंत
पुरुषार्थ	-	स्वयं शक्ति

1.3.15. बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. निम्न में से कौन-सा पुस्तक दयानन्द की कृत्तियों में सम्मिलित नहीं है।
   (अ) सिद्धांत कौमुदी (ब) ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका
   (स) वेदांग प्रकाश (द) अष्टाध्यायी भाषा
2. दयानन्द ने वेदों में वर्णित ज्ञान के विशाल भंडार को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया है, ये चार श्रेणियाँ हैं-
   (अ) कर्म, चिंतन, उपासना और ज्ञान
   (ब) ब्रह्म, ज्ञान,परा, अपरा व कर्म
   (स) विज्ञान, कर्म उपासना व ज्ञान
   (द) विज्ञान, ज्ञान, उपासना व ब्रह्म विद्या
3. निम्न में से कौन सा, राष्ट्रवाद के संबंध में दयानन्द के आग्रहों से संगत नहीं है-
   (अ) स्वदेशी व विदेशी के मध्य विवेक सम्मत संतुलन
   (ब) सामाजिक एकता के माध्यम से राष्ट्र की सुदृढ़ता पर बल
   (स) हिंदी भाषा के प्रयोग पर बल
   (द) भारतीयों में निर्भिकता तथा चारित्रिक दृढ़ता के विकास पर बल
4. निम्न में से कौन-सा कथन दयानन्द के राजनीतिक विचारों से संगत नहीं है-
   (अ) व्यक्ति की स्वतंत्रता का आग्रह
   (ब) राजा के देवत्व का समर्थन
   (स) राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप का प्रतिपादन
   (द) विधि के शासन पर बल
5. निम्न में से कौन-सा शिक्षा के विषय में दयानन्द के दृष्टिकोण का विषय नहीं है-
   (अ) दयानन्द ने शुद्रों और स्त्रियों सहित सभी को शिक्षा का अधिकार प्रदान करने पर बल दिया
   (ब) दयानन्द ने सह शिक्षा का समर्थन किया

(स) दयानन्द ने बालक और बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा बनाने पर बल दिया।

(द) दयानन्द ने शिक्षा के लिए प्राचीन भारत में प्रचलित गुरुकुल प्रणाली को पुनर्जीवित करने पर बल दिया।

उत्तर- 1. (अ), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब), 5. (ब)

1.3.15.1. लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. स्वामी दयानन्द ने किस संस्था की और कब स्थापना की।
2. स्वामी दयानन्द के राष्ट्रवाद की किस प्रकार पोषण किया।
3. स्वामी दयानन्द के राजनीतिक चिंतन की मुख्य बातें लिखिए।
4. स्वामी दयानन्द के प्रमुख धार्मिक विचार लिखिए।
5. स्वामी दयानन्द के सामाजिक चिंतन की मुख्य बातें लिखिए।
6. स्वामी दयानन्द की शिक्षा का क्या अर्थ है?
7. स्वामी दयानन्द की देन क्या है?

1.3.15.1. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए और स्पष्ट कीजिए कि दयानन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद के उत्थान की दिशा में किस प्रकार कार्य किए।
2. स्वामी दयानन्द के राजनीतिक चिंतन की विवेचना कीजिए।
3. स्वामी दयानन्द की धार्मिक और सामाजिक चिंतन पर प्रकाश डालिए।
4. ''धार्मिक और सामाजिक जीवन को अंधकार से मुक्त करने के लिए दयानन्द ने एक क्रांतिकारी की भूमिका निभाई'' स्पष्ट कीजिए।
5. भारत के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन को दयानन्द की देन बताइए।
6. ''दयानन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद के प्राण फूँके और स्वतंत्रता के लिए बौद्धिक तथा नैतिक नीव तैयार की'' स्पष्ट कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए।

   (क) दयानन्द के चिंतन का मूलस्रोतत- वेद

   (ख) शिक्षा व्यवस्था के संबंध में स्वामी दयानन्द के विचार।

1.3.16. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. फाड़िया डॉ. बी.एल., 2008, राजनीति चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा पृष्ठ संख्या 75-81
2. वर्मा, डॉ. वी.पी., 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, पृष्ठ संख्या- 35-60
3. नागर, डॉ. पुरुषोत्तम : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
4. सूद, प्रो. ज्योति प्रसाद : आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएँ, जय प्रकाश नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ
5. जैन, डॉ. पुखराज एवं मेहता प्रो. जीवन, 2008, राजनीति विज्ञान, एस.वी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा

इकाई-4 : स्वामी विवेकानन्द

इकाई की रूपरेखा

1.4.1. उद्देश्य
1.4.2. जीवन परिचय
1.4.3. चिंतन के स्रोत एवं रचनाएँ
1.4.4. विवेकानन्द के आदर्श
1.4.5. विवेकानन्द के धार्मिक विचार
1.4.5.1. वेदांत - एक संदेशवाहक
1.4.5.2. धर्म की आवश्यकता
1.4.5.3. हिंदू धर्म और मानव जाति का उद्धार
1.4.5.4. मूर्ति पूजा का समर्थन
1.4.5.5. सार्वभौम धर्म का संदेश
1.4.6. विवेकानन्द के राजनीतिक विचार
1.4.6.1. राष्ट्रवाद का धार्मिक सिद्धांत
1.4.6.2. स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा
1.4.6.3. शक्ति एवं निर्भयता का संदेश
1.4.6.4. व्यक्ति की गरिमा
1.4.6.5. आदर्श राज्य की धारणा
1.4.6.6. अंतरराष्ट्रीयतावाद एवं विश्व बंधुत्व की धारणा
1.4.6.7. नागरिक कर्तव्यों पर जोर
1.4.7. विवेकानन्द के सामाजिक विचार
1.4.7.1. जाति व्यवस्था एवं ब्राह्मण प्रभुत्व का विरोध
1.4.7.2. तत्कालीन शिक्षा पद्धति का विरोध
1.4.7.3. पश्चिमी अंधानुकरण का विरोध
1.4.7.4. अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक कर्तव्यों पर जोर
1.4.7.5. शांतिपूर्ण साधनों से सामाजिक परिवर्तन में विश्वास
1.4.7.6. विवेकानन्द का समाजवाद
1.4.8. शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन
1.4.9. विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार
1.4.10. स्वामी विवेकानन्द एवं देश का पुनर्निर्माण
1.4.11. योगदान
1.4.12. सारांश
1.4.13. पारिभाषिक प्रश्नावली
1.4.14. बोध प्रश्न
1.4.15. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1.4.1. उद्देश्य

1. स्वामी विवेकानन्द की जीवनी एवं रामकृष्ण परमहंस से संपर्क के बारे में जान सकेंगे।
2. विवेकानन्द के तीन उद्देश्य को जान सकेंगे।
3. विवेकानन्द के आदर्श को समझ सकेंगे।
4. धार्मिक विचार की जानकारी प्राप्त होगी।
5. विवेकानन्द के राजनीति दर्शन को समझ सकेंगे।
6. राष्ट्रवाद संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
7. विवेकानन्द के समाजवादी विचारधारा को समझ सकेंगे।
8. सामाजिक चिंतन को समझ सकेंगे।
9. शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन के बारे में जान सकेंगे।
10. विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार किस प्रकार हुआ इसे समझ सकेंगे।
11. स्वामी विवेकानन्द ने देश का पुनर्निर्माण का प्रयास किस प्रकार एवं कैसे किया इस संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.4.2. जीवन परिचय

स्वामी विवेकानन्द प्लेटो और अरस्तु की भाँति कोई राजनीतिक चिंतक नहीं थे न ही उन्होंने किसी राजनीति सिद्धांत को विकसित किया, लेकिन यत्र-तत्र अपने भाषणों में और अपनी रचनाओं में उन्होंने जो विचार व्यक्त किया इससे वे भारतीय राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धांत की नीव का निर्माण करना चाहते थे। विश्व उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जानता है जिनकी बुद्धि प्रकांड थी और जिसने अपने प्रचंड इच्छा शक्ति को भारत के पुनरुद्धार के कार्य में लगा दिया। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि वे ऋग्वेद से लेकर कालिदास, कॉण्ट और स्पेंसर तक प्रत्येक वस्तु स्पष्ट एवं स्वयं प्रकाशित थी। उनका व्यक्तित्व अद्भूत था। उन्होंने सन्यास तथा समाजसेवा दोनों का उपदेश दिया। उनकी वैदिक दृष्टि बड़ी स्वच्छ थी। उनका मन देश के जीवन में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक और नैतिक बुराइयों को देखकर छटपटाया करता था। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि देश और विदेश दोनों को प्राचीन हिंदू धर्म की गौरवशाली महानता और उसकी श्रेष्ठता से विश्व और विशेषकर पश्चिमी जगत को परिचित कराया जाय। इस महान उत्तरदायित्व का निर्वहन स्वामी विवेकानन्द द्वारा किया गया। उन्होंने भारतीय धर्म एवं संस्कृति की महानता से अपने गरिमामय व्यक्तित्व और कृतित्व से पश्चिमी देशों को परिचित ही नहीं कराया वरन् उसका उन्मूलन कर उसके स्थान पर ईसाई धर्म को प्रतिष्ठित करने की अपनी भूल से भी उनको अवगत कराया।

विवेकानन्द का मूल नाम नरेन्द्र दत्त था। उनका जन्म 12 जनवरी 1863 को कलकत्ता के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता विश्वनाथ दत्त उच्च न्यायालय में वकील थे एवं माता भुवनेश्वरी देवी एक प्रगाढ़ धर्म परायण महिला थी। इस कारण बचपन से ही उनमें करूणा, सहृदयता सहानुभूति, सात्विकता, ईश्वर-भक्ति और अध्यात्मवृति के गुण स्वाभाविक से हो जो अनुकूल वातावरण पाकर निरंतर विकसित होते गए। उनमें गंभीर श्रद्धा भक्ति और दार्शनिक दृष्टि विद्यमान थी। कुशाग्र बुद्धि और तर्कशीलता उनके स्वभाव के अभिन्न अंग थे। मेघावी और जिज्ञासु छात्र होने के नाते उन्होंने पूरब और पश्चिम का तुलनात्मक अध्ययन किया था। वे वेद, गीता, रामायण का ही नहीं बल्कि पश्चिम विद्वानों ह्यूम,

काण्ट, हीगल, मिल, डार्विन, मार्क्स आदि के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सामाजिक सिद्धांतों में भी भली-भाँति परिचित थे। एक कुशाग्रबुद्धि छात्र के रूप में स्नातक स्तर की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की। पिता की आकस्मिक मृत्यु के कारण वे इससे आगे अपना अध्ययन जारी नहीं रख सके।

विवेकानन्द में स्वभाविक रूप से आस्तिकता एवं अध्यात्मवादिता कुट-कुट कर भरी हुई थी तथा उनका मन इनके संबंध में अनंत जिज्ञासाओं से भरा हुआ था। उनका जिज्ञासु मन सदैव विभिन्न प्रकार के प्रश्नों से घिरा रहता था। उनका प्रमुख प्रश्न ईश्वर के अस्तित्व को लेकर था। क्या ईश्वर का अस्तित्व है तथा क्या उनसे साक्षात्कार किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए वे सच्चे गुरु और पथ-प्रदर्शक की खोज करते हुए नवंबर 1881 में दक्षिणेश्वर स्थित स्वामी रामकृष्ण परमहंस के पास जा पहुँचे जिन्होंने उनकी सारी जिज्ञासाओं को तार्किक आधार पर शांत कर दिया, तब उन्होंने स्वयं को उनके चरणों में अर्पित कर दिया एवं उनके शिष्य बन गए। अपने जीवन के अगले छह वर्ष तक उन्होंने अपने गुरु के चरणों में बैठकर उनसे अध्यात्म की शिक्षा प्राप्त की। अस्वस्थ तथा रूग्ण रहने के कारण 1886 ई. में स्वामी रामकृष्ण परमहंस का देहावसान हो गया। स्वामी जी के निधन के पश्चात् उनके सभी शिष्यों ने नरेन्द्रनाथ सहित सन्यास आश्रम में प्रवेश कर उनके अधूरे कार्य को पूर्ण करने का संकल्प लिया। सन्यास धारण करने के पश्चात् नरेन्द्रनाथ ने अपना नाम परिवर्तन कर विवेकानन्द रख लिया तथा इसी नाम से वे बाद में विश्व विख्यात हुए।

स्वामी रामकृष्ण के निधन के बाद लगभग 5 वर्ष तक विवेकानन्द ने भारत भ्रमण किया। इस दौरान उन्हें भारत में व्याप्त आश्चर्यचकित करने वाली विविधता के पीछे अंतर्निहित एकता का ज्ञान हुआ। 1893 में संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने अमेरिका गए। वहाँ हावर्ड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध प्रोफेसर 'सर हेनरी राइट' की सहायता से 11 सितंबर, 1893 को सम्मेलन में भाषण दिया जो सार्वदेशिकता और सहृदयता से ओतप्रोत था, जिसे सुनकर सम्मेलन का हर श्रोता मंत्र मुग्ध हो गए। सम्मेलन में सम्मिलित अमेरिकावासियों को दिए गए इस आत्मीयतापूर्ण भाषण ने उन्हें अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्रदान की। उनके महान व्यक्तित्व, ओजस्वी मुख मंडल, गेरूआ वस्त्रों आदि का सम्मेलन पर इतना गहरा प्रभाव हुआ कि उन्हें वहाँ के समाचार पत्रों में अगले दिन उस पूर्ण धर्मसम्मेलन का सर्वश्रेष्ठ एवं महान व्यक्ति के रूप में अलंकृत किया गया।

विवेकानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पश्चिम की भौतिकवादी जनता के सम्मुख भारत के अध्यात्मवाद का प्राचीन और महान आदर्श प्रस्तुत करके अपने देश के वास्तविक स्वरूप का चित्र उनके सम्मुख उपस्थित किया। 1897 में कलकत्ता के पास स्थित बैलूर नामक स्थान पर अपने गुरु की स्मृति में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, तथा शिक्षा, चिकित्सा आदि विभिन्न क्षेत्रों में सेवा कार्य करने तथा वेदांत के प्रचार-प्रसार करने हेतु देश और विदेश में उनकी शाखाओं को प्रारंभ कर संगठित रूप से इस कार्य को अंजाम देने की व्यवस्था की। सन् 1899 में विवेकानन्द विदेशों में वेदांत के प्रचार प्रसार हेतु पुनः विश्व भ्रमण की यात्रा पर गए तथा लंदन, न्यूर्याक आदि कई स्थानों पर उसपर व्याख्यान दिए तथा वहाँ वेदांत केंद्र की स्थापना की। दिसंबर 1900 में पेरिस में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेकर स्वदेश लौट आए।

विवेकानन्द के जीवन की इस व्यस्तता और भारी कार्य-भार से उनका शरीर अस्वस्थ रहने लगा और अंततः 39 वर्ष की अल्प अवस्था में ही 1902 ई. में वे शरीर त्यागकर ब्रह्म में लीन हो गए। इतनी कम अवस्था में उन्होंने जो कार्य किया वह प्रशंसनीय ही नहीं ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस के धार्मिक संदेश को लोकप्रिय बनाया तथा उसे ऐसे प्रस्तुत करने की कोशिश की जो समसामयिक भारतीय समाज के आवश्यकताओं के अनुकूल हो। सबसे अधिक उन्होंने सामाजिक कर्म पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि अगर ज्ञान के साथ जिस वास्तविक संसार में हम रहते हैं उसमें कर्म न किया जाए तो ज्ञान निरर्थक है।

1.4.3. चिंतन के स्रोत एवं रचनाएँ

विवेकानन्द के दर्शन के मुख्यतः तीन स्रोत थे- प्रथम- वेदा तथा वेदांत की महान परंपरा, द्वितीय- रामकृष्ण के साथ संपर्क एवं तृतीय- उनके जीवन का अनुभव। इन तीनों ही स्रोतों के माध्यम से विवेकानन्द के दार्शनिक और धार्मिक विचारों का निर्माण हुआ जो अंततोगत्वा उनके विचारों के आधार स्तंभ बने।

यदि विवेकानन्द के संपूर्ण दर्शन के स्रोत ढूँढे जाए तो कहना होगा कि उनकी रचनाओं के शुद्ध दार्शनिक अंग हैं- (1) ज्ञान योग, (2) पतंजलि सुत्रों का भाव्य (3) वेदांत दर्शन पर भारत और पश्चिम में दिए गए उनके भाषण।

राजनीतिक चिंतन की दृष्टी से विवेकानन्द की निम्नलिखित रचनाएँ प्रमुख हैं-

(1)फ्रोम कोलम्बो ट अल्मोड़ा : लेक्चर्स।

(2) इण्डिया एण्ड हर प्रोब्लेम्स।

(3) मॉडर्न इण्डिया।

1.4.4. विवेकानन्द के आदर्श

विवेकानन्द का प्रथम आदर्श मानव सेवा का था। उन्होंने भारतीयों को मानव सेवा की प्रेरणा दी तथा उसे ही ईश्वर की सच्ची उपासना बताया। उन्होंने यूरोप और अमेरिका के लोगों को संयम की शिक्षा दी। उन्होंने गरीब दुखियों को दरिद्र नारायण का नाम दिया। उनका मानना था कि ईश्वर सभी मनुष्यों में निवास करता है। नारी सम्मान को उन्होंने सबसे ऊपर बताया। उनके अनुसार सभी जातियाँ, नारी का सम्मान करके ही महान हुई है।

विवेकानन्द के तीन उद्देश्य -

1. हिंदुओं को अपने धर्म में पुनः आस्था उत्पन्न करना।
2. बुद्धिजीवियों की धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करने हेतु धर्म की पुनः स्थापना करना।
3. भारतीयों को उसकी गौरवशाली संस्कृति से परिचय करवाकर उसमें आत्म सम्मान की भावना उत्पन्न करना। उनका कहना था कि भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है।

1.4.5. विवेकानन्द के धार्मिक विचार

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म का अर्थ शाश्वत तत्व से साक्षात्कार करना था सामाजिक मतवादों धर्म संघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं एवं पुरानी रूढ़ियों की उन्होंने धर्म में कोई स्थान नहीं दिया। उनका कहना था कि धर्म ही भारतीय जीवन का आधार रहा है इसलिय सभी सुधार कार्य धर्म कें माध्यम से ही लेना चाहिए तभी देश एवं समाज का कल्याण हो सकता है। धर्म के संबंध में उनके विचार निम्नलिखित हैं-

1.4.5.1. वेदांत - एक संदेशवाहक

विवेकानन्द के चिंतन के मूल में वेदांत की शिक्षाएँ थी। उनकी रूचि सामान्यतः धर्म और दर्शन में थी। यद्यपि वे अद्वेत वेदांत के संदेशवाहक तथा मायावादी थे, तथापि उन्होनें वेदांत को व्यावहारिक रूप देने का अथक प्रयास किया। वेदांत के आधार पर वे एक ऐसा दर्शन विकसित करना चाहते थे, जो समस्त संघषों को दूर करके मानव जाति का बहुमूखी विकास कर सकें। विवेकानन्द बाह्य को सर्वोच्च सत्ता तथा पूर्ण सत्य माना है। उन्हें ब्रह्म में पूर्ण विश्वास था। उनके अनुसार ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था में पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही ब्रहम है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि वेद मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में पाने वाले सुख में विश्वास नहीं करता। वे जीवित व्यक्ति को रोटी उपलब्ध कराने में विश्वास रखते थे। उनका वेदांत दर्शन तीन प्रमुख स्तंभों पर आधारित था-

1. मानव की वास्तविक प्रकृति ईश्वरीय है।
2. जीवन का लक्ष्य उस ईश्वरीय प्रकृति की अनुभूति है।
3. सभी धर्मो का मूल लक्ष्य समान है।

उनके अनुसार वेदांत का अर्थ संसार को त्यागना नही हैं, यह समस्त विश्व को ब्रहमामय करने का पाठ सिखाता है। विवेकानन्द ईश्वर को निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हैं। वे ज्ञान, भक्ति, तथा कर्मयोग के समन्वय को ही सचिदानन्द की अनुभूति के लिए आवश्यकता मानते हैं। वे योग को धर्म का मूल आधार मानते हैं। विवेकानन्द वेदांत को पंडितो के शास्त्रार्थ तथा सन्यासियों के साधना का विषय नहीं मानकर नित्यदिन के परिवारिक और सामाजिक जीवन की कुंजी माना है। उन्होनें वेदांत को व्यक्ति के उत्थान और समाज का निर्माण तथा राष्ट्र के समन्वय का विषय माना है। उनके अनुसार वेदांत का निचोड़ मनुष्य के सच्चे स्वरूप को जानना है। यदि तुम ईश्वर रूपी अपने समाज की उपासना नहीं कर सकते तो तुम उस ईश्वर की उपासना कैसे कर सकते हो जो अव्यक्त है। विवेकानन्द की दृष्टि काफी व्यापक थी। वे वेदांत के आधार पर भारतीय चिंतन राष्ट्रीय गौरव की सीमाओं से प्रतिबंधित नहीं करके अंतरराष्ट्रीय गौरव प्रदान करना चाहते थे।

1.4.5.2. धर्म की आवश्यकता

विवेकानन्द के अनुसार धर्म भारत की नियति से जुड़ा है। उनके अनुसार धर्म आध्यात्मिक जगत के सत्य से उसी प्रकार जुड़ा है जिस प्रकार रसायन शास्त्र तथा भौतिक विज्ञान, भौतिक जगत के सत्य से जुड़ा है। धर्म के क्षेत्र में विवेकानन्द संकीर्णता और रूढ़िवादिता को समूल नष्ट कर देना चाहते थे। उनकी दृष्टि में अंधविश्वास का कोई स्थान नहीं था। उन्होंने तो धर्म को विज्ञान तक मान लिया था। विवेकानन्द के शब्दों में प्रकृति विज्ञान भौतिक जगत के नियमों का अनुसंधान करता है, उसी प्रकार धर्म नैतिक जगत के सत्यों से संबद्ध है और मनुष्य के आंतरिक स्वभाव के भव्य नियमों की खोज करता है। एक अर्थ में समस्त नियम ही ज्ञान है तथा दूसरे अर्थ में समस्त ज्ञान ही विज्ञान है।

विवेकानन्द धर्म को व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की शक्ति प्रदान करने वाला तत्व मानते थे। उनकी दृष्टि में धर्म वही है जो, मनुष्य के हृदय में शक्ति का संचार करता है शक्ति धर्म से भी बड़ी वस्तु है और शक्ति से बढ़कर कुछ नहीं है।

अपने गुरु की तरह विवेकानन्द ने सर्वधर्म स्वभाव की घोषणा की तथा धार्मिक मामलों में किसी भी प्रकार की संकीर्णता की निंदा की। वे धर्म की क्षेत्र में संकीर्णता तथा रूढ़िवादिता को समूल नष्ट कर

देना चाहते थे। उनकी भाषा में हमारी अपनी मातृभूमि के लिए दो प्रणालियों हिंदू धर्म और इस्लाम का संगम ही एकमात्र आशा है।

1.4.5.3. हिंदू धर्म और मानव जाति का उद्धार

जिस समय स्वामी विवेकानन्द का अभिभार्व हुआ हिंदू धर्म की स्थिति काफी दयनीय थी। पश्चिमी जगत भारतीय समाज की प्राचीन गौरवशाली इतिहास से अपरिचित था। फलतः तथाकथित हीन दशा का लाभ उठाकर धार्मिक विद्वेष का जहर उगल रहे थे। ईसाई मिशनरियों द्वारा हिंदू धर्म के विरुद्ध निंदित प्रचार किए जा रहे थे। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि देश और विदेश दोनों जगह प्राचीन हिंदू धर्म की गौरवशाली महानता एवं उसकी श्रेष्ठता से विश्व को और खासकर पश्चिमी जगत को परिचित कराया जाय। इस महान उत्तरदायित्व का निर्वहन स्वामी विवेकानन्द द्वारा किया गया।

विवेकानन्द की दृष्टि में हिंदू धर्म उन दुरूहपंथों, कर्मकांडी अंधविश्वासों, परंपरागत मतवादों और आदिम कर्मकांड का पूँज नही है जिन्हें देखने के लिए यूरोपीय आलोचक सदैव इच्छुक रहता है। हिंदू धर्म नैतिक मानववाद और अध्यात्मिक आदर्शवाद का सार्वभौम प्रतिरूप है। हिंदू धर्म की महानता और सार्वदेशिकता में उन्हें अटूट विश्वास था। उनका कहना था कि पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिंदू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हों। लेकिन दुख इस बात का था कि पाखंडी पंडितों और पुरोहितों ने अपने स्वार्थ सिद्धी के लिए धर्म के नाम पर हिंदू धर्म को कलंकित कर दिया था। इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने यह भी कहा था कि ''पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिंदू धर्म के समान गरीबों और निम्न जाति वालों का गला ऐसी क्रूरता से घोटता हैं।''

उनका विश्वास था कि पृथ्वी का कोई भी राष्ट्र आध्यात्म विद्या के संबंध में हिंदुओं का मार्गदर्शन नहीं कर सकता। केवल विश्वास के नाम पर हिंदूधर्म नहीं है हिंदूधर्म का मूल मंत्र है, मैं आत्मा हूँ। यह विश्वास होना और तदनुरूप बन जाना। हिंदू धर्म एक ऐसा व्यापक सत्य हैं जो न्याय, सांख्य और वेदांत के द्वारा अपने ह्रदय में गंभीर दार्शनिक प्रतिभा को शरण और वीर कर्मयोगियों को गीता का संदेश दे सकता है। उनकी दृष्टि में हिंदू धर्म मानवजाति के उद्धार के लिए नैतिक तथा आध्यात्मिक विधानों की संहिता है।

1.4.5.4. मूर्ति पूजा का समर्थन

विवेकानन्द का कहना था कि मनुष्य-मन को ईश्वरीय अनुभूति के लिए तैयार करती है। यह सत्य है कि मूर्ति ईश्वर नहीं है लेकिन अपनी पूजा द्वारा वह हमें ईश्वर के करीब ले जा सकती है। उस समय पश्चिमी प्रभाव के कारण देश में और मुख्यतः बंगाल में मूर्तिपूजा का विरोध एक आम प्रचलन हो गया था। ब्रहम समाज और आर्य समाज दोनों इसके विरोधी थे। विवेकानन्द के अनुसार मूर्तिपूजा ठीक वैसे ही महत्वपूर्ण है, जैसे बाल्यवस्था, वृद्धावस्था की परिपक्व बुद्धि के लिए। मूर्ति पूजा ईश्वरीय अनुभूति को सबल करने का एक परिपक्व साधन है। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा "भाइयों यदि आप किसी बाह्य सहायता के बिना ही निराकार परमात्मा की उपासना करने में समर्थ है तो ऐसा ही करें लेकिन आपलोग उन दुसरों की निंदा भी न करें जो ऐसा नहीं कर सकते।" अतः इस आधार पर मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं करते हुए उन्होंने कहा- आजकल अधिकांश लोग मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं करते, मैं भी कभी यही सोचता था, फलस्वरूप दंड के रूप में मुझे ऐसे पुरुष के चरणों में बैठकर शिक्षा लेनी पड़ी जिसने मूर्तिपूजा के माध्यम से ही सबकुछ प्राप्त कर लिया था। यदि मूर्ति पूजा के द्वारा रामकृष्ण परमहंस जैसे उच्च-कोटि के संत-पुरुषों का निर्माण हो सकता है तो फिर मेरा कहना है आप एक नहीं अनेक मूर्तियों की पूजा करों।

विवेकानन्द मूर्तिपूजा को मनुष्य द्वारा ईश्वरीय अनुभूति करने हेतु एक सहायक तत्व मानते थे। उनका मानना था कि वास्तविक उपासना तो ईश्वर के निराकार रूप की ही की जा सकती है लेकिन जबतक उसके लिए आवश्यक आत्मिक उत्थान नहीं कर लेता, तबतक मूर्ति-पूजा उसका इस दृष्टिकोण से एक अवलंबन हो सकता है। अतः मूर्तिपूजा की उपयोगिता को इसी दृष्टि से स्वीकार किया जाना चाहिए।

1.4.5.5. सार्वभौम धर्म का संदेश

विवेकानन्द ने सामाजिक दृष्टि से धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश दिया। उन्होनें विभिन्न धर्मों को ईश्वरीय उपासना का साधन घोषित करते हुए उनके सह-अस्तित्व पर जोर दिया। सार्वभौम धर्म की अवधारणा प्रतिपादित करते हुए, उनका स्वरूप विध्वंसात्मक नहीं निर्माणात्मक बताया। उनके अनुसार निष्ठाएँ स्वैच्छिक होनी चाहिए। यह जबरदस्ती किसी पर लादने की वस्तु नहीं है।

1.4.6. विवेकानन्द के राजनीतिक दर्शन

विवेकानन्द हॉब्स, लॉक और रूसों की भाँति राजनीतिक चिंतन का कोई संप्रदाय कायम नहीं किया। उन्होंने राजनीतिक दर्शन के आधारभूत प्रत्ययों का विश्लेषण नहीं किया और नहीं उन्होंने राजनीति प्रक्रिया तथा व्यवहार की प्रेरक शक्तियों की गहराई में बैठने का प्रयत्न किया।

राजनीति में न उनका विश्वास था और नहीं उन्होंने कोई राजनीति क्रिया-कलापों में भाग लिया। फिर भी उनके भाषणों और विचारों में राजनीतिक का जो दर्शन मिलता है वह उन्हें पश्चिम के व्यवसायी राजनीति चिंतकों से कहीं आगे ले जाता है। उनके राजनीति चिंतन के निम्न शीर्षकों का अध्ययन आवश्यक है-

1.4.6.1. राष्ट्रवाद का धार्मिक सिद्धांत

विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धांत का प्रतिपादन इसलिए किया कि उन्हें पता था कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरूदंड बनेगा। उनकी दृष्टि में धर्म भारत के इतिहास में नियामक तत्व रहा है। विवेकानन्द के शब्दों में- ''जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है उसी प्रकार हर राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्व हुआ करता है अन्य सभी तत्व उसी में केंद्रित रहते हैं। भारत का तत्व है धर्म।''

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में राष्ट्रवाद को विवेकानन्द इसी रूप में प्रस्तुत कर सकते थे। चूँकि वे एक सन्यासी थे इसलिए राजनीतिक विवादों से दूर रहना चाहते थे। यदि वे खुलकर राजनीति में आते तो ब्रिटिश सरकार उन्हें कारागार में बंद कर देती और देशवासियों के धार्मिक एवं नैतिक पुनरुत्थान का कार्य जो उन्हें सबसे अधिक प्रिय था उसमें विघ्न पड़ता। विवेकानन्द भारतीय राष्ट्रवाद के संदेशवाहक थे। उन्होंने राष्ट्रवाद को एक नए रूप में प्रस्तुत किया। उसे अपनी धरती पर अपने पैरों पर खड़े होने की प्रेरणा दी, अंधे बनकर यूरोपीयकरण से बचने की सीख दी, धर्म में विश्वास और कर्म में लगन का मंत्र फूँका।

1.4.6.2.स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा

राजनीति दर्शन के क्षेत्र में विवेकानन्द का एक अन्य महत्वपूर्ण देन उनकी स्वतंत्रता की धारणा है। उनका स्वतंत्रता विषयक दृष्टिकोण बहुत व्यापक है। उनका कहना था कि संपूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति के द्वारा मुख्यतः स्वतंत्रता की खोज कर रहा है। उनका कहना था कि- ''जीवन सुख और समृद्धि का

एकमात्र शक्ति है- चिंतन और कार्य की स्वतंत्रता है जिस क्षेत्र में यह नहीं है उस क्षेत्र में मनुष्य जाति और राष्ट्र का पतन होगा।''

विवेकानन्द ने स्वतंत्रता को मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार माना है और यह इच्छा व्यक्त की कि समाज के सभी सदस्यों को वह समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। विचार की स्वतंत्रता के बारे में उनका कहना है कि विचार और कर्म की स्वतंत्रता जीवन, विकास और कल्याण का एकमात्र शस्त्र है। जहाँ इनका अभाव होता है मनुष्य, जाति और राष्ट्र अवश्य अवनति की ओर जाता है।

1.4.6.3. शक्ति एवं निर्भयता का संदेश

राजनीति दर्शन के क्षेत्र में विवेकानन्द का अन्य महत्वपूर्ण देन शक्ति और निर्भयता का संदेश है। राजनीतिशास्त्र की शब्दावली में हम इसे प्रतिशोध का सिद्धांत कह सकते हैं। विवेकानन्द में भारतीयों को शक्ति और निर्भयता का संदेश दिया। अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने यह संदेश दिया कि भारतवासी शक्ति, निर्भीकता और आत्मबल के आधार पर ही विदेशी सत्ता से लोहा ले सकते हैं और अपनी राष्ट्रीय स्वधीनता प्राप्त कर सकते हैं। विवेकानन्द ने निर्भयता के सिद्धांत को दार्शनिक वेदांत के आधार पर उचित ठहराया। उन्होंने बार-बार इस बात को दुहराया कि आत्मा ही परम सत्य है और इसलिए वह सभी प्रकार के सांसारिक प्रलोभन से परे है। इसलिए वे भारतीय जनता को आत्मा के अपार बल और शक्ति की शिक्षा देना चाहते थे। उनका कहना था कि आत्मा के लक्षण सिंह के समान है अतः मनुष्य में भी सिंह की सी भावना का विकास होनी चाहिए। उनके विचार में शक्ति के संदेश का ओजपूर्ण समर्थन करना राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का सबसे अच्छा मार्ग था। आत्मबल के आधार पर निर्भय होकर खड़ा होना अत्याचार तथा उत्पीड़न का सर्वोत्तम प्रतिकार था।

1.4.6.4. व्यक्ति की गरिमा

विवेकानन्द के अनुसार शब्द व्यक्तियों से बनता है अतः सभी व्यक्तियों को अपने में पुरुषत्व, मानव गरीमा, तथा सम्मान की भावना आदि श्रेष्ठ गुणों का विकास करना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में- ''आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने अहंकार का देश और राष्ट्र की आत्मा के साथ उदात्म्य कर दे।'' यह सत्य है कि राष्ट्र एक समुदाय है किंतु हम राष्ट्र के अवयवी प्रकृति का कितना भी गुणगान क्यों न कर ले, वास्तव में व्यक्ति ही राष्ट्रीय ढाँचे के घटक होते हैं। इसलिए जबतक व्यक्ति नैतिक और दयालु नहीं होते तबतक राष्ट्र की महानता तथा समृद्धि की आशा करना व्यर्थ है।''

1.4.6.5. आदर्श राज्य की धारणा

विवेकानन्द के अनुसार मानवीय समाज पर चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्व और शुद्र-बारी-बारी से राज्य करते हैं। ब्राह्मणों का शासन ज्ञान और विज्ञान के प्रगति के लिए है, क्षत्रीय का व्यवहार क्रूर और अन्यायी होता है, इस काल में सामाजिक शिष्टता, कला उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है, वैश्य राज्य में कुचलने और खून चुसने की मौन शक्ति अत्यंत भीषण होती है, अंत में शुद्र राज्य में भौतिक सुखों का समान वितरण होता है तथा सभ्यता निम्न स्तर पर गिर जाता है। साधारण शिक्षा का प्रचार होगा परंतु असमान्य प्रतिभाशाली व्यक्ति कम होते जाएँगे। विवेकानन्द के अनुसार यदि ऐसा राज्य स्थापित करना संभव हो जिसमें ब्राह्मण काल का ज्ञान, क्षत्रिय काल की सभ्यता, वैश्य काल का प्रचार भाव और शूद्र काल की समानता रखी जा सके तो वह आदर्श राज्य होगा।

1.4.6.6. अंतरराष्ट्रीयतावाद एवं विश्व बंधुत्व की धारणा

विवेकानन्द में अंतरराष्ट्रीयवाद और विश्व बंधुत्व की भावना कूट-कूटकर भरी थी। वे उग्र राष्ट्रीयतावाद के बजाय अंतरराष्ट्रीयतावादी थे। शिकागों धर्म संसद के समाप्त होने के बाद कहा गया ''जहाँ अन्य सभी प्रतिनिधि अपने-अपने धर्म के ईश्वर की चर्चा करते रहे, वहाँ केवल विवेकानन्द ने ही सबके ईश्वर की बात की।'' वे मानव-मानव में भेद को अस्वीकार करते थे। वे हिंदू धर्म तथा भारत से असीम प्यार करते थे किंतु अन्य किसी राष्ट्र को वे नापसंद नहीं करते थे।

1.4.6.7. नागरिक कर्तव्यों पर जोर

विवेकानन्द कर्तव्य पालन को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे उनका कहना था कि व्यक्ति को अपने अधिकार का नहीं बल्कि कर्तव्य और दायित्वों के निर्वाह में सदैव तत्पर रहना चाहिए। व्यक्ति का गौरव अधिकार को प्राप्त करने में नही है बल्कि उसका गौरव कर्तव्य का पालन करते हुए सर्वस्व निछावर करने में है। इसलिए विवेकानन्द स्वयं भिक्षु-सन्यासी होते हुए भी कर्तव्य पालन करने वाले गृहस्थ को सर्वोच्च स्थान दिया है।

1.4.7. विवेकानन्द के सामाजिक विचार

विवेकानन्द ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था का गहन अध्ययन किया और धर्म सुधार के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु समाजसुधार को अनिवार्य बताया। रामकृष्ण मिशन की स्थापना के समय उन्होंने सामाजिक सेवा और सुधार कार्यो को धर्म तथा आध्यात्मिक साधना के एक महत्व पूर्ण अंग के रूप में अंगीकार करने पर जोर दिया। अतः उनके द्वारा धर्म सुधार एवं पुनरुत्थानवादी आंदोलन अनिवार्य रूप से समाज सुधार से जुड़ा हुआ है वे उन वर्गगत तथा जातिगत श्रेष्ठता के विचारों तथा अत्याचार का उन्मुलन करना चाहते थे जिन्होंने हिंदू समाज को शिथिल स्तरबद्ध और विघटित कर दिया था।

स्वामी विवेकानन्द ने तत्कालीन समाज में व्याप्त सामाजिक रूढ़िवादिता तथा अस्पृश्यता आदि पर प्रहार करते हुए उसे समाज के लिए कोढ़ बताया। उन्होंने पंडे-पुजारियों के रूप में प्रतिष्ठित समाज पर प्रहार करते हुए उन्हें कहा कि ये लोग समाज में अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए उसमें तरह-तरह के अंधविश्वासों का प्रचार प्रसार करते है। अतः समाज में ऐसे अनुदारवादी दकियानुस कठमुल्लाओं के प्रभुत्व को समाप्त किया जाना जरूरी है तथा जितनी शीघ्रता से यह कार्य हो सके उतना वह समाज के लिए लाभदायक होगा। इस दृष्टि से उन्होंने समाज में व्याप्त निम्नलिखित कुरीतियों और बुराईयों का विरोध ही नहीं किया बल्कि उनके उन्मुलन पर भी जोर दिया।-

1.4.7.1. जाति व्यवस्था एवं ब्राह्मण प्रभुत्व का विरोध

स्वामी विवेकानन्द ने भारत में विद्यमान जाति व्यवस्था की कटु आलोचना करते हुए उनके अनुदारवादी एवं प्रगति-विरोधी रूप पर प्रहार किया तथा उनके उन्मूलन की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार यह व्यवस्था अपने कठोर बंधनों के कारण मनुष्य के ऊपर उठने के अवसर और साधन प्रदान नहीं करती है लेकिन एक यर्थाथवादी चिंतक होने के नाते विवेकानन्द यह अच्छी तरह समझ रहे थे कि लंबे समय तक कायम रहने के कारण व्यवस्था रुढ़िवादी हो गई है और इसका पूर्णतः उन्मुलन व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है। इस हेतु उनकी मान्यता थी कि ब्राह्मणों को निम्न स्तर पर लाने के स्थान पर निम्न स्तर के शुद्रवर्ण के लोगों को शिक्षा तथा संस्कृति के विकास के माध्यम से उनके स्तर तक ले आना चाहिए। उस हेतु उन्होंने कहा कि मूल कर्म-आधारित चातुवर्ण-व्यवस्था को पुनर्जीवित कर जन्म आधारित जाति व्यवस्था का इस प्रकार सुधार किया जाए, जिससे कर्म में परिवर्तन कर निम्न वर्गों के

लोगों को ऊपर उठाकर उच्च वर्गों के लोगों के समान स्तर तक लाया जा सके। इस उद्देश्य को ध्यान रखकर उन्होनें कहा "एक ओर आदर्श हैं ब्राहमण तथा दूसरी ओर आर्दश हैं चंडाल। अतः चंडाल को उठाकर ब्राहमण के स्तर तक लाना ही जाति व्यवस्था से उत्पन्न असमानता रूपी बुराई के उन्मुलन का कारगार उपाय है।"

स्वामी विवेकानन्द ने ब्राहमण प्रभुत्ववाद तथा अधिकारवाद का विरोध किया तथा इसे ब्राहमणों के निहित स्वार्थपूर्ति का साधन बताया। इस ब्राहमण अधिकारवाद के कारण शुद्रवर्ण के लोगों को अपना आध्यात्यिक विकास करने का अधिकार नहीं मिला। उन्होनें ब्राह्मणों के समान शुद्रों को भी वेद-अध्ययन कर अपने आत्मिक विकास करने के अधिकार का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि सभी मनुष्य ईश्वर की संतान होने के कारण समान है तथा जातिगत आधार पर कृत्रिम भेदभाव की स्थिति उत्पन्न करना मानवता के हित के अनुकूल नहीं है।

अपनी इसी मान्यता के आधार पर स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि हर जाति को स्वयं को ब्राहाण मानकर देवभाषा संस्कृत का अध्ययन करना चाहिए। उन्हें भी ब्राहमणों के समान सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करनी चाहिए।

1.4.7.2. तत्कालीन शिक्षा पद्धति का विरोध

स्वामी विवेकानन्द शिक्षा को सामाजिक और वैक्तिक विकास का साधन मानते थे। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था का विरोध किय। उनके अनुसार शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य के मस्तिक में विभिन्न तरह के ज्ञान एवं सुचनाओं को ठूँसना नहीं है वरन उसे ऐसा ज्ञान प्रदान करना है जिसका उपयोग करके वह रचनात्मक आधार पर जीवन एवं चरित्र का निर्माण कर सके। किंतु उनकी दृष्टि में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली शुन्य थी। उन्होनें स्पष्ट रूप से कहा कि हमारी शिक्षा की दृष्टि से इस समय स्थिति एकदम पशु समान है तथा समाज का चाबुक ही हमारा नियंत्रक है। यदि पुलिस के रूप में वह समाज में विद्यमान न हो तो संभवतः ऐसा कोई पाप और कुकर्म नही है जिसे करने के लिए हम तैयार न हों। वर्तमान में शिक्षा नहीं भय ही हमारा जीवन नियंत्रक है। इसलिए यह सच्ची शिक्षा नहीं है।

विवेकानन्द शिक्षा की दृष्टि से प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के समर्थक थे तथा गुरु-शिष्य परंपरा को पुनर्जीवित करना चाहते थे। वे चाहते थे कि शिक्षा के पाठ्यक्रम के माध्यम से छात्र अपने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करके अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सके तथा उसी के अनुरूप अपने चरित्र तथा जीवन का निर्माण कर सके। इस दृष्टि से वे अंग्रेजी शिक्षा के विरोधी थे पर अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के विरोधी नही थे। वे चाहते थे कि भारतीय आंग्ल-भाषा का अध्ययन करे ताकि वे उसके माध्यम से वर्तमान में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रगति से अवगत हो सके तथा उसका प्रयोग स्वयं तथा समाज के उत्थान के लिए कर सके।

1.4.7.3. पश्चिमी अंधानुकरण का विरोध

विवेकानन्द पश्चिमी अंधानुकरण के विरोधी थे। उनकी इच्छा थी कि भारतीय अपनी पुरानी अनुदार कुरीतियों और रूढ़िवादियों से मुक्त होकर हर क्षेत्र में उन्नति करें और अपने व्यक्तित्व के सर्वाधिक लक्ष्य को प्राप्त कर सके। उनके अनुसार विकास की यह प्रणाली अनिवार्य रूप से भारतीय होनी चाहिए। जिस दिन आप विकास की दृष्टि से पश्चिम का अंधानुकरण करेंगे उस दिन आप नष्ट हो जाएगें। भारत का पश्चिमीकरण एक असंभव ही नहीं मुर्खतापूर्ण है। हम पश्चिमी देशों का अंधानुकरण करके समाज का नवनिर्माण नहीं कर सकते। हर देश और उसके समाज की उन्नति उसके सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के

माध्यम से ही हो सकती है, अतः हमें इसी नीति का अनुसरण करना चाहिए। हमारा सामाजिक विकास हमारी सांस्कृतिक परंपराओं के अनुकुल ही होना चाहिए। दूसरों का अनुकरण करके हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकते।

विवेकानन्द द्वारा पश्चिमी अंधानुकरण के विरोध का अर्थ पश्चिम को पूर्णतः बुरा और प्रतिकूल समझना नहीं था। उनका विरोध उनके बुरे पक्ष तक ही सीमित था जो हमारे विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता था अन्यथा वे पश्चिम की बहुत-सी उपयोगी और लाभदायक अवधारणाओं को अपनाने के पक्ष में थे। उदाहरणस्वरूप हम उनके मानवमात्र की समानता स्वतंत्रता तथा समाजवाद की उपयोगिता में विश्वास को ले सकते हैं। भारतीय समाज में इस दृष्टि से व्याप्त कुरीतियों और अंधविश्वासों के उन्मुलन के लिए उन्होंने इस पश्चिमी अवधारणाओं के अनुकरण का खुला समर्थन किया तथा उसके कार्यान्वयन के विकास की दृष्टि से आवश्यक माना।

1.4.7.4. अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक कर्तव्यों पर जोर

स्वामी विवेकानन्द कर्मवादी थे। भागवत गीता द्वारा दिए गए कर्म के उपदेश में वे पूर्ण आस्था रखते थे और इसे ही वेदांत का सार मानते थे। संसार में रहकर कर्तव्य का निर्वाह करना ही वे सच्ची मुक्ति और सच्चा धर्म मानते थे। उन्होंने निर्धन निर्बल दीन-हीन को ही ईश्वर का रूप माना। उन्होंने कहा कि मैं उस व्यक्ति को महात्मा मानता हूँ जिनका ह्रदय दरिद्र के लिए द्रवित होता है अन्यथा वह दुरात्मा है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने कर्तव्य बोध के द्वारा दीन-दरिद्र की सेवा ही मनुष्य का सच्चा कर्म घोषित किया और कहा कि इसी में इसके सारे अधिकार निहित है। सेवा भाव से किया गया कर्तव्य निर्वाह ही उनके अनुसार मनुष्य के संपूर्ण अधिकारों का स्रोत है। इस आधार पर जो कर्तव्य निर्वाह करता है उसे अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। अतः व्यक्ति को अपने कर्तव्य को भूलकर अधिकार की बात नहीं करनी चाहिए।

उन्होनें दीन-दुखियों की सेवा को अपना परम कर्तव्य माना और कहा कि कर्तव्य निर्वाह की दृष्टि से मनुष्य को सदा जागरूक रहना चाहिए। इसलिए विवेकानन्द स्वयं सन्यासी होते हुए भी उस व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया जो गृहस्थ होते हुए भी अपने कर्तव्य का निर्वाह निः स्वार्थ भाव से करता है।

1.4.7.5. शांतिपूर्ण साधनों से सामाजिक परिवर्तन में विश्वास

स्वामी विवेकानन्द की मान्यता थी कि सामाजिक कुरीतियों बुराईयों और असंगतियों का उन्मूलन शांतिपूर्ण रचनात्मक साधनों के प्रयोग के माध्यम से होना चाहिए। यही स्थायी परिवर्तन का मार्ग है। वे सामाजिक सुधार हेतु क्रमिक और शांतिपूर्ण तरीकों से किए गए सामाजिक परिवर्तन के समर्थक थे क्योंकि इसके पीछे जनसर्मथन की शक्ति होती है तथा वे समाज के अधिकांश भाग को स्वीकार होते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भारतीय समाज एक धर्म-प्रण-समाज होने के नाते हमेशा क्रांतिकारी और हिंसक सामाजिक परिवर्तनों का नहीं वरन अहिंसक शांतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों के आस्थावान का समर्थन कर रहा है। क्योंकि इसके द्वारा उन्होनें अपने धार्मिक सामाजिक पृष्ठभूमि के पुष्ट किया। महात्मा गांधी ने भी स्वतंत्रता आंदोलन में जहाँ तक हो सका अहिंसक प्रवृति को बनाए रखा।

भारतीय समाज की इस धार्मिक अहिंसक प्रवृति के कारण ही विवेकानन्द ने शांतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों का समर्थन किया। इस तरह वे हिंसक तरीकों को श्रेष्ठ नहीं मानकर शांतिपूर्ण तरीके से सामाजिक परिवर्तन को आवश्यक तथा कल्याणकारी मानते थे।

1.4.7.6. विवेकानन्द का समाजवाद

डॉ. वी.पी. वर्मा के अनुसार- ''विवेकानन्द को दो अर्थों में समाजवादी कहा जा सकता है-

1. उनमें यह समझने की ऐतिहासिक दृष्टि थी कि भारतीय इतिहास ने दो उच्च जातियों (ब्राह्मण और क्षत्रिय) का अधिपत्य रहा है। क्षत्रियों ने गरीब जनता का आर्थिक और राजनीतिक शोषण किया है तथा ब्राह्मण ने उसे नवीन तथा जटिल धार्मिक क्रियाकलाप और अनुष्ठानों के बंधन में जकड़ रखा। उन्होंने खुले तौर पर जातिगत उत्पीड़न की भर्त्सना की और आत्मा तथा ब्रह्म में आस्था रखने के नाते मनुष्य के बीच सामाजिक बंधनों को अस्वीकार किया।

2. विवेकानन्द समाजवादी इसलिए थे कि उन्होंने देश के सभी निवासियों के लिए 'समान अवसर' के सिद्धांत का समर्थन किया।

विवेकानन्द की रचनाओं में सामाजिक समानता का जो समर्थन देखने को मिलता है वह प्रबल पुरातनवाद तथा ब्राह्मणों की स्मृतियों में व्याप्त सामाजिक ऊँच-नीच के सिद्धांत का सबल प्रतिवाद है, उनका सामाजिक समानता का सिद्धांत तत्वतः समाजवादी है।

किंतु समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए विवेकानन्द हिंसात्मक सामाजिक क्रांति के समर्थक नहीं थे। विवेकानन्द के चिंतन का मूल आध्यात्मिकता है। उनमें चरित्र की शुद्धता तथा भातृत्व पर अधिक बल दिया गया। उनका चिंतन न्याय-प्रेम तथा सार्वभौमिक करूणा के शाश्वत संदेश का ही पुनः प्रतिपादन है।

1.4.8. शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन

सन्यास लेने के बाद विवेकानन्द ने संपूर्ण भारत का भ्रमण किया। जब वे अमेरिका में थे उस समय शिकागो में सर्वधर्म सम्मेलन हो रहा था। उन्होंने इस धर्म सम्मेलन में भाग लिया। उनका भाषण भारत की सर्वदेशिकता और विशाल हृदयता से ओतप्रोत था जिसने वहाँ के हर श्रोता को मंत्र-मुग्ध कर दिया। उन्होंने भाषण का आरंभ ''अमेरिका निवासी भाइयों एवं बहनों'' से किया तो वहाँ की जनता ने तालियों की भारी गड़गड़ाहट के साथ उनका स्वागत किया। सम्मेलन में आए हुए अन्य प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्म पर भाषण किया, पर स्वामी जी का भाषण उस धर्म पर हुआ जो आकाश के समान विशाल एवं समुद्र जैसा गहन था। दूसरे ही दिन समाचार पत्रों ने उन्हें उस पूरे धर्म सम्मेलन में सर्वश्रेष्ठ एवं महानतम व्यक्ति कहकर अलंकृत किया। डॉ. राइट ने लिखा- ''यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है जो यहाँ के सारे विद्वान प्रोफेसरों की इकट्ठा विद्वता से कहीं अधिक विद्वान है।'' शिकागो धर्म सम्मेलन के विज्ञान शाखा के अध्यक्ष श्री मर्विनमेरी स्नैल ने कहा था- ''इस धर्म सम्मेलन का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि इसने ईसाई जगत को विशेषतः अमेरिका के लोगों को यह पाठ सिखाया कि विश्व में दूसरे धर्म भी हैं जो इसाई धर्म की अपेक्षा कहीं, अधिक ठोस, स्वतंत्र विचार की दृष्टि से कहीं अधिक शक्तिशाली एवं मानवीय सौहार्द्र की दृष्टि से कहीं अधिक उदार तथा व्यापक है। विवेकानन्द के भाषण के पश्चात् आर्य धर्म, आर्य जाति और आर्य भूमि विश्व की दृष्टि में सम्मानजनक ही नहीं पुजनीय भी हो गई। इस तरह विवेकानन्द ने हिंदू जाति और उसके धर्म को अपनी श्रेष्ठता का दर्शन कराकर उसे उसकी तत्कालीन दीन-हीन स्थिति से मुक्त ही नहीं किया वरन् उसे विश्व रंगमंच के उच्च आसन पर भी प्रतिष्ठित किया। विवेकानन्द द्वारा संपन्न इस महान कार्य ने देश में अभूतपूर्व आत्मविश्वास और जागृति को जन्म दिया। इसने देश की धमनियों में चेतना रूपी नव रक्त का संचार किया तथा उसे अपनी प्राचीन सभ्यता संस्कृति की महानता से परिचित

कराया। विवेकानन्द के इस महान कार्य का देश के हर पक्ष पर चेतनायुक्त सृजनात्मक प्रभाव पड़ा। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान रोमॉ के शब्दों में- ''सर्वप्रथम यहीं से भारत की उन्नति प्रारंभ हुई। उसी दिन से इस दीर्घकाय कुंभकरण की नींद टूटने लगी। विवेकानन्द के निधन के तीन साल बाद नई पीढ़ी ने जो बंगाल का विप्लव तथा तिलक संग गांधी का आंदोलन शुरू होते देखा वह तथा आज के भारत के संगठित जन-आंदोलन विवेकानन्द के ही सशक्त आह्वान का परिणाम है।'' निवेदिता ने लिखा- स्वामी विवेकानन्द भारत का नाम लेकर जीते थे। वे मातृ-भूमि के अनन्य भक्त थे और उन्होंने भारतीय युवकों को उनकी पूजा करना सिखाया। सबसे अधिक उन्होंने सामाजिक कर्म पर जोर दिया और कहा कि अगर ज्ञान के साथ जिस वास्तविक संसार में हम रहते हैं उसमें कर्म न किया जाए तो वह निरर्थक है।

1.4.9. विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार

शिकागो धर्म सम्मेलन के बाद स्वामीजी ने तीन वर्ष अमेरिका में रहकर अपने भाषण, लेखों, वक्तव्यों द्वारा संपूर्ण यूरोप में भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। उन्होंने अमेरिका में वेदांत समाज की स्थापना की।

1897 ई. में उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। 1899 में अपना प्राचीन मठ बेलूर में स्थापित किया। देश के विभिन्न भागों में मिशन की अनेक शाखाएँ थीं और स्कूलों, अस्पतालों और दवाखानों, अनाथालयों, पुस्तकालयों आदि की स्थापना द्वारा उसने समाज की सेवा की। इस प्रकार मिशन ने व्यक्तिगत मुक्ति पर नहीं बल्कि सामाजिक भलाई के लिए कार्य किया।

1898 में उन्होंने पश्चिम की दूसरी यात्रा की। उन्होंने न्यूयार्क लॉस-एन्जिल्स, सैन फ्रांसिसकों तथा कैलिफोर्निया में 'वेदांत सोसाईटी की स्थापना की। उन्होंने पेरिस के धार्मिक सम्मेलन में हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व किया। इस प्रकार स्वामी जी ने हिंदू धर्म एवं भारतीय संस्कृति की धाक जमाते हुए भारत में ईसाइयों के द्वारा किए जा रहे प्रयासों पर पानी फेर दिया। भारतीयों को जब अपनी संस्कृति की महानता का पता चला तो उसमें आत्मगौरव की भावना उत्पन्न हो गई। हेंस कोहने ने लिखा है - ''स्वामी विवेकानन्द ने देश के स्वाभिमान आत्मशक्ति और आत्मविश्वास की शिक्षा दी। उन्होंने नवयुवकों को विदेशी सत्ता का विरोध करने के लिए नवीन उत्साह प्रदान किया। उन्होंने हिंदू जाति को स्वावलंबन का सबक दिया और इतिहास से प्रेम करने का पाठ पढ़ाया।''

1.4.10. स्वामी विवेकानन्द एवं देश का पुनर्निर्माण

स्वामी विवेकानन्द देश के पुनर्निर्माण के लिए समुचे भारत का भ्रमण किया। अपने छह वर्षों के भ्रमणकाल में वे राजाओं और दलितों दोनों के अतिथि रहे। भारत के पुनर्निर्माण के प्रति उनके लगाव ने ही उन्हें अंततः 1893 में शिकागो धर्म संसद में जानने के लिए प्रेरित किया, जहाँ वे बिना निमंत्रण के गए थे, परिषद् में उन्हें प्रवेश की अनुमति मिलनी कठिन हो गई। यूरोपीय देश पराधीन भारत को भला क्यों अवसर देते, उन्हें तो भारत नाम से ही घृणा थी एक अमेरिकन प्रोफेसर के प्रयास से किसी तरह उन्हें समय मिला।

1.4.13. योगदान

विवेकानन्द प्रधानतः शिक्षा, धर्मोपदेशक और सन्यासी थे; किंतु उनके हृदय में जनता के प्रति प्रेम था। भारत के अनेक महापुरुषों पर विवेकानन्द के व्यक्तित्व और विचारों का प्रभाव पड़ा है। सुभाषचन्द्र बोस, विवेकानन्द को अपना अध्यात्मिक गुरु मानते थे। अरविन्द उनके महान प्रसंशक थे और स्वामी सत्य देव उनके भक्त थे। उनकी पुस्तक 'संन्यासियों का गीत' बंगालियों की बाइबिल है। उनकी उद्दात देश भक्ति की तुलना मेजिनी, विस्मार्क अथवा लिंकन की भावनाओं से की जा सकती है।

स्वामी विवेकानन्द का कुछ प्रमुख योगदान निम्न हैं-

प्रथम- उन्होंने हिंदू पुनरुत्थान की अधिक पूर्ण एवं आत्मचेतना पूर्ण अवस्था प्रदान किया। भारत द्वारा विदेशों में भेजे गए अध्यात्मिक दूतों में वे सबसे अधिक विख्यात हुए। उन्होंने विदेशों में हिंदू धर्म की कीर्ति को प्रसारित कर भारतीयों के सोए हुए आत्मगौरव को जागृत किया।

द्वितीय- स्वामी विवेकानन्द पूर्व और पश्चिम दोनों संस्कृतियों के श्रेष्ठ तत्वों से परिचित थे। अतः उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही संस्कृतियों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से उन्होंने एक सेतु की भूमिका निभाई।

तृतीय-स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भारत की जीवनशक्ति उसका धर्म है तथा पश्चिम की जीवन शक्ति उसका विज्ञान है। वे पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय स्थापित करना चाहते थे, अतः उन्होंने अध्यात्मिकता तथा पाश्चात्य विज्ञान का वेदांत के विचारों और पश्चिम की सामाजिक व्यवस्था का प्रभावी समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

चतुर्थ- स्वामी विवेकानन्द ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया लेकिन उनके शिक्षाओं और उनके व्यक्तित्व का राष्ट्रवादी आंदोलन, विशेषतया बंगाल के राष्ट्रवादी आंदोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि प्रधानतया उन्होंने आध्यात्मिक स्वतंत्रता की धारणा का ही संदेश दिया किंतु उनके संदेश का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि राजनीति आदि अन्य प्रकार की स्वतंत्रता के विचार भी लोकप्रिय हुए।

पंचम्- स्वामी विवकानन्द जीवन के सभी क्षेत्रों में रूढ़िवादिता और यथास्थितिवाद के विरोधी और परिवर्तन तथा प्रगति की शक्तियों के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने 19वीं सदी में ही अश्पृश्यता का प्रबल विरोध किया तथा दलितों के उत्थान और विकास हेतु सभी संभव प्रयत्नों पर बल दिया। उन्होंने देश के सभी निवासियों के लिए 'विकास के समान अवसर' के सिद्धांत का समर्थन किया। इस दृष्टि से वे अपने समय से काफी आगे थे, सामाजिक क्रांति के पुरोधा थे। इसके अतिरिक्त सामाजिक सेवा के क्षेत्र में सक्रिय योगदान के लिए उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की, जो अपनी अनेक शाखाओं के साथ आज भी भारत के विभिन्न भागों में और विश्व के अनेक देशों में सक्रिय है।

1.4.12. सारांश

स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिकी महाद्वीप और यूरोप में जो विजय यात्राएँ की थीं उन्होंने लोगों को दिखला दिया कि हिंदुत्व एकबार पुनः शक्तिशाली हो गया है और वह विश्व में आध्यात्मिक तथा दार्शनिक-सांस्कृतिक का प्रचार करने के लिए कटिबद्ध है। अमेरिका और यूरोप के नवीन साम्राज्यवाद को एशिया के इस प्रत्याक्रमण का सामना करना पड़ा। अतीत में एशिया ने यूरोप को धर्म तथा संस्कृति के मूल मंत्र तत्व प्रदान किए थे और एशिया यूरोप को पुनः नैतिक प्रेरणा देना चाहता था। दिसंबर 1883 में

शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में विवेकानन्द ने जो ओजस्वी भाषण दिए उन्होंने हमारी मातृभूमि को एक नया आत्म-विश्वास प्रदान किया। विवेकानन्द भारत के सांस्कृतिक जीवन के निर्माण में एक गत्यात्मक व ओजमय आध्यात्मिक उत्साह का पूट देने में सफल हुए। लूथर और कल्विन की तरह दयानन्द और विवेकानन्द ने तत्कालीन भारतीय सभ्यता के स्तब्ध वातावरण फूँक दी। इसमें संदेह नहीं कि बंगाल के अरविन्द, सुभाष आदि नेताओं पर विवेकानन्द का गहरा प्रभाव पड़ा और रविन्द्रनाथ टैगोर ने तो उनकी भाँति ही अपनी रचनाओं में पूर्व तथा पश्चिम की संस्कृतियों के तत्वों का समन्वय करने का प्रयास किया।

1.4.13. पारिभाषिक शब्दावली

धाक	-	प्रभाव
समसामयिक	-	समकालीन
आध्यात्मवृति	-	धार्मिक पेशा या कार्य
सर्वोत्तम	-	सबसे उत्तम
प्रतिकार	-	बदला
तार्किक	-	तर्क संगत

1.4.14. बोध प्रश्न

बहु विकल्पीय प्रश्न

(1) निम्न में से कौन-सा कथन सत्य है?

(क) स्वामी विवेकानन्द ने 1885 ई. में न्यूयार्क में आयोजिक सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया।

(ख) स्वामी विवेकानन्द ने 1897 ई. में शिकागो में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया।

(ग) स्वामी विवेकानन्द ने 1893 ई. में शिकागो में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया।

(घ) स्वामी विवेकानन्द ने 1895 ई. में वाशिंगटन में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया।

(2) निम्न में से कौन-सी पुस्तक विवेकानन्द की कृतियों में सम्मिलित नहीं है?

(क) फ्रोम कोलम्बो टू अल्मोड़ा - लेक्चर्स (ख) वेदांग प्रकाश

(ग) इण्डिया एण्ड हर प्रोबलम्स (घ) मॉडर्न इण्डिया

(3) निम्न में से कौन-सा कथन सत्य नहीं है?

(क) विवेकानन्द ने शुद्रों और स्त्रियों सहित सभी को शिक्षा का अधिकार प्रदान करने पर बल दिया।

(ख) विवेकानन्द पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था के बहुत बड़े प्रशंसक थे।

(ग) विवेकानन्द ने शिक्षा के लिए प्राचीन भारत में प्रचलित गुरुकुल प्रणाली को पुनर्जीवित करने पर बल दिया।

(घ) स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस के धार्मिक संदेश को लोकप्रिय बनाया।

(4) निम्न में से कौन-सा कथन स्वामी विवेकानन्द का नहीं है?

(क) प्रत्येक आत्मा की अव्यक्त ब्रह्म है।

(ख) स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।

(ग) शक्ति ही धर्म है, शक्ति धर्म से भी बड़ी वस्तु है।

(घ) पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिंदू धर्म के समान गरीबों और निम्न जाति वालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो।

(5) स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु हुई?

(क) 4 जुलाई, 1902 (ख) 5 जुलाई, 1902

(ग) 4 जुलाई, 1905 (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(6) विश्व धर्म का विचार किसने रखा-

(क) महात्मा बुद्ध (ख) स्वामी विवेकानन्द

(ग) महावीर (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर- 1. (ग) 2. (ख) 3. (ख) 4. (ख) 5. (क) 6. (ख)

1.4.14.1. लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विवेकानन्द के बचपन का नाम क्या था?
2. स्वामी विवेकानन्द के गुरु कौन थे?
3. स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना सर्वप्रथम कहाँ और क्यों की?
4. विवेकानन्द के अनुसार भारत के जीवन का सबसे प्रमुख तत्व क्या है?
5. दो स्वतंत्रता सेनानियों का नाम बताइए जो विवेकानन्द से सर्वाधिक प्रभावित थे?
6. विवेकानन्द के सामाजिक चिंतन की दो प्रमुख बातें लिखिए?
7. विवेकानन्द को भारत का आध्यात्मिक नेपोलियन कहने का आधार क्या है?

1.4.14.2. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रतिपादन कीजिए।
2. निम्नलखित में से दो पर विवेकानन्द का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए-

   (अ) धर्म और जीवन में उसकी आवश्यकता

   (ब) समाजवाद

   (स) व्यक्ति की गरिमा और शक्ति तथा निर्भयता का संदेश

   (द) राष्ट्रवाद और अंतरराष्ट्रीयतावाद
3. स्वामी विवेकानन्द की देन और उनकी उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
4. विवेकानन्द के सामाजिक चिंतन पर प्रकाश डालिए।
5. विवेकानन्द के राजनीतिक चिंतन पर प्रकाश डालिए।
6. स्वामी विवेकानन्द का चरित्र-चित्रण अपने शब्दों में करें।

1.4.15. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. फाड़िया डॉ० बी० एल०, 2008, राजनीति चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा पृष्ठ संख्या 67-74
2. वर्मा, डॉ० वी० पी०, 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, पृष्ठ संख्या- 128-143
3. जैन डॉ० पुखराज एवं मेहता प्रो0 जीवन, 2008, राजनीति विज्ञान,एस बी पी डी पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ठ सं0 75-77 ISBN-978-93-5767-176-3
4. नागर, डा0 पुरुषोत्तम: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
5. सूद, प्रो0 ज्योति प्रसाद: आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएं, जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ
6. लुई, बर्क मेरी: स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिकाः न्यू डिस्कवरीज, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1958
7. मजूमदार, सत्येन्द्रनाथ: विवेकानन्द-चरित, अद्वैत आश्रम, प्रकाशक, अल्मोड़ा 1966
8. विवेकानन्द स्वामी: फ्रॉम कोलम्बो टू अल्मोड़ाः लेक्चर्स, मद्रास प्रकाशन 1904

खंड-2 : उदारवादी चिन्तन/उग्रतावादी

इकाई-1 : दादाभाई नौरोजी

इकाई की रूपरेखा

2.1.1 उद्देश्य
2.1.2 जीवन परिचय
2.1.3 दादा भाई नौरोजी की रचनाएँ
2.1.4 दादा भाई नौरोजी का राजनीतिक दर्शन
2.1.4.1 राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार का पोषण
2.1.4.2 ब्रिटिश चरित्र और न्यायप्रियता में विश्वास
2.1.4.3 ब्रिटिश लोकमत को जाग्रत करने का प्रयत्न
2.1.4.4 उपनिवेशवाद की निरंकुशता पर प्रहार
2.1.4.5 समाजवाद के प्रति झुकाव
2.1.4.6 संवैधानिक तथा शांतिपूर्ण साधनों में विश्वास
2.1.4.7 देशी राजवाडों के महत्व को स्वीकार करना
2.1.4.8 स्वतंत्र उदारवादी धारणा में विश्वास
2.1.4.9 ब्रिटिश राज्य से सम्बन्ध
2.1.5 दादा भाई नौरोजी के राजनीतिक विचारों में परिवर्तन
2.1.6 दादा भाई नौरोजी का आर्थिक विचार
2.1.6.1 ब्रिटिश शासन की अप्राकृतिक वित्तीय तथा आर्थिक नीति
2.1.6.2 भारत से धन का निर्गम
2.1.6.3 निर्गम सिद्धांत का राजनीतिक अभिप्राय
2.1.7 दादा भाई नौरोजी का सामाजिक दर्शन
2.1.8 दादा भाई के विचारों का योगदान
2.1.9 मूल्यांकन
2.1.10 कठिन शब्दावली
2.1.11 अभ्यास प्रश्न
2.1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.1.1 उद्देश्य

- दादा भाई के जीवन के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- दादा भाई नौरोजी के रचनाओं को समझ सकेंगे।
- दादा भाई नौरोजी के राजनीतिक दर्शन को समझ सकेंगे।
- दादा भाई का समाजवादी के प्रति झुकाव को समझ सकेंगे।
- दादा भाई की उदारवादी धारणा को समझ सकेंगे।
- दादा भाई का ब्रिटिश राज्य के साथ सम्बन्ध को समझ सकेंगे।
- दादा भाई का राजनीतिक विचार के परिवर्तन कैसे हुआ, इसे समझ सकेंगे।
- दादा भाई के निर्गम सिद्धांत को समझ सकेंगे।
- दादा भाई के आर्थिक विचारों को समझ सकेंगे।

2.1.2 जीवन परिचय

भारतीय उदारवादी परम्परा में दादा भाई नौरोजी भारतीय राष्ट्रवाद के एक अग्रणी प्रस्तोता और उन्नायक थे। गोपाल कृष्ण गोखले की भाँति इन्होंने भी जीवन पर्यन्त भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उदारवादी तत्वों का प्रचार-प्रसार किया। दादा भाई पहले भारतीय थे, जिन्हें तत्कालीन परिवेश में जीवन के हर क्षेत्र में सम्मान प्राप्त हुआ और राष्ट्रवादियों द्वारा उन्हें प्रेमपूर्वक ''भारत का वृद्ध पितामह (The Grand old man of India) की उपाधि से सम्बोधित किया गया, जो देशवासियों का सर्वोच्च पुरस्कार हो सकता है। डा0 वी0 पी0 वर्मा के शब्दों में ''दादा भाई भारत में राजनीतिक जागृति के अग्रदूत तो थे ही ऐसे अर्थशास्त्री भी थे जिन्हें लोक वित्त, विदेशी व्यापार, राष्ट्रीय आय जैसी समस्याओं में गहरी पैठ थी। उनका निर्मम सिद्धांत भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक चिन्तन में उतना ही विस्फोटक बन गया जितने माक्र्स के शोषण एवं वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त माक्र्सवादी एवं समाजवादी क्षेत्र में बन गये।'' महात्मा गाँधी ने भी आगे चलकर दादा भाई के कार्यों एवं नीतियों का अनुसरण किया। उनके पीढ़ी के किसी की अन्य व्यक्ति का भारत के सार्वजनिक जीवन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना की दादा भाई का पड़ा।

दादा भाई नौरोजी का जन्म 4 सितम्बर 1825 को बम्बई के खड़क नामक स्थान पर एक पारसी परिवार में हुआ था। नौरोजी पलनजी दोर्दी तथा माणिक बाई की इकलौती संतान थे। चार वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता का देहांत हो गया, अतः उनका लालन-पालन उनकी माता के द्वारा ही हुआ। दादा भाई के शब्दों में ''एक अद्भूत सहयोगी, परिचारिका, शिक्षक, अभिभावक तथा सबकुछ के रूप में उनके जीवन को लगभग 50 वर्षों तक प्रभावित किया।'' अपने प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में दादा भाई ने 1904 ई0 में कहा था, मेरे जीवन में सर्वप्रथम यदि किसी का स्थान है तो वह मेरी माता का है। उनका विवाह 11 वर्ष की अवस्था में सोहराबजी की 7 वर्षीय कन्या गुलबाई के साथ हुआ। दादा भाई की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा निःशुल्क विद्यालय में हुई जो उनके लिये वरदान साबित हुआ क्योंकि अगर वहाँ शुल्क का प्रावधान होता तो शायद उनकी निर्धन माता के लिये उन्हें स्कूल भेजना असम्भव होता। इस घटना ने उन्हें निःशुल्क शिक्षा का समर्थक बना दिया।

दादा भाई ने अपने जीवन में विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। उनपर दासता उन्मूलन आन्दोलन के अग्रगन्ता, विलवरफोर्स, टॉमस कलार्कसन, तथा जैकरी मैकाले का प्रभाव पड़ा था। 1853 में कुछ अन्य सदस्यों के सहयोग से बम्बई संघ की (बॉम्बे एसोएसोशियन) स्थापना की। 1854 में वे एलिंफटस कॉलेज बम्बई में गणित तथा प्राकृतिक दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1867 में उन्होंने कुछ मित्रों के साथ मिलकर लंदन में इस्ट इण्डिया एसोशिएयन की स्थापना की और 1860 में उसकी बम्बई शाखा की नींव डाली। 1873 में दादा भाई ने भारतीय वित्त की फौसिट प्रवर समिति के समझ साक्ष्य दिया। 1874 में उन्होंने बड़ौदा में दीवान के पद पर काम किया। 1875 में वे बम्बई नगर महापालिका के सदस्य बने। 1885 में उन्हें बम्बई प्रांतीय विधान परिषद् का सदस्य नामांकित किया गया। अपने महान अध्यावसाय तथा लगन के फलस्वरूप 1892 में वे भारत के पक्ष का प्रतिनिधित्व करने के लिये केन्द्रीय फिन्सबरी निर्वाचन क्षेत्र में ब्रिटिश लोकसभा के सदस्य चुने गये। वे 1892 से 1895 तक ब्रिटिश संसद के सदस्य रहे। इंग्लैण्ड में अपने दीर्घ प्रवास के दौरान ग्लैडस्टन, ब्रैडलाँ, ब्राइट और डयूक आर्गिल से उनकी गाठी मित्रता हो गई। दादा भाई तथा चाल्स ब्रैडलॉ के सतत् प्रयत्नों से ब्रिटिश लोकसभा में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें सिफारिश की गई कि सभी प्रकार की साम्राज्यीय सेवाओं के लिये इंगलैण्ड तथा भारत में साथ-साथ परीक्षाएँ ली जाए। 1897 में दादा भाई भारतीय व्यय के वैब्ली आयोग के समक्ष उपस्थित हुए और आयोग को अनेक टिप्पणियाँ प्रस्तुत की। इस सारी अवधि में दादा भाई सिर्फ भारत के सम्बन्ध में ही सोचते थे। उन्होंने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से भी यह अनुरोध किया कि वे भारत जाकर वहाँ की दुर्दशा को अपनी आँखों से देखें। दादा भाई के प्रयासों का फल ही था कि 1890 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, आर॰ एन॰ सुधोलकर, एलनह्यूम तथा अर्डले नार्टन की ओर से एक शिवर मंडल भारत की ओर से इंगलैण्ड भेजा गया।

उन्होंने अविचल लगन तथा महान साहस के साथ लगभग 60 (साठ) वर्ष तक भारत माता के पुनरूद्धार के लिये अथक प्रयास करते रहे। सभी वर्गों के भारतीयों को उन्होंने अपनी श्रद्धांजली अर्पित की एवं उनका आदर किया। वे आत्म त्याग की मूर्त्ति थे एवं पारसी धर्म के श्रेष्ठतम आदर्शों के प्रतिनिधि थे। दादा भाई ने स्कूल के अध्यापक, प्रोफेसर, व्यवसायी, प्रशासक ब्रिटिश संसद के सदस्य और तीन बार भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के सभापति के रूप में देश की सेवा की। जीवन के इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने कष्टसहन, आत्मत्याग, अनुरागपूर्ण देशभक्ति और निष्कलंक इमानदारी का गौरवपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया। वे सचमुच भारतीय राष्ट्रवाद के पथ-अन्वेषक थे।

दादा भाई का भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस में सर्वोच्च स्थान है। 1886 में कलकत्ता में, 1893 में लाहौर में और 1906 में कलकत्ता अधिवेशन में उन्होंने अध्यक्षीय आसन से यह घोषणा की कि भारत के राजनीतिक प्रयत्नों का उद्देश्य 'स्वराज्य' है। डॉ॰ पट्टाभिसीता रमैया के शब्दों में- ''काँग्रेस के बड़े-बुढ़ों की सूची में सबसे बड़ा नाम दादा भाई नौरोजी का आता है जो काँग्रेस की शुरूआत से लेकर अपने जीवन पर्यन्त काँग्रेस की सेवा करते थे और काँग्रेस को सर्वसाधारण की शासन सम्बन्धी शिकायतों को दूर करनेवाली राज सभा से बढ़ाते-बढ़ाते स्वराज्य प्राप्ति (कलकत्ता 1908) के निश्चित उद्देश्य से कार्य करनेवाली राष्ट्र परिषद् तक पहुँचा दिया। हमेशा काँग्रेस के साथ रहते हुए इंगलैण्ड एवं हिन्दुस्तान दोनों जगह उन्होंने काँग्रेस के झण्डे को ऊँचा रखा।'' दादा भाई जब दूसरी बार काँग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए तो उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाकर ब्रिटेन वालों को इस बात की प्रेरणा दी कि वे- ''इस शक्ति (शिक्षित भारतीय) को अपनी ओर खींचने के बजाए अपने से दूर न फेंके- अपना विरोधी न बनावें।

काँग्रेस तो उच्च श्रेणी के बुद्धिवादियों का प्रतिनिधित्व करती है।'' स्पष्ट है कि उनके विचारों में धीरे-धीरे परिवर्त्तन हो रहा था और वे उदारवाद से उग्रवाद की ओर बढ़ रहे थे। ब्रिटिश न्यायप्रियता और इमानदारी के सम्बन्ध में उन्हें प्रारम्भ में जो भ्रम था वह दूर हो गया और वे अतिवाद की ओर झुकने लगे थे।

1906 में जब दादा भाई काँग्रेस के सभापति नियुक्त हुए तो काँग्रेस उदारवाद और उग्रवाद के दो खेमों में विभाजित होने के खतरे से जूझ रही थी। बंग-भंग तथा ब्रिटिश राज्य के अन्य अत्याचारों ने भारतीयों की सहन शक्ति को झकझोर दिया था। लाल-बाल-पाल जैसे राष्ट्रीय उग्रवादियों ने वहिष्कार की नीति के दृढ़ता से आगे बठाने की नीति पर जोर दे रहे थे ऐसे समय में दादा भाई ने काँग्रेस की अध्यक्षता को स्वीकार किया। डा॰ सीतारमैया के अनुसार- ''इस अस्सी वर्ष के बूढ़े ने 6000 मील दूर (इंगलैण्ड) से यहाँ आकर स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के साथ स्वराज्य की एक नई पुकार और पैदा कर दी, यह देख इंगलिश मैन इनपर उबल पड़ा। लेकिन भारतीय भागों के लिये इस तरह रास्ता अपने आप साफ हो रहा था।'' इस प्रकार दादा भाई नेतृत्व के बल पर काँग्रेस के विभाजन को रोकने में समर्थ हुए।

दादा भाई अपने जीवन के लगभग आधी शताब्दी तक भारत की अथक एवं कठोर सेवा की। वे भारत के पाश्चात्य शिक्षा की एक सर्वश्रेष्ठ उपज थे। अनेक क्षेत्रों में वे मौलिक विचारक तथा पंथ अन्वेगक थे। तथापि सामाजिक और आर्थिक दर्शन के क्षेत्र में उन्हें विशिष्ट स्थान नहीं मिला, किन्तु उन्हें भारतीय अर्थतंत्र और वित्त का अद्भूत ज्ञान था। उनकी रचनाएँ अर्थपूर्ण तथा प्रसादगुण से परिपूर्ण है और तथ्यों की अधिकारपूर्ण विवेचना एवं वस्तुगत बौद्धिक दृष्टीकोण से युक्त है। उस समय भारत के संदर्भ में दादा भाई ने आर्थिक दर्शन पर अपनी ''पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया'' नामक प्रमाणिक पुस्तक लिखकर निर्भिक सैद्धांतिक सुझबुझ का परिचय दिय। इस पुस्तक में दादा भाई ने तीस वर्ष की अधिक काल के भाषणों वक्तयों और पत्रों का संग्रह है। यद्धपि इसमें पुनरावृत्ति बहुत है और सम्पूर्ण विषय वस्तु को एक सूत्र में पिरोनेवाली सैद्धांतिक व्यवस्था का अभाव है फिर भी उसमें ऐसे व्यक्ति की सत्य निष्ठा झलकती है जिसने भारत के आर्थिक उधार के लिये दीर्घकाल तक अडिंग और अथक कार्य करके सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी।

दादा भाई नौरोजी भारत के वृद्ध वितामह, भारतीय राष्ट्रवाद के जनक तथा स्वशासित भारत के हैराल्ड थे। यद्धपि अपने जीवन के अंतिम दिनों में दादा भाई का ब्रिटिश शासन के प्रति रूख कठोर हो गया था किन्तु उन्होंने कभी भी क्रांति के हिंसात्मक उपायों का समर्थन नहीं किया। उदार एवं सैद्धांतिक उपयों में अटूट विश्वास सदैव बना रहा। श्रीमती एनी बेसेंट के प्रार्थना पत्र पर दादा भाई ने 'होमरूल लीग की बम्बई शाखा का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया, लेकिन लीग की औपचारिक स्थापना के पूर्व ही त्याग एवं से वामय जीवन व्यतीत करनेवाले भारत के इस वृद्ध पितामह का 30 जून 1917 को स्वर्गवास हो गया। इस अवसर पर भारत ने ही नहीं, इंगलैण्ड ने भी दादा भाई को अश्रुपूरित श्रद्धांजलि अर्पित की। वे आत्म त्याग की मूत्रि थे तथा फारसी धर्म के श्रेष्ठतम आदर्शों के प्रतिनिधि थे। वे सचममुच भारतीय राष्ट्रवाद के पथ अन्वेषक थे। उनका चिन्तन भारतीय संदर्भों का निचोड़ है।

2.1.3 दादा भाई नौरोजी की रचनाएँ

सन् 1901 में भादा भाई नौरोजी की प्रसिद्ध पुस्तक पवार्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (Poverty and Un-British Rule in India) लन्दन में प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने अंग्रेजो द्वारा भारत के शोषण का विस्तृत एवं तर्कपूर्ण विवेचन किया। भारतीय अर्थशास्त्र तथा भारतीय राष्ट्रवाद के क्षेत्र में यह एक श्रेष्ठ प्रमाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में भारतीय वित्त की समस्याओं के अध्ययन में दादा भाई ने सांख्यिकी पद्धतियों को लागू किया और निर्गम सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस दृष्टी से उनका यह ग्रन्थ राजनीति एवं समाजवादी चिन्तन में आर्थिक दृष्टिकोण का महाभाष्य माना गया। इससे पूर्व सन् 1976 में उनकी पुस्तक ''पावर्टी इन इण्डिया (poverty in India) प्रकाशित हुई।

2.1.4 दादा भाई नौरोजी का राजनीतिक दर्शन

अपने राजनीतिक विचारों के कारण दादा भाई की गणना उदारवादी चिंतकों में की जाती है। उन्हें ब्रिटिश न्याय प्रियता में विश्वास था लेकिन जीवन के अंतिम वर्षों में वे कठोर हो गये थे। जहाँ तक उदारवाद का सम्बन्ध है, नौरोजी को शीर्ष स्थान पर रखा जा सकता है, राजनीतिक उदारवाद के जनक का श्रेय नौरोजी को ही दिया जा सकता है। जिस समय राणाडे जैसे महान उदारवादी समाज-सुधार को काँग्रेस में सम्मिलित करना चाहते थे उस समय नौरोजी ने इसका विरोध किया और कहा कि प्रत्येक विषय के लिये एक उचित स्थान उचित परिस्थितियाँ, उचित दल और उचित समय होता है। काँग्रेस को विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक संस्था के रूप में कार्य करना चाहिए और सामाजिक समस्याओं को विभिन्न जातियों के उपर छोड़ देना चाहिए, एक जाति दूसरी जाति के समस्याओं में रूचि नहीं ले सकती। राष्ट्र को अपने आपको केवल ऐसे प्रश्न तक सीमित रखना चाहिए जिसमें कि सम्पूर्ण राष्ट्र रूचि रखता हो और जिसमें सभी लोग भाग ले सकते हैं। इस प्रकार दादा भाई द्वारा राजनीतिक प्रश्नों पर सामाजिक सुधार से अधिक जोर देना ही उन्हें एक उच्च कोटि के राजनीतिक नेता के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। दादा भाई के भारतीय राजनीतिक उदारवाद में योगदान को उनके निम्नलिखित राजनीतिक विचारों के संदर्भ में देखा जा सकता है।

2.1.4.1 राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार का पोषण

भारत के अन्य उदारवादी चिंतकों की भाँति नौरोजी की ब्रिटिश उदारवादी दर्शन से अनुप्रमाणित थे। अतः उदारवाद के मूलभूत सिद्धांतों में उनकी अटूट आस्था थी। इसलिये उन्होंने राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार की धारणा पर बल दिया और कहा कि न्याय, उदारता और मानवता की आधारशिलाओं पर ही राजनीतिक व्यवस्था की एकता कायम रखी जा सकती है। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था, यदि वह पाशविक बल पर आधारित है तो कभी दीर्घजीवी नहीं हो सकती। नागरिकों की इच्छाओं और आकांक्षाओं में तदात्मय हो तभी राजनीतिक व्यवस्था दीर्घकालीन हो सकती है। दादा भाई के शब्दों में- ''आप एक साम्राज्य का निर्माण अस्त्र-शस्त्र द्वारा अथवा नाशवान पाशविक भौतिक शक्ति के बल पर कर सकते हैं किन्तु उसका परिरक्षण केवल शाश्वत नैतिक शक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। पाश्विक बल कभी न कभी छिन्न-भिन्न हो जाएगा। केवल धर्म शाश्वत है।''

दादा भाई के अनुसार हृदय, अनुभूति और भावनाओं की एकता ही राजनीतिक शक्ति का वास्तविक आधार है। अंग्रेजों का सैन्यबल कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो भारत में उसके शासन की

सुरक्षा पूर्णतः भारतवासियों के संतोष पर ही निर्भर है। पाशविक बल से एक साम्राज्य का निर्माण किया जा सकता है। किन्तु केवल नैतिक बल, न्याय और परस्पर विश्वास पर ही वह टिका रह सकता है।

भारत में ब्रिटिश शासन की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी दादा भाई ने ब्रिटिश सरकार के दोषों की निर्भीक आलोचना की। उन्होंने कहा कि ''वत्र्तमान शासन प्रणाली भारतवासियों के लिये विनाशकारी तथा निरंकुश है और इंगलैण्ड के लिये आत्मघाती तथा उसके राष्ट्रीय चरित्र, आदर्शों तथा परम्पराओं के प्रतिकूल है।'' दादा भाई ने चेतावनी भरे शब्दों में कहा'' निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन अधिक समय तक टिक नहीं सकता क्योंकि बुरी शासन प्रणाली दिवालीयापन तथा विनाश की ओर ले जा रही है।''

2 मई 1867 के ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन, लन्दन में भारत के प्रति इंगलैण्ड के कत्र्तव्य' शीर्षक से पेपर पढ़ते हुए दादा भाई ने कहा ''यदि 20 करोड़ असंतुष्ट भारतवासियों और एक लाख ब्रिटिश सैनिकों के बीच संघर्ष हुआ तो उसके परिणाम स्पष्ट हैं चाहे वे सैनिक कितने भी शक्तिशाली क्यों न हो, इस संघर्ष में एक राष्ट्र चाहे कितनी वार भी पराजित क्यों न हो, उसकी आत्मा कभी भी पराजित नहीं हो सकती। उन्होंने कहा कि अन्याय विनाश को बुलावा देता है। दादा भाई 'सल्सबरी' के इस कथन को बार-बार दुहराते थे ''अन्याय बलवान से भी बलवान का नाश कर देता है''

2.1.4.2 ब्रिटिश चरित्र और न्यायप्रियता में विश्वास

दादा भाई नौरोजी अंग्रेजों के विवेक और न्यायप्रियता में विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि अंग्रेजों के शासन के अन्तर्गत भारत का भविष्य सदैव उज्जवल रहेगा। उन्हें अंग्रेजों द्वारा भारत को सभ्य बनाये जानेवाले पुनीत कार्य में विश्वास था। उनकी यह धारणा थी कि अंग्रेजों का शासन भारत के चहूँमुखी विकास के लिये वरदान का कार्य करेगा। उनका कहना था कि ब्रिटेन की विकसित मानवतावादी सभ्यता ने भारत को बहुत कुछ दिया है और पश्चात्य शिक्षा, प्रशिक्षित प्रशासकीय अधिकारियों तथा रेलपथ आदि यात्रिंक उद्योगों ने भी देश को लाभ पहुँचाया है। अपने कलकत्ता काँग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने यहाँ तक कहा कि अंग्रेजों का उस समय तक बने रहना आवश्यक है जबतक कि वे भारतीयों को स्वावलम्बी बनाने सम्बंधी अपना न्यासिता का उद्देश्य पुरा नहीं कर लेते।

दादा भाई का विश्वास था कि इंगलैण्ड भारत के साथ किये गये अपने वायदों को इमानदारी, सज्जनता और गरिमा के साथ पूरा करेगा। इस न्याय के लिये भारत तथा इंगलैण्ड के बीच मधुर सम्बंधों की स्थापना की जानी चाहिए। इन वायदों की पूत्रि पर भारत अपनी दशा सुधार कर सकेगा एवं अपनी समस्याओं का समाधान भी कर सकेगा। उनका विश्वास था कि इंगलैण्ड न्याय, इमानदारी और स्वतंत्रता का समर्थक है। सितम्बर 1880 में उन्होंने लूई मालेट को एक पत्र में लिख ''अंग्रेज जाति के चरित्र में उच्चकोटि की सभ्यता, उत्कृष्ट स्वतंत्रता प्रेम' तथा आत्मा की श्रेष्ठता आदि गुणों का सुन्दर समन्वय है। ऐसी जाति एक बड़े राष्ट्र को पैरों तले कुचल नहीं सकती बल्कि वह निश्चय ही उसे उठाने के यश की लालसा से प्रेरित होकर कार्य करेगी। संसार में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं हुआ है, जिसने विजेता के रूप में अंग्रेजों की भाँति शासितों के कल्याण को अपना कत्र्तव्य समझा हो अथवा उनके कल्याण के तीव्र इच्छा की अनुभूति की हो।'' इस विश्वास के कारण विचारवान भारतीय ब्रिटिश शासन के पक्के भक्त बने हुए हैं।

दादा भाई स्वीकार करते थे कि ब्रिटिश शासन ने भारत को यांत्रिक वैज्ञानिक और संगठनात्मक ढंग से सभ्य बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उनका विश्वास था कि इंगलैण्ड शीघ्र ही यह अनुभव

कर लेगा कि बढ़ती हुई आर्थिक लोलुपता की लज्जाजनक नीति संकुचित दृष्टी की ही परिचायक नहीं है अपितु उसमें देश के लिये भी खतरे के बीज विद्यमान है वे चाहते थे कि भारत के आर्थिक साधनों का भारी निर्गम तुरन्त बन्द कर दिया जाए तभी भारत में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व के लिये अनुकुल परिस्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

2.1.4.3 ब्रिटिश लोकमत को जागृत करने का प्रयत्न

दादा भाई नौरोजी की मान्यता थी कि भारतीय समस्याओं के बारे में ब्रिटिश लोकमत को जगाने की आवश्यकता है। उन्होंने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश मित्रों के सहयोग के बिना न तो भारत के संबंध में इंगलैण्ड में स्वस्थ लोकमत बनाया जा सकेगा और न ब्रिटिश संसद के सदस्य भारत के सुधारों की आवश्यकता को समझ सकेंगे। इसी कारण दादा भाई ने व्योमेश चन्द्र चटर्जी आदि के सहयोग से 'लन्दन इण्डियन सोसाइटी' की स्थापना की जिसका उद्देश्य अंग्रेजों और भारतीयों मे ं सहयोग बढाना था। ब्रिटिश लोकमत को भारतीय समस्याओं की जानकारी देते हुए दादा भाई ने भारत की शिकायतों की एक लम्बी चैड़ी सूची प्रस्तुत की। जैसे- शिक्षा के मामले में उदासीनता भारतीय प्रशासन में भारतीयों को उचित स्थान देना, बार-बार आकाल पड़ना, सिंचाई और आवागमन के साधनों का अभाव आदि। दादा भाई ने स्पष्ट शब्दों में ब्रिटिश जनता और शासन को चेतावनी दी कि ''भारत की सिविल सर्विस में भारतीयों के भर्ती न करना वैसा ही होगा जैसा इंगलैण्ड की सिविल सर्विस अंग्रेजों को भर्ती न करना'' कहने का तात्पर्य यह था कि भारत की सिविल सर्विस में अंग्रेजों के समान ही भारतीयों को अधिकार मिलना चाहिए। दादा भाई ने कहा कि नैतिकता और संवैधानिक विधि दोनों का तकाजा है कि इंगलैण्ड भारत पर भारतवासियों के कल्याण के लिये ही शासन करें। भारतीयों को राजनैतिक और आर्थिक कष्टों से छुटकारा दिलाने में ही ब्रिटिश चरित्र की नैतिकता है।

2.1.4.4 उपनिवेशवाद की निरंकुशता पर प्रहार

दादा भाई ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद की निरंकुशता की नैतिक बुराइयों का पर्दाफाश किया। उनके अनुसार निरंकुश शासन राजनीतिक शक्ति की धारणा करनेवाले की नैतिक संवदेनशक्ति को क्षीण और कुंठित करके उन्हें भष्ट कर देता है। निरंकुश शासकों को उपनिवेशी जनता के साथ घमण्ड अहंकार तथा अत्याचार से युक्त व्यवहार करने की आदत पड़ जाती है। यदि अंग्रेज अधिकारी निरंकुशता की आदतें और प्रशिक्षण लेकर स्वदेश वापस जाएँगें तो क्या वे इंगलैण्ड के चरित्र और संस्थाओं को प्रभावित नहीं करेंगे। भारत में काम करनेवाले अंग्रेज भारवासियों को उठाने के बजाए स्वयं पतित होकर एशियाई निरंकुशवाद के स्तर तक पहुँच रहे हैं। अभी इंगलैण्ड पर इस नैतिक अधःपतन का प्रभाव नहीं पड़ा है किन्तु अगर समय रहते, उसने इस कुप्रभाव को फैलने से न रोका जो उसकी जनता को उत्तेजित कर रहा है तो वह दिन दूर नहीं जब भारत पर किये गये बुराइयों का बदला प्रकृति उससे ले लें। एक भविष्य द्रष्टा की पूर्वानुभूति का परिचय देते हुए दादा भाई ने चेतावनी दी- ''इंगलैण्ड ने संवैधानिक सरकार के लिये वीरतापूर्वक संघर्ष किये हैं, उनका इतिहास बहुत ही गौरवपूर्ण है किन्तु वहीं इंगलैण्ड भारत में ऐसे अंग्रेजों का एक वर्ग तैयार कर रहा है जो निरंकुश शासन में प्रशिक्षित तथा अभ्यस्त है जिसमें असहिष्णुता, अहंकार तथा निरंकुश शासक की-सी स्वेच्छाचारिता के दुर्गुण घर करते जा रहे हैं और जिन्हें इसके अतिरिक्त संवैधानिकता के पाखंड के भी प्रशिक्षण मिला रहा है।'' इस प्रकार दादा भाई ने निरंकुश साम्राज्य की नैतिक बुराइयों को स्पष्ट करके गहरी राजनीतिक सुझबूझ का परिचय दिया।

2.1.4.5 समाजवाद के प्रति झुकाव

दादा भाई अपने तीक्ष्ण बुद्धि और दूरदर्शिता की बल पर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की बढ़ती आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को भली भाँति समझ लिया था। दादा भाई प्रथम व्यक्ति थे जिनका ब्रिटिश समाजवादी नेता हिण्डमैन से निकटतम वैचारिक संबंध था। प्रारम्भ में इन दोनों के सम्पर्क की भारत के कुछ समाचारपत्रों में आलोचना भी की थी लेकिन दादा भाई ने इसका उत्तर देते हुए कहा, ''एकपक्षीय मत बनों। वे समाजवादी ही है जो हमारी सहायता कर रहे हैं।''

दादा भाई का समाजवादी विचारधारा से संबंध बना रहा। वे एम्सटरडम में विश्व समाजवादी सम्मेलन में सम्मिलित हुए एवं ब्रिटेन में अपने सार्वजनिक वक्तब्यों में उन्होंने माता कि ब्रिटिश उच्च वर्ग की अपेक्षा श्रमिक वर्ग की भारतीय समस्याओं के प्रति अधिक सहानुभूति थी। वैडरवर्न तो उन्हें एक श्रमिक प्रतिनिधि मानते थे।

दादा भाई के उदारवादी दृष्टीकोण के साथ ही उनके विचारों में समाजवादी आग्रहों को देखा जा सकता है। उन्होंने 1905 के नेशनल डेमोक्रेटिक लीग में जिसके वे उपाध्यक्ष थे, वृद्धावस्था पेंशन के लिये प्रस्ताव रखा। श्रमिक के अधिकारों की रक्षा के लिये उन्होंने औद्योगिक आयुक्त की नियुक्ति की मांग की। 14 अगस्त 1904 में आयोजित समाजवादी काँग्रेस में दादा भाई का भारी स्वागत हुआ एवं उन्होंने प्रतिनिधियों को भारत में अन्यायपूर्ण ब्रिटिश प्रशासन के आर्थिक शोषण से परिचित कराया। इस अन्याय के विरूद्ध संघर्ष में विश्व सर्वहारा वर्ग के सहयोग की अपेक्षा की। भारत में बहुसंख्यक समुदाय सर्वहारा वर्ग हैं एवं वे संसार के श्रमिकों से आशा करते हैं, उनकी सहायता एवं सहानुभूति के प्रार्थना करते हैं कि उन्हें भारतीय जनता पर होनेवाले अत्याचारों के विरूद्ध संघर्ष करना चाहिए। हम सदा से ही अमानुषिक रवैए की आलोचना करते हैं, अमानुषिक का अर्थ क्या है? क्या यह मानवीय नीति है कि एक असभ्य व्यक्ति कमजोर व्यक्ति पर चोट करें एवं उसे लूट ले।''

समाजवादी काँग्रेस के ब्रिटिश दुव्र्यवहार की आलोचना का प्रस्ताव पास किया गया। समाजवादियों एवं दादा भाई के इस सम्पर्क की ब्रिटिश समाचारपत्रों में कुटु आलोचना की गई। दादा भाई ने साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा कि भारत के शोषण से प्राप्त लाभ भारतीय जनता के हित वृद्धि में न होकर कुछ पूँजीपतियों के हाथों में चला जाता है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी निरंतर शोषण कर रहे हैं एवं जनता का रक्त चुस रहे हैं। कोई भी समाजवादी भारतीय आर्थिक शोषण की ब्रिटिश नीति के संदर्भ में दादा भाई से अधिक आलोचना नहीं कर सकता था।

साम्राज्यवाद की प्रकृति एवं राष्ट्रीय पूँजीवादी की प्रकृति के इस विश्लेषण को अवश्य ही महत्वपूर्ण समाजवादी आग्रह का स्तर दिया जा सकता है। चूँकि भारत में राष्ट्रीय पूँजी पर ब्रिटिश पूँजीपतियों का एकाधिकार था अतएव उत्पादक एवं श्रमिकों के संघर्ष का संदर्भ भी भिन्न था। 'श्रमिकों के अधिकार' शीर्षक पुस्तिका में उन्होंने औद्योगिक आयुक्तों के न्यायालय स्थापित करने का समर्थन किया। उन्होंने इस दावे का भी हार्दिक समर्थन किया कि क्रम भी एक प्रकार की सम्पति है।''

2.1.4.6 संवैधानिक तथा शांतिपूर्ण साधनों में विश्वास

दादा भाई संवैधानिक तथा शांतिपूर्ण पद्धति में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि संवैधानिक आन्दोलन की पद्धति के आधार पर ही भारतीय अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। वे इस बात को समझते थे कि अंग्रेजों से लड़कर अथवा उसके प्रतिहिंसक क्रांति और बिद्रोह करके अपनी राजनीतिक

स्वतंत्रता तत्कालीन परिस्थितियों में प्राप्त नहीं की जा सकती। भारतीयों के लिये यही मार्ग श्रेयकर था कि वे संवैधानिक ढंग से सम्मिलित आवाज में अपनी मांगें ब्रिटिश शासन के सम्मुख रखे। ब्रिटिश जनता की नैतिकता और स्वधीनता प्रियता को उसकाने और इस प्रकार शनैः शनैः एक के बाद एक अपने हकों को प्राप्त करते जाए

उदारवादी एवं मित्रवादी दृष्टिकोण के कारण दादा भाई ने प्रार्थना एवं याचिका का मार्ग अपनाया। वे कहा करते थे कि अंग्रेजों को याचिकाएँ प्रस्तुत करने का अर्थ भिक्षावृति नहीं है। ये याचिकाएँ अधिकारों के लिये न्याय के लिये तथा सुधारों के लिये थीं ताकि ब्रिटिश संसद यह जान सके कि भारतीयों की आकांक्षाएँ क्या है तथा भारतीय जनता किस प्रकार से सोचती है। दादा भाई के इस संवैधानिक तथा वैधानिक पद्धति में राणाडे और गोखले ने भी अपनी पूर्ण आस्था प्रकट की। उनकी राजनीतिक पद्धति की तीन आधारभूत मान्यताएँ थीं।

(1) अपनी मांगों के न्यायोचित होने में पूर्ण विश्वास।

(2) अंग्रेजों की न्यायप्रियता में आस्था।

(3) अंग्रेजों को यह विश्वास दिलाना कि हमारी मांगें न्यायोचित है, सतत् तथा अथक प्रयास करना।

नौरोजी के मन में अंग्रेजों की न्यायप्रियता, सद्भावना एवं स्वतंत्रता के प्रति गहरी आस्था थी। दादा भाई चाहे इंगलैण्ड में रहे या भारत में सदैव संवैधानिक पद्धति का ही अनुसरण किया। उन्होंने अंग्रेजों की चेतना को भारत के प्रति अपने कत्र्तव्य के सम्बन्ध में जागृत करने का प्रयत्न किया। दादा भाई के सक्रिय प्रयासों का ही फल था कि 1899 में इंगलैण्ड में सर विलियम बैडरर्वन की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की गई, जिसने भारत की समस्याओं के सम्बन्ध में ब्रिटिश जनता एवं सरकार का ध्यान आकर्षित करने हेतु न केवल व्याख्यान मालाओं तथा सभाओं का ही आयोजन किया वरन् इण्डिया नामक एक पत्रिका का भी शुभारम्भ किया। इस समिति ने इंगलैण्ड में तबतक भारत के हितार्थ कार्य किया जबतक कि भारत में 1921 में गाँधी जी द्वारा अहिंसात्मक आन्दोलन के मार्ग का शुभारम्भ नहीं किया गया।

दादा भाई के शब्दों में- ''संवैधानिक आन्दोलन नैतिक शक्ति तथा सभ्य शांतिमय हथियार है और सम्भव हो बर्बर शारीरिक शक्ति की अपेक्षा इसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है'' दादा भाई अपने पद्धति के प्रति सदैव निष्ठावान रहे। उनका हृदय भारत को स्वाधीन देखने के लिये हमेशा तड़पता रहा।

दादा भाई ने कहा कि इंगलैण्ड के लोग अपनी मांग की पूत्रि के लिये, सदैव सैंकड़ों एवं हजारों प्रतिवेदनों से अपने उच्च अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करते रहते हैं। अतः भारतवासियों को भी आन्दोलित होना चाहिए। किन्तु यह आन्दोलन शांतिपूर्ण होना चाहिए। यदि हम वास्तव में उनसे न्याय की आशा करते हैं तो हमें उनको आग्रहपूर्वक संतुष्ट करना होगा। एक व्यवहारिक राजनीतिज्ञ की तरह दादा भाई यह जानते थे कि भारत की राजनीतिक उन्मुक्ति का संघर्ष लम्बे समय तक चलेगा और उसके लिये संवैधानिक आन्दोलन का मार्ग ही उपयुक्त होगा।

2.1.4.7 देशी राजवाड़ों के महत्व को स्वीकार करना

विदेशी शासन के विरूद्ध राजनीतिक युद्ध में दादाभाई ने देशी रियासतों के महत्व को भली-भाँति समझा। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि यदि देशी राजवाड़ों को भारतीय नेताओं ने अपने राजनीतिक आन्दोलन से अलग रखा तो वे एक अत्यंत उपयोगी शक्ति को नष्ट करने के जिम्मेवार होंगे। दादा भाई ने

रजवाड़ों को सार्वजनिक कार्य के लिये वित्तीय सहायता देने का सुझाव दिया ताकि भारत अपने राजनीतिक संघर्ष में अच्छी तरह से आगे कदम बढ़ा सके।

2.1.4.8 स्वतंत्र उदारवादी धारणा में विश्वास

गोपाल कृष्ण गोखले और रानाडे की भाँति ब्रिटिश उदारवाद में दादा भाई की पूर्ण आस्था थी। स्वतंत्रता उदारवादी दर्शन का एक मूल सिद्धांत है। अतः रानाडे तथा गोखले की भाँति उन्होंने भी मानव व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वतंत्रता को आवश्यक माना। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा- ''स्वतंत्रता हमारे जीवन का स्वांस है- स्वतंत्रता हमारे जीवन का ध्येय है, स्वतंत्रता की नीति हमारी नीति है। वे स्वतंत्र शब्द को मानव की उच्च आकांक्षाओं का प्रतिनिधि तथा एक पवित्र तत्व मानते थे। दादा भाई ब्रिटिश साम्राज्य का नागरिक होने के कारण स्वंत्रता को प्रत्येक भारतीय का एक नैतिक अधिकार मानते थे। अपने इस विश्वास के समर्थन में वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्रेषित चर्टरों, 1833 के अधिकार अधिनियम तथा 1858 की घोषणा एवं ब्रिटिश प्रधानमंत्रियों द्वारा दिये गये भाषणों को उददृत करते थे।

दादा भाई नौरोजी का कहना था कि ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हम सभी भारतीय ब्रिटिश नागरिक हैं और हम समस्त ब्रिटिश नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने का उनके लिये दावा करने के पूर्ण अधिकारी हैं। उन्होंने कहा कि- ''स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।'' इस संबंध में दादा भाई 1858 की घोषणा का उल्लेख किया करते थे। 1858 की घोषणा में यह घोषित किया गया था कि भारत सरकार अपने आचरण में चार सिद्धांतों का पालन करेगी, जैसे- धार्मिक साहिष्णुता स्वंत्रता योग्यतानुसार नौकरियाँ और विधि के समक्ष समानता। इसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि भारत में उद्योगो ं को प्रोत्साहित किया जायेगा। सार्वजनिक उपयोगिता के कार्य में वृद्धि होगी और लोक प्रशासन सार्वजनिक हित में चलाया जायेगा।

दादा भाई ने कहा कि अंग्रेजों को स्वतंत्रता प्राप्त है क्योंकि उन्हें लोक सेवा में नियुक्त होने का अधिकार है, उनके पास स्वनिर्वाचित प्रतिनिधियों की एक संसद है और वहाँ के संसद के प्रति वहाँ की सरकार उत्तरदायी है। अतः भारतीयों को स्वतंत्रता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि उन्हें भी इण्डियन सिविल सर्विसेज में नियुक्त होने का अधिकार प्राप्त हो और इसका आयोजन भी भारत में हो। स्वतंत्रता के लिये भारतवासियों को विधान परिषद् में निर्वाचित होने का अधिकार मिलना चाहिए। भारतीयों को अपने उपर कर लगाने तथा विधान मण्डलों से प्रश्न पुछने के अधिकार प्राप्ति भी स्वतंत्रता की एक आवश्यकता थी।

2.1.4.9 ब्रिटिश राज्य से सम्बन्ध

गोखले की भाँति नौरोजी भी ब्रिटिश शासन को भारत के संदर्भ में वरदान मानते थे। उन्होंने भी स्वीकार किया कि ब्रिटिश साम्राज्य से भारत का सम्पर्क भारत में सदियों की अव्यस्था एवं अशांति के स्थान पर शांति व्यवस्था स्थापित करने में सफल रहा है ब्रिटिश राज्य एवं अंग्रेज जाति की न्यायप्रियता एवं सद्भावना में उनकी अटूट आस्था थी। दादा भाई ने ब्रिटेन की प्रगतिवादी मानवतावादी सभ्यता की सराहना की और अंग्रेजी शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया। ब्रिटिश शासन द्वारा किये गये कल्याणकारी कार्यों से वे इतने प्रभावित हुए कि अंग्रेजों द्वारा भारत में अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति करने की अवधि तक बने रहने का समर्थन किया। उनके शब्दों में ''आप एकता और सहद्यता से कार्य करें और ब्रिटिन शासन के प्रति संयत भाव बनाने रखे। वह दिन दूर नहीं जब संसार में ब्रिटिश राज्य जैसा महान राष्ट्र सच्चे नागरिकों का हाथ पकड़ेगा और इस महान प्राचीन देश की विशाल जनता के साथ न्याय करेगा और

मानव जाति को लाभ पहुँचाएगा तथा वरदान देगा।'' अन्य उदारवादियों की भाँति दादा भाई भी ब्रिटिश शासन के प्रति पूर्ण कृतज्ञमता को भाव रखते थे।

दादा भाई नौरोजी ने उन्मुक्त हृदय से ब्रिटिश संस्थाओं तथा ब्रिटिश गुणों की सराहना की। उनकी धारणा दृढ़ थी कि यदि अंग्रेज जनता अपने दायित्वों के प्रति निष्ठावान बनी रही तथा न्याय निष्कपटता, इमानदारी तथा स्वतंत्रता की अपनी पारस्परिक प्रथाओं के आधार पर कार्य करती रही तो निश्चय ही भारत एक दिन स्वशासन की ओर अपना कदम बढ़ाएगा। भारत एवं ब्रिटेन के हितों को उन्होंने सदैव ही समान माना। उन्हें ब्रिटिश जाति की दयालुता में पूर्ण विश्वास था। एक बार उन्होंने कहा था- ''कभी न कभी ब्रिटिश सरकार हमें वहीं सब आशय प्रदान करेगी जो कुछ हम चाहेंगे। अतः हमें इंगलैण्ड के हृदय के पूर्ण विश्वास जमाना होगा और हमें इस बात को समझना चाहिए कि क्या उचित है और क्या न्याय संगत।''

यद्यपि दादा भाई ब्रिटिश शासन को भारत में ईश्वरीय वरदान माना एवं उसके प्रति राजभक्ति का परिचय दिया तथापि वे भारत में अंग्रेजी शासन की निरंकुश एवं अत्याचारपूर्ण मनमानी प्रवृतियों के प्रति भी पूर्णतः जागरूकता का परिचय दिया। वे भारतीय उदारवादी परम्परा की ऐसी विभुति थे जिन्होंने ब्रिटिश सत्ता द्वारा प्राप्त लाभों का गुणगान तो किया ही साथ ही, उसके दिवालियापन एवं दुष्टतापूर्ण व्यवहार एवं नीतियों की बेझिझक कटु आलोचना भी की। तत्कालीन ब्रिटिश प्रणाली की निर्भीकतापूर्वक आलोचना करते हुए कहा कि ''वर्तमान शासन प्रणाली भारतवासियों हेतु विनाशकारी दुखदाई तथा निरंकुश है और इंगलैण्ड के लिये आत्मघाती तथा उसके राष्ट्रीय चरित्र, आदर्श तथा परम्पराओं के प्रतिकूल है।'' उन्होंने ब्रिटिश शासकों को चेतावनी दी कि ''निरंकुश तथा स्वच्छाचारी शासन लम्बी अवधि तक स्थायी नहीं रह सकता है क्योंकि बुरी शासन प्रणाली भारत देश को दिवलियापन और विनाश की ओर ले जा रही है। यह एक प्रकार का बड़ा ही स्वांग है इसमें परिवर्त्तन की आवश्यकता है। ''भारत के प्रति इंगलैण्ड के कत्र्तव्य'' नामक पुस्तक के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजों को चेतावनी दी कि यह बतलाने के लिये किसी पैगम्बर की जरूरत नहीं है कि 20 करोड़ असंतुष्ट लोगों और एक लाख विदेशी संज्ञीतज्ञों के मध्य संघर्ष का अंतिम परिणाम क्या होगा।

लेकिन दादा भाई का विश्वास था कि मानसिक संकीर्णता और अन्याय ब्रिटिश साम्राज्य के वास्तविक तत्व नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत को सभ्य बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इंगलैण्ड शीघ्र ही यह अनुभव कर लेगा कि बढती हुई आर्थिक लोलुपता की लज्जाजनक नीति संकीर्ण दृष्टी का परिचायक नहीं है अपितु उसमें शासक देश के लिये खतरे का बीज विद्यमान है। वे चाहते थे कि भारत के आर्थिक साधनों को भारी निर्गम तुरन्त बन्द कर दिया जाए। जैसे ही निर्गम बन्द होगा वैसे ही भारत में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाएंगी।

2.1.5 दादा भाई नौरोजी के राजनीतिक विचारों में परिवर्त्तन

(स्वशासन और स्वराज्य की धारणा) अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ में दादा भाई दो ब्रिटिश शासन को भारत में वरदान समझा था। उनका ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस 1886 के अधिवेशन में उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में ब्रिटिश शासन के प्रति भारतवासियों की पूर्ण निष्ठा एवं भक्ति की घोषणा की लेकिन 20 वीं शताब्दी के प्रथम दशक के प्रारम्भिक वर्षों में उनके विचारों में बदलाव आने लगा और अंग्रेजों के प्रति उनकी भाषा में कठोरता

परिलक्षित होने लगी। उन्हें ब्रिटिश शासकों से बार-बार निराशा हुई और वे निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्वराज्य का अधिकार प्राप्त किये बिना भारत राष्ट्रीय महानता को उपलब्ध नहीं कर सकता।

18 मार्च 1904 को भारत में कुशासन 'विषय पर दादा भाई ने एक प्रभावशाली भाषण दिया और इसके बाद ही स्वशासन की मांग की गई। दादा भाई के शब्दों में 'वत्र्तमान अपमानजनक, दम्भी, और विघ्वंशात्मक शासन प्रणाली को सुधारने का एक ही तरीका है- ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता के अधीन स्वशासन' सन् 1906 में कलकत्ता में काँग्रेस अधिवेशन में दादा भाई ने भारतीय जनता के तीन महत्वपूर्ण अधिकारों पर बल दिया-

(1) उच्च लोक सेवाओं में भारतीयों को अधिकाधिक संख्या में नियुक्त किया जाए।

(2) भारतीयों को अधिकाधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए जिससे वे स्वशासी उपनिवेशों के नमूने पर अपने यहाँ की विधान परिषद् स्थापित कर सके।

(3) ब्रिटेन तथा भारत के बीच न्याय एवं औचित्यपूर्ण अर्थिक सम्बन्ध हो।

उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के लिये भी तीन सूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया-

(1) जिस प्रकार ब्रिटेन की सभी सेवाओं, विभागों तथा ब्योरे से संबंधित प्रशासन उसी देश के निवासियों के हाथों में है उसी प्रकार भारत की सभी सेवाओं, विभागों और ब्यौरे का प्रशासन स्वयं भारतवासियों के हाथों में होना चाहिए। यह केवल अधिकार की बात नहीं है और न शिक्षित लोगों के आकांक्षाओं की बात है। यद्धपि अधिकार तथा शिक्षितों की आकांक्षाओं की दृष्टी से भी इस बात का महत्व है। सबसे अधिक यह एक निरपेक्ष आवश्यकता है, उस अनिवार्य आर्थिक बुराई का एकमात्र उपचार है जो वत्र्तमान निर्गम तथा दरिद्रता का आधारभूत कारण है। यह उपचार भारतीय जनता के भौतिक, बौद्धिक, राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा हर सम्भव प्रगति और कल्याण के लिये नितांत आवश्यक है।

(2) जैसा कि ब्रिटेन तथा उनके उपनिवेशों में कर लगाने कानून बनाने तथा करों को व्यय करने का अधिकार उन देशों की जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में है वैसे ही अधिकार भारत की जनता को मिलना चाहिए।

(3) इंगलैण्ड तथा भारत के बीच वित्तीय सम्बन्ध न्यायोचित हो तथा समता के आधार पर कायम किये जाएँ। इसका अर्थ है किसी असैनिक, सैनिक तथा नाविक विभाग के व्यय के लिये भारत जितना धन जुटा सके उसी के अनुपात में उस व्यय से वेतनों, पेंशनों, उपलब्धियों आदि के रूप में होनेवाले लाभ में भारतवासियों को साम्राज्य के साझीदार के रूप में भाग मिलना चाहिए। हम किसी प्रकार का अनुग्रह नहीं चाहतें हैं हम केवल न्याय चाहते हैं।

दादा भाई का विश्वास था कि अंग्रेज शासन अपने जीवन काल में ही भारत में सम्मानपूर्ण स्वराज्य स्थापित करने की दिशा में कदम उठायेगें। उन्होंने भारतवासियों को सलाह दी कि वे याचिकाओं तथा सभाओं द्वारा आन्दोलन चलाने के मार्ग में दृढ़ता से डटे रहे। आन्दोलन पाशविक बल का नैतिक विकल्प है। दादा भाई ने स्पष्टतः कहा कि भारत में ब्रिटिश प्रशासन के आधारभूत सिद्धांत अनुचित हैं। अतः वे चाहते थे कि कांग्रेस उनके विरूद्ध आन्दोलन करें।

दादा भाई कॉब्डन की भाँति मुक्त व्यापार के समर्थक रहे। किन्तु भारत में फैली हुई अप्राकृतिक अव्यवस्था निराशा तथा दुखों ने दादा भाई के विचारों में परिवर्त्तन कर दिया और वे स्वदेशी का समर्थन करने लगे। किन्तु फिर भी उन्हें विश्वास था कि अंग्रेज राजनीतिज्ञों के मन तथा हृदय में स्वतंत्रता की सच्ची

पुरानी भावना पुनः जाग उठेगी। वर्क की तरह उन्हें ब्रिटिश जाति की पुरातन तथा जन्मजात इमानदारी में आस्था बनी रही। उन्होंने भारतवासियों को निराश न होने की सलाह दी।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान दादा भाई ने देशवासियों से अंग्रेजों को साथ देने की अपील की। 1906 में कलकत्ता काँग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में दादा भाई ने आशा व्यक्त की थी कि अंग्रेजों के अन्तः करण की विजय होगी और भारत को यथा सम्भव कम से कम समय में उत्तरदायी स्वराज्य प्रदान कर दिया जाएगा।

संक्षेप में, दादा भाई ने स्वराज्य की मांग प्रस्तुत की, जैसा कि इंगलैण्ड अथवा उसके उपनिवेशों में प्रचलित है। यह पहला अवसर था जब काँग्रेस अधिवेशन के मंच से 'स्वराज' की मांग की गई।

दादा भाई के नेतृत्व में काँग्रेस ने संवैधानिक सुधारों की आवश्यकता पर जोर दिया तथा स्वराज्य के अपने उद्देश्य की घोषणा की। स्वराज्य का अर्थ उस समय वैसी ही शासन व्यवस्था थी जैसा कि स्वशासित उपनिवेशों में थी। कांग्रेस ने यह मांग की कि विधान परिषदों का तुरन्त पुनर्गठन किया जाए ताकि उसमें जनता का अधिक और समुचित प्रभावी प्रतिनिधित्व तथा देश के प्रशासनिक और आर्थिक मामलों में कुछ ज्यादा नियंत्रण हो सके। डा॰ पट्शमिसीतारमैया के शब्दों में- ''दादा भाई अपने जीवन पर्यन्त काँग्रेस की सेवा करते रहे और सर्वसाधारण की शासन संबंधी शिकायते दूर करने का प्रयत्न करनेवाली जनसभा से बढ़ाते-बढ़ाते स्वराज्य प्राप्ति (कलकत्ता 1906) के निश्चित उद्देश्य से कार्य करनेवाली राष्ट्रीय परिषद् पर पहुँचा दिया।

2.1.6 दादा भाई नौरोजी का आर्थिक विचार

दादा भाई नौरोजी ने भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों के सिद्धांतों का निर्माण किया। भारतीय दरिद्रता और गरीबी का सही चिंतन करके उन्होंने जनता की आँखें खोल दी। उन्होंने अकाल भुखमरी बीमारी और शोषण आदि का बड़ा ही सजीव वर्णन किया तथा ब्रिटिश शासकों की अप्राकृतिक आर्थिक नीति को जनता के सामने रखा।

दादा भाई ने अपने आर्थिक विचारों का प्रतिपादन अपनी दो प्रसिद्ध रचनाओं में किया जिनके नाम हैं ;च्वअमतजल पद प्दकपंद्ध पावर्टी इन इण्डिया तथा पावर्टी एण्ड अन0 ब्रिटिश रूल इन इण्डिया'। सन् 1876 में प्रकाशित पावर्टी इन इण्डिया में दादा भाई ने प्रतिपादित किया कि भारत के लोगों की आय बहुत कम है, प्रति व्यक्ति वार्षिक केवल 20 रूपए होती है। अंग्रेज अपने धनराशि का माल भारत से बाहर ले जाते हैं। उससे बहुत कम धन राशि का माल भारत में बाहर से लाते हैं। भारतीय जनता से करों के रूप में वसूल की गई आय के मुकाबले भारतीयों की भलाई के कार्यों में बहुत कम धनराशि खर्च किया जाता है। अंग्रेजों को सिर्फ भारत का धन यहाँ से ले जाने और बड़े अधिकारियों और सैनिकों का जेब भरने से मतलब है, न कि गरीबी दूर करने और लोगों की भुखमरी से बचने में।

अपनी दूसरी रचना 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया में दो पहलूओं का प्रतिपादन हैः- भारत की आर्थिक दशा का विश्लेषण तथा राजनीतिक परिस्थितियों का तार्किक विवेचना। आर्थिक दशा का विश्लेषण करते हुए तरह-तरह के प्रमाण और आँकड़े देकर यह समझाया गया है कि भारत किस तरह दिन-प्रतिदिन गरीब होता जा रहा है। और राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि भारत में गरीबी का मुख्य कारण ब्रिटिश शासन है जिसमें अंग्रेज सैनिकों और प्रशासकों पर अनाप-शनाप खर्च किया जाता है।

दादा भाई के आर्थिक विचारों को अग्रलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत समझा जा सकता हैः-

2.1.6.1 ब्रिटिश शासन की अप्राकृतिक वित्तीय तथा आर्थिक नीतिः-

दादा भाई ने ब्रिटिश शासकों की अप्राकृतिक वित्तीय तथा आर्थिक नीति पर खेद प्रकट किया। उन्होंने अंग्रेजों की नीति को अप्राकृतिक इसलिये बताया कि अंग्रेजों ने देश पर सार्वजनिक ऋण का बोझ लाद दिया था जो वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा थोपा गया राजनीतिक बोझ था। अंग्रेजों ने भारत के शासन के लिये इंगलैण्ड तथा भारत दोनों ही स्थानों में एक भारी-भरकम प्रशासनिक ढाँचे का निर्माण किया था। इस ढाँचे पर व्यय भी भारत पर एक भारी आर्थिक बोझ था। इस प्रकार देशवासी अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा जीविका से वंचित कर दिये गये थे। इस लिये दादा भाई चाहते थे कि आर्थिक समृद्धि के लिये देश के साधनों के इस विनाशकारी निर्गम को रोका जाए। दादा भाई के शब्दों में 'जबतक इस घातक निर्गम को समुचित रूप से नहीं रोका जाता और भारतवासियों को अपने देश में पुनः अपने प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग नहीं करने दिया जाता तबतक इस देश में भौतिक उधार की कोई आशा नहीं है।' भारत की दरिद्रता के सबसे महत्वपूर्ण कारणों में एक था ''भारत ने इंगलैण्ड को धन का निर्गम।'' दादा भाई द्वारा भारतीयों के प्राकृतिक अधिकारों की मांग के संबंध में डा0 वर्मा ने लिखा है'' राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धांत की दृष्टी से यह आश्चर्य की बात है कि दादा भाई ने आर्थिक क्षेत्र में भारतीयों के प्राकृतिक अधिकारों की पुनः स्थापना की मांग की। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो समस्या नागरिक शासन में लॉक के सामने और स्वाधीनता की घोषणा में जैफर्सन के सामने थी उसी समस्या से दादा भाई चिंतित थे। उन्नतीसवीं शताब्दी के नये रक्षक में भारत के राजनीतिक तथा आर्थिक साहित्य में प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के उल्लेख में यह बात सिद्ध होती है कि यद्धपि यूरोप में ह्यूम, वाइको और पेंथम ने इस धारणा की कटु आलोचना की फिर भारत में उसे मान्य समझा जाता था। ''दादा भाई ने अपने निकासी सिद्धांत के प्रसार के लिये तथा निर्गम के विरूद्ध प्रचण्ड और प्रबल संघर्ष चलाने के लिये अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया। उनकी दृष्टि में भारत में ब्रिटिश शासन का प्रधान आधारभूत दोष निकासी था।

2.1.6.2 भारत से धन का निर्गम

दादा भाई ने अपने निर्गम सिद्धांत के उसके प्रभावों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। निर्गम की देश के अर्थ व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। दादा भाई ने निर्गम को देश के सभी रोगों, दुखों और दरिद्रता का वास्तविक प्रधान और यहाँ तक कि एक मात्र मूल कारण घोषित किया।

दादा भाई ने भारतीय वित्त की विभिन्न समस्याओं पर अपनी सांख्यिकी पद्धति से विचार किया और समस्याओं का मूल कारण जानने के लिये सांख्यिकीय विश्लेषण किया। उन्होंने अर्थशास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया कि भारतीय अर्थतंत्र भारी आर्थिक निगम का शिकार है।

भारत की दरिद्रता की व्याख्या उस समय अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने दूसरे ढंग से की थी। उन्होंने यह मत प्रकट किया कि भारत में गरीबी अर्थशास्त्र के सामान्य नियमों के आधार पर बढ़ती जा रही है। उन्होंने कहा कि भारत के उपर गरीबी को नहीं थोपा जा रहा था वरन् भारत की बढ़ती जनसंख्या ही इसके लिये उत्तरदाई थी। लेकिन दादा भाई ने इस तर्क को अस्वीकार करते हुए कहा- 'प्रायः जनसंख्या तिरेक का घीसा-पीटा तर्क दिया जाता है। वे कहते हैं कि ब्रिटेन द्वारा स्थापित शांति से जनसंख्या में वृद्धि

हुई है किन्तु ब्रिटेन द्वारा देश से धन के लूट से जो विनाश हुआ है उसे वे भूल जाते हैं। भारत का विनाश आर्थिक नियमों के निर्दयतापूर्वक कार्य नहीं करने के कारण नहीं हो रहा है। उसके विनाश का मुख्य कारण ब्रिटेन की कूर और विचारशुन्य नीति है। भारत के साधनों का भारत में ही निर्दयतापूर्वक अपव्यय किया जा रहा है और इसके अतिरिक्त उन साधनों को निर्दयतापूर्वक लूट-खसोट कर इंगलैण्ड ले जाया जाता है। संक्षेप में भारत का रक्त चूसा जा रहा है और इस प्रकार आर्थिक नियमों के निर्दयतापूर्वक विकृत किया जा रहा है। वस्तुतः ये सभी चीजे देश को विनाश की ओर ले जा रही है। जब स्वयं दोष आपका है तो प्रकृति को दोष देने से क्या लाभ होगा? प्रकृति तथा आर्थिक नियमों को पूर्णरूप से कार्य करने दीजिए, तो भारत दूसरा इंगलैण्ड बन जाएगा तब इंगलैण्ड को आज से कई गुना लाभ होगा।

दादा भाई ने आँकड़े देकर यह सिद्ध किया कि भारत की गरीबी का मुख्य कारण भारत से इंगलैण्ड जानेवाली प्रमुख धनराशि है। उन्होंने बताया कि इंगलैण्ड प्रति वर्ष लगभग उसे 6 पौण्ड की दर से भारत की साधनों का लूट कर रहा है। उनका कहना था कि सुदूर इंगलैण्ड में भारत का शासन बहुत खर्चीला पड़ रहा है और उसके परिणामस्वरूप देश की बड़ी अवनति हुई है। आर्थिक साधनों के निर्गम के कारण देश में पूँजी का संचय नहीं हो पाता है और देश की दरिद्रता निरंतर बढ़ती जा रही है। उन्होंने अपने निर्गम सिद्धांत में उन विभिन्न मदों को स्पष्ट रूप से गिनाया जिनके रूप में देश से भारी भरकम रकम का निष्काषण हो रहा था।

(1) ब्रिटिश अधिकारियों का पेंशन (2) युद्ध कार्यालय का भुगतान (3) भारत में ब्रिटिश सेना का खर्च, (4) भारत सरकार के इंगलैण्ड में खर्चे (5) भारत में स्थित ब्रिटिश व्यवसायिक वर्गों द्वारा अपनी कमाई में से स्वदेश भेजी गर्ठ रकमें। वित्तीय दृष्टी से यह निर्गम एक विनाशकारी प्राक्रिया थी। देश दरिद्र हो रहा था, क्योंकि उसके झीण आर्थिक साधनों पर उस विदेशी नौकरशाही को भारी खर्च लाद दिया गया था, जिसे विलासिता तथा तड़क-भड़क जीवन जीने की आदत पड़ गई थी। इस निर्गम की प्रक्रिया के फलस्वरूप जनता पर करों का भारी बोझ डाल दिया गया था और भारत पर ऐसी अर्थनीति थोप दी गई थी जिसके कारण विदेशी व्यापार देश वासियों के हित के प्रतिकूल पड़ता था। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्गम लगभग तीस लाख पौण्ड का था किन्तु बाद में वहीं बढ़कर तीन करोड़ पौण्ड तक पहुँच गया था। इसके कारण जनता की बचाने की शक्ति लगभग पूर्णतः नष्ट हो गई थी यादि आर्थिक प्रक्रिया सामान्य तौर पर चलती रहती तो देश में धन बना रहता और उससे पूँजी का संचय होता। किन्तु निर्गम ने लाभ और बचत का पूँजीकरण कला असम्भव कर दिया था।

आर्थिक निगम के अलावे दादा भाई ने 'नैतिक निगम' का भी उल्लेख किया है। देश में अंग्रेज अधिकारियों को नौकरी देने का अभिप्राय उतनी संख्या में उतनी ही संख्या में भारतीय लोगों का नौकरी से वंचित रह जाना था। इसके अतिरिक्त वे न धन बचा सकते थे और न उन्हें पूँजी के रूप में प्रयुक्त कर सकते थे। अंग्रेजों ने कभी इसे अपना देश नहीं समझा इसलिये अपने सेवाकाल में जो प्रशासकीय अथवा व्यवसायिक अनुभव आर्जित कर लेते थे वह भी उनके साथ ही उनके देश चला जाता था। दादा भाई ने लिखा है- ''भारतीयों के डिप्टी कलक्टर के अतिरिक्त कमिश्नर तथा इंजीनियरिंग और चिकित्सा विभागों में इन्हीं स्तरों के अधीनस्थ पदों से ऊँची नौकरियाँ नहीं दी जाती। परिणाम यह होता कि जब राजनीतिक प्रशासन, विधान तथा वैज्ञानिक तथा शिक्षित व्यवसायों का अनुभव रखनेवाले अधिकारी अपने पदों से निवृत्त होकर चले जाते हैं तो उनके साथ तत्संबंधी ज्ञान और अनुभव भी चला जाता है। ''इस अनुभव को चला जाना ही नैतिक निर्गम था। अंग्रेजों से पहले जो भी आक्रमणकारी थे उनके शासन में देश नैतिक

निर्गम का शिकार नहीं था। देश में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था और जो अनुभव अर्जित किया जाता था वह देश में ही बना रहता था। किन्तु, अंग्रेजों की आर्थिक और नैतिक निर्गम की नीति देश का जीवन रक्त ही निचोड़ रहा था और सार्वजनिक ऋण बढ़ता जा रहा था।

दादा भाई ने भारत के साधनों का विकास करने के लिये इंगलैण्ड की पूँजी का स्वागत किया। किन्तु उनका अनुरोध था कि भारतवासियों को इस बात में सहायता दी जाए कि वे देश के साधनों का विकास करने के लिये अपने को योग्य बना सके। उन्होंने मैकॉले के इस बात का समर्थन किया कि ब्रिटेन को भारत का अच्छा ग्राहक बनने में सहायता दी जाए। भारत में शोषण का भयावह दृश्य देखकर दादा भाई को दुख होता था- भारत के उन करोड़ों निवासियों के लिये जो नमक कर, भारी लगान तथा विनाशकारी दुर्भिक्ष से पीड़ित थे, जिनका जीवन भयंकर बीमारियों, अल्पाहार तथा भुखमरी का जीवन था। करोड़ो लोग आर्थिक बर्बादी के शिकार थे। उनकी दृष्टि में भारत के दो प्रकार के लोग बसते हैं। एक थोड़े से धनिक तथा शोषकों का भारत और दूसरा करोड़ों शोसितों का भारत उन्होंने ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि भारत को निरंतर दरिद्र होने के इस प्रक्रिया को जारी नहीं रहने दे। भारत के अतुल धन की कहानी एक भ्रम मात्रा था। वस्तुतः देश धीरे-धीरे दरिद्रता की ओर जा रहा था। एक ओर वह जर्जरित करनेवाली दरिद्रता का शिकार था तो दूसरी ओर उसपर खर्चीले सैनिक तथा असैनिक प्रशासन का बोझ लाद दिया गया था।

दादा भाई ने ब्रिटिश शासन से यह मांग की कि भारत और इंगलैण्ड के बीच वित्तीय साधनों की समुचित जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए और नैतिक तथा न्यायपूर्ण आधार पर रखा जाना चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि भारत के राजस्व पर भारित अनेक मदों का व्यय इंगलैण्ड के कोष से किया जाना चाहिए जैसे कि इण्डिया ऑफिस का व्यय, भारत में रखी जानेवाली अंग्रेजी सेनाओं का व्यय आदि। उन्होंने यह भी मांग की कि उच्चतर पदों पर भारतीयों को भी नियुक्त किया जाए क्योंकि ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने आदमी चुनकर भेजे जाने से न केवल आर्थिक पतन हो रहा है, बल्कि भारतीयों का नैतिक ह^{a}ास भी हो रहा है। दादा भाई ने भारत के साधनों का विकास करने के लिये इंगलैण्ड की पूँजी का स्वागत किया। लेकिन स्पष्टतः यह भी कह दिया कि पूँजी का उद्देश्य भारत का शोषण करना नहीं वरन् विकास करना होना चाहिए।

संक्षेप में, दादा भाई ने अंग्रेजों द्वारा भारत में आर्थिक शोषण का पर्दाफास किया और भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

2.1.6.3 निर्गम सिद्धांत का राजनीतिक अभिप्राय

विपिनचन्द्र पाल ने लिखा है- निकासीवाद की आर्थिक महत्ता कुछ भी क्यों न रही हो, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में तो इसकी वास्तविक महत्ता इसके राजनीतिक आशयों में निहित है क्योंकि इसने भारतीयों को अपनी स्थिति और भारतीय साम्राज्य में अन्तर्विरोध को समझने के योग्य बना दिया। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में निर्गम सिद्धांत की रचना एवं प्रचार ने दादा भाई के राजनीतिक दृष्टीकोण को विशिष्ट रूप प्रदान किया। निर्गम की मूल भावना एवं इसके कारण ने नौरोजी को यह अस्वीकार करने कि यह भारत के पिछड़ेपन का उपकरण एवं परिणाम था तथा उसके स्थान पर यह स्वीकार करने को बाध्य किया कि यह भारत की राजनीतिक परिस्थितियों तथा यर्थाथतः भारत के विदेशी सत्ता द्वारा शासित होने का फल था। दादा भाई ने अपने निबंध 'पावर्टी इन इण्डिया' में यह स्पष्ट किया है कि

मुख्यतः भारत पर राजनीतिक प्रभुत्व के कारण ही इंगलैण्ड भारत के निर्यात के एक बड़े भाग को रखने में समर्थ है। बेल्वी को लिखे पत्र में उन्होंने स्पष्ट कहा था- ''निर्गम हमारे लिये एक व्यापारिक मामला नहीं है। यह विदेशी सत्ता द्वारा भारत के संसाधनों के व्ययों के अस्वभाविक प्रशासन और अस्वभाविक प्रबंधन का फल था।

निर्गम सिद्धांत के अध्ययन से निकलनेवाले निष्कर्षों ने भारत में ब्रिटिश सत्ता के स्वरूप तथा प्रयोजनों के सम्बन्ध में दादा भाई के दृष्टीकोण को शनैः-शनैः प्रभावित करना शुरू कर दिया। अब वे ब्रिटिश राज्य को भारत के संदर्भ में वरदान मानने के बजाए सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि ब्रिटिश राज्य को उपयोगी, दयालु और लोकहितकारी मानना भ्रममात्र है। 1880 के आकाल का मुख्य कारण उन्होंने ब्रिटिश सरकार को ही माना क्योंकि वे ही भारत की सम्पदा का निकासी कर रहे थे जिसके परिणाम स्वरूप भारतीयों के द्वार पर दुर्भाग्य, भुखमरी और लाखों मौते आ रही थी। ऐसा तर्क था कि विदेशी सत्ता भारत को विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा करती है। इसे खण्डित करते हुए दादा भाई ने कहा अंग्रेज भारतीयों के इस तरह का भ्रम फैलाकर चुपचाप भारतीय खजानों को अपने देश ले जा रहे हैं।

भारतीय उदारवादियों द्वारा ब्रिटिश राजभक्ति का एक मुख्य कारण यह भी था कि उनकी धारणा थी कि ब्रिटिश सत्ता भारत को जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा प्रदान कर रही है। दादा भाई ने इस मिथ्या धारणा का भी खंडन किया। सुरक्षित है तो सिर्फ ब्रिटेन का साम्राज्य और वह यह सुरक्षा बनाए रखना चाहता है क्योंकि 30,000,000 से 40,000,000 पौण्ड की सम्पत्ति प्रतिवर्ष भारत से ले जा सके। दादा भाई ने कहा कि भारतीयों को तो ज्ञान और बुद्धि की भी सुरक्षा प्राप्त नहीं है। भारत में लाखों, करोड़ों लोगों के लिये जीवन का अर्थ, आधे पेट खाना नसीब होना तथा भुखों मरना अथवा दुर्भिक्ष का सामना करना अथवा रोगों से जूझना।

निर्गम सिद्धांत ने भारत में अंग्रेजी राज्य की प्रकृति और उसके स्वरूप को स्पष्ट कर दिया। पावर्टी इन इण्डिया के अनुसार ''निर्गम के कारण सारा शासन चक्र एक गलत, अप्राकृतिक और आत्मघाती दिशा में घुम रहा है। ब्रिटिश भारत, ब्रिटिश भारत ही है, भारत नहीं है।'' दादा भाई आश्चर्य चकित थे कि उपकार के नाम पर ब्रिटेन ने ऐसा भ्रम जाल फैला रखा है और भारतीयों का खुन चूस रहा है। निर्गम के विरूद्ध जीवन पर्यन्त संघर्षशील रहने के उपरांत भारत में ब्रिटिश राज्य की प्रवृत्ति, चरित्र एवं उद्देश्यों के सम्बन्ध में निर्धारित धारणा ने उन्हें राजनैतिक युद्ध के मार्ग पर अग्रसर होने को बाध्य कर दिया और दादा भाई जो ब्रिटिश राज्य के राजभक्ति के प्रति महान उद्घोषक थे, 1900 तक आते-आते अज्ञात रूप से उनमें राजद्रोह की भावना घर करने लगी।

निर्गम की निरन्तरता के कारण दादा भाई इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे कि यदि निर्गम को रोकना है तो अवश्य ही भारत को राजनैतिक दृष्टी से स्वतंत्र होना होगा। विपिन चन्द्र वाल के शब्दों में- ''हमें उनके दिल और दिमाग की ताजगी, जिन्दादिली और वीरता के लिये उनका अभिनन्दन ही करना पड़ेगा कि 79 वर्ष की आयु में जबकि धमनियों का रक्त प्रवाह शिथिल पड़ जाता है, ब्रिटिश भारत पर शासन की अंतिम प्रकृति के संबंध में अपने पूर्व विश्वास से हटकर छलांग लगाई।'' उन्होंने घोषणा कि भारतीय जनता को सभी राजनीतिक मांगों को एक शब्द में समेटा जा सकता है और वह है स्वराज्य अथवा स्वशासन जैसा कि ब्रिटेन अथवा दूसरे उपनिवेशों में है। संक्षेप में निर्गम' सिद्धांत के राजनीतिक एवं आर्थिक आशयों के निष्कर्षों को इस प्रकार देखा जा सकता हैः-

(1) निर्गम सिद्धांत अपने राजनीतिक आशयों में एक क्रांतिकारी तथ्य था इसने राजनीतिक अधिकार के प्रश्न को राजनीति का केन्द्र बिन्दू बना दिया। इसकी स्वीकृति ने न केवल ब्रिटेन एवं भारत के स्वभाविक राजनीतिक संघर्ष को सतह पर ला दिया अपितु ब्रिटेन के भारत पर राजनैतिक प्रभुत्व को भी अमान्य बना दिया।

(2) निर्गम सिद्धांत के आर्थिक प्रश्न को राजनैतिक स्तर पर उठाकर सार्वजनिक जीवन को राजनैतिक प्रशिक्षण देने में भी सहयोग दिया। निर्गम सिद्धांत ने राजनैतिक निष्क्रियता को सक्रियता में बदलने में भी योगदान दिया।

(3) निर्गम सिद्धांत में सर्वसाधारण में लोकप्रिय बनने की क्षमता थी। यह एक ऐसी सरल और सीधी-सादी धारणा थी कि जिसे एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता था। निर्गम प्रहार को सुनते ही किसान इस प्रकार अनुभव करता था जैसे धन उसकी जेब से निकल रहा हो। अतः निर्गम में देश के किसानों को संगठित करने के नारे की सामथ्र्य थी।

अंत इस सिद्धांत के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इसने सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त की तथा साथ ही साथ सरकारी तथा गैर सरकारी ब्रिटिश लेखकों ने पूरी शक्ति एवं निरंतरता के साथ इस सिद्धांत पर कटु प्रहार किये। अपने इस सिद्धांत के कारण दादा भाई गाँधी युग के राष्ट्र प्रेमी नवयुवकों की दृष्टी में अत्यंत सम्मानित भारतीय राष्ट्रीयतावाद के पिता के समान आदरणीय थे।

2.1.7 दादा भाई नौरोजी के सामाजिक दर्शन

समाज सुधार की दिशा में दादा भाई नौरोजी का कोई विशेष स्थान नहीं है। इसके प्रमुख दो कारण था प्रथम लम्बे समय तक विदेश में रहे तथा द्वितीय पारसी अल्पसंख्यक थे तथा इस कारण से उनके द्वारा किसी भी बहुसंख्यक समुदाय के धार्मिक तथा सामाजिक क्रिया-कलाप में हस्तक्षेप करने अथवा उसमें सुधार सुझाना स्वीकार नहीं किया फिर भी नारी शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किये। उस समय बम्बई में नारी शिक्षा का नामोनिशान नहीं था। इन परिस्थितियों में दादा भाई ने अपने पारसी सहयोगियों की सहायता से लड़कियों की शिक्षा के लिये कन्या विद्यालय की स्थापना की। 4 अगस्त 1849 को बम्बई में प्रथम महिला विद्यालय की स्थापना हई जिसका श्रेय दादा भाई को जाता है। नारी जाति को समाज में उचित स्थान देने के लिये दादा भाई ने नारी शिक्षा को आवश्यक साधन बताया। उनके द्वारा नारी-शिक्षा के क्षेत्र में किया गया प्रयास सर्वप्रथम नया प्रयास था। इसके अतिरिक्त धार्मिक कुरीतियों अन्धविश्वासों और रूढिवादियों पर भी प्रहार किया। मद्यपान को उन्होंने बहुत बड़ी सामाजिक बुराई बताया। विधव-विवाह के प्रचार में उन्होंने विशेष रूचि दिखाई। समाज-सुधार हेतु उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण संस्थाओं जैसे बम्बई एशोसिएशन, पारसी जमनेजियम आदि का संगठन किया।

2.1.8 दादा भाई नौरोजी के विचारों का योगदान

दादा भाई को भारत का पितामह कहा गया है। स्वराज्य शब्द उन्हीं की देन है भारत की दरिद्रता का दर्शन पहले पहल दादा भाई ने ही हमें कराया था। वे एक महान गुरू तथा नेता थे। वे एक ऐसे अर्थशास्त्री थे जिन्हें लोकवित्त, विदेशी व्यापार तथा राष्ट्रीय आय की समस्याओं की गहरी सुझ-बुझ थी। वे उच्च कोटि को सामाजिक तथा राजनीतिक विचारक भी थे। उनके अभिभावी व्यक्तित्व तथा उच्च नैतिक चरित्र ने उनके तत्कालीन भारतीय अर्थशास्त्र और राजनीतिक विषयक विचारों को बहुत लोकप्रिय

बना दिया था। उनका 'निर्गम' सिद्धांत भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक चिंतन में उतना ही विस्फोटक बन गया था, जितने माक्र्स के शोषण और वर्ग संघर्ष के सिद्धांत माक्र्सवादी तथा समाजवादी क्षेत्रों में बन गये हैं।

दादा भाई का विश्वास था कि राजनीतिक प्रगति के लिये शिक्षा का प्रसार बहुत आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा केवल व्यक्ति की आत्मा ही ज्ञान से प्रदिप्त नहीं होती, वह लोगों के मन में अधिकारों की चेतना भी उत्पन्न करती है। उन्हें विश्वास था कि शिक्षा के प्रसार और प्रशासनिक अनुभव के संचय से स्वराज्य की ओर प्रगति की गति तीव्र होगी। इसलिये उन्होंने निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा हर प्रकार के निःशुल्क शिक्षा की मांग की। दादा भाई के सामाजिक विज्ञानों में प्रमुख दो योगदान है-

प्रथम- उन्होंने भारतीय राजनीति की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की।

दूसरा- अर्थशास्त्रीय अनुसंधान के क्षेत्र में वैज्ञानिक वस्तुगत पद्धति का अनुसरण किया।

अतः उनकी पद्धति अर्थशास्त्रीय थी न कि संवेगात्मक तथा भावुक। उन्होंने भारतीय जनता को देश के साधनों के निर्गम के प्रति सचेत किया और इस प्रकार वे भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रमुख विद्वान बन गये। दादा भाई ने अपनी भारतीय अर्थशास्त्र तथा राजनीति संबंधी रचनाओं में अधिकार की धारणा को महत्व दिया है। 19 वीं शताब्दी के छठे तथा सातवें दशक में उन्होंने प्राकृतिक अधिकार की धारणा का उल्लेख किया। 1906 कलकत्ता काँग्रेस के अवसर पर अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने भारतवासियों के लिये दो प्रकार के अधिकारों के आधार पर ब्रिटिश नागरिकता का दावा किया- (1) जन्मसिद्ध अधिकार (2) प्रतिक्षा मूल अधिकार। उनकी मांग थी कि भारतवासियों को दो अधिकार तुरन्त दे दिये जाए। (1) लोकसेवा में नौकरियाँ तथा दूसरा प्रतिनिधित्व। उन्होंने इस बात पर सदैव बल दिया कि भारतवासी ब्रिटिश नागरिक हैं, इसलिए के ब्रिटिश नागरिकता से सम्बद्ध सभी अधिकारों और विशेषाधिकारों के हकदार हैं।

2.1.9 मूल्यांकन

अपने व्यक्तिगत जीवन में दादा भाई ने अलौकिक पवित्रता का परिचय दिया। अपने राजनीतिक कार्य-कलाप में भी उन्होंने वैसे ही नैतिक उत्साह से काम लिया। भारत के प्रति उनकी भक्ति गंभीर तथा हार्दिक थी। राजनीति क्षेत्र में उन्होंने अनन्य भक्ति तथा आत्मत्याग से युक्त समर्पण की भावना से कार्य किया। वे शुद्ध गंभीर तथा अविरल देश भक्ति के साक्षात अवतार थे। उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन का मार्ग इसलिये अपनाया कि वे उसे भारत की आर्थिक तथा सामाजिक पुनः स्थापना तथा प्रगति के लिये सर्वाधिक शक्तिशाली कार्यप्रणाली मानते थे। उनका विश्वास था कि भारत की आशा, शक्ति तथा होतब्यता केवल स्वराज्य पर निर्भर है। स्वराज्य की भोग तथा उसे पाने के लिये स्वदेशी व वहिष्कार के साधनों के स्वीकार करने के कारण दादा भाई काँग्रेस के दोनों ही पक्षों (उदार तथा उग्र) के अधिक निकट समझे जाने लगे। उन्होंने क्रांतिकारी तथा हिंसात्मक प्रवृत्ति को कभी नहीं उसकाया तथा संवैधानिक आन्दोलन के मार्ग से वे कभी भी विचलित नहीं हुए। आर0 पी0 मसानी के शब्दों में- दादा भाई अनेक निराशाओं के बाद भी जिस उद्देश्य सिद्धांत, नीति व कार्य प्रणाली के साथ दृढतापूर्वक राजनीति में भाग ले रहे थे, गाँधीजी ने उसी का अनुसरण किया।

2.1.10 कठिन शब्दावली

(1) निर्गम (2) होतब्यता
(3) अनुग्रह (4) आकांक्षा
(5) अग्रग्रन्ता (6) महाभाष्य

2.1.11 अभ्यास प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्नः-

(1) दादा भाई नौरोजी का जन्म कब हुआ?
(क) 5 सितम्बर 1825 (ख0 4 सितम्बर 1825
(ग) 8 नवम्बर 1825 (घ) 10 दिसम्बर 1825

(2) दादा भाई नौरोजी ने इस्ट इण्डिया एसोसियेशन की स्थापना की।
(क) 1867 (ख) 1852
(ग) 1876 (घ) 1851

(3) निम्नलिखित में से कौन सी रचना दादा भाई की है-
(क) पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इण्डिया।
(ख) मार्डन इण्डिया।
(ग) इण्डिया एण्ड हर प्रोब्लेम।
(घ) ऑन लिवर्टी

(4) निर्गम सिद्धांत किसकी देन है?
(क) दादा भाई नौरोजी (ख) विवेकानन्द
(ग) दयानन्द (घ) महात्मा गाँधी

(5) भारत का पितामह किसे कहा गया है?
(क) महात्मा गाँधी (ख) दादा भाई नौरोजी
(ग) गोखले कृष्ण गोखले (घ) जवाहरलाल नेहरू

(6) दादा भाई नौरोजी का जन्म किस धार्मिक परिवार में हुआ था?
(क) हिन्दू (ख) इसाई
(ग) पारसी (घ) मुस्लिम

लघु उत्तरीय प्रश्नः-

(1) दादा भाई नौरोजी का जन्म कब और कहाँ हुआ था?
(2) दादा भाई मुम्बई के किस कॉलेज में प्रोफेसर नियुक्त हुए?
(3) दादा भाई सर्वप्रथम किस वर्ष काँग्रेस के सभापति नियुक्त हुए?
(4) दादा भाई के नैतिक निर्गम का क्या अर्थ है।
(5) दादा भाई नौरोजी किस सम्प्रदाय से संबंध रखते थे ?
(6) भारतीय इतिहास में दादा भाई नौरोजी को किस नाम से जाना जाता है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः-

(1) दादा भाई नौरोजी की जीवनी अपने शब्दों में लिखें।
(2) दादा भाई नौरोजी के आर्थिक विचार की विवेचना करें।
(3) दादा भाई नौरोजी के राजनीतिक विचार की विवेचना करें।
(4) दादा भाई नौरोजी के सामाजिक दर्शन की विवेचना करें।
(5) दादा भाई नौरोजी के विचारों का मूल्यांकन करें।
(6) दादा भाई नौरोजी की भारतीय इतिहास में देन क्या है ? विवेचना करें।

1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) फडिया डा0 बी0 एल0 2008 राजनीतिक चिंतन, भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ट संख्या 100-107.
(2) वर्मा डा0 वी0 पी0 1983 आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशक, अगरा, पृष्ठ संख्या 165-178.
(3) नागर डा0 पुरूषोत्तम आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ आकादमी जयपूर।
(4) सूद प्रो0 ज्योति प्रसाद, आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएँ, जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी मेरठ।
(5) जैन, पुखराज, मेहता, प्रो0 जीवन एस0, बी.पी.डी. पब्लिकेशन, 3/208 आगरा

इकाई - 2 : फिरोज शाह मेहता

इकाई की रूपरेखा

2.2.1. उद्देश्य
2.2.2. जीवन परिचय
2.2.3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भूमिका
2.2.4. इतिहास की व्याख्या
2.2.5. राजनीतिक विचार
2.2.6. स्थानीय स्वराज सम्बन्धी विचार
2.2.7. शिक्षा सम्बन्धी विचार
2.2.8. मेहता का योगदान
2.2.9. मूल्यांकन
2.2.10. कठिन शब्दावली
2.2.11.अभ्यास प्रश्न
2.2.12. संदर्भ ग्रंथ सूची

2.2.1. उद्देश्य

- फीरोजशाह मेहता के बारे में जान सकेंगे।
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उनकी भूमिका को समझ सकेंगे।
- भारतीय इतिहास में उनकी आस्था एवं विश्वास को जान सकेंगे।
- उनके राजनीतिक विचार को समझ सकेंगे।
- स्थानीय निकायों के सम्बन्ध में उनके विचार को जानेंगे।
- शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचार को जानेंगे।
- भारतीय राजनीति में उनके योगदान को समझ सकेंगे।

2.2.2. जीवन परिचय

सर फीरोजशाह मेहता बम्बई के बिना मुकुट के राजा कहलाते थे। उनका जन्म 4 अगस्त, 1845 को हुआ था और नवम्बर 1915 में उनका देहावसान हुआ। उन्होंने बम्बई के एल्फिंस्टन कॉलेज से 1864 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उन्हें 1868 में 'लिंकन्स इन के बैरिस्टर' की उपाधि प्रदान की गयी। जब वे लन्दन में विद्यार्थी थे तभी दादा भाई नौरोजी के प्रभाव में वे आ गये थे। वे दादा भाई को आधुनिक युग का महानतम संसदीय नेता तथा नैतिक एवं राजनीतिक कर्तव्य परायणता का मूर्त रूप मानते थे। उस वृद्ध नेता की दूरदर्शिता, निःस्वार्थता, अथक अध्यवसाय तथा उदार बौद्धिकता के बड़े प्रशंसक थे। दादा भाई से फिरोज शाह ने यह सीखा कि लोक प्रशासन के मूल में आर्थिक तत्वों का विशेष महत्व होता है। 1872 में वे बम्बई नगर महापालिका के सदस्य बन गए और तीन बार उसके सभापति चुने गए। उन्होंने इलबर्ट विधेयक आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। उन्होंने तेलंग तथा बद्रुद्दीन तैयबजी के साथ मिलकर

1885 में बौम्बे प्रेसीडेंसी एसोशियेशन की नींव डाली। यह संस्था राजनीतिक विषयों पर अपनी राय व्यक्त किया करती थी। इस प्रकार वे विधिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने वकील, बम्बई महापालिका के सदस्य तथा बम्बई विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य के रूप विशिष्ट ख्याति प्राप्त की।

उन्हें लार्ड री ने बम्बई विधान परिषद् का सदस्य नियुक्त किया। पुनः उन्हें 1892 में विधान परिषद् के लिए निर्वाचित कर लिया गया। वे पन्द्रह वर्ष तक बम्बई विधान परिषद् के सदस्य रहे। इसके साथ ही फीरोजशाह तीन वर्ष तक (1894-1897) तक भारतीय विधान परिषद् के सदस्य रहे। वे अपनी ओजपूर्ण तथा कुशल वक्ता और निर्भयता के लिए प्रसिद्ध थे। वे नैयायिक, कटु तथा स्पष्ट वक्ता के साथ-साथ प्रतापी राजनीतिज्ञ थे।

2.2.3. भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस में भूमिका

दादा भाई नौरोजी तथा महादेव गोविन्द रानाडे के साथ मिलकर फीरोजशाह मेहता ने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना की। सन् 1885 में बम्बई में काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के महत्वपूर्ण व्यक्तियों में दादा भाई नौरोजी, फिरोज शाह मेहता, हयूम, दिनशा वाचा, के॰ टी0 तेलंग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। फीरोजशाह का व्यक्तित्व दबंग था। उन्होंने अनेक वर्षों तक कांग्रेस पर अपना नियंत्रण बनाए रखा। वे 1890 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के सभापति हुए। 1892 में पूना में जो प्रान्तीय सम्मेलन हुआ उसके भी वे सभापति थे। साथ ही 1889 तथा 1904 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्वागत समिति के सभापति रहे। 1904 में भारतीय काँग्रेस के महाधिवेशन में स्वागत-समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने भी राजनीतिक आन्दोलन के महत्व को उजागर किया और उन लोगों की बड़ी भर्त्सना की, जो काँग्रेस आन्दोलन को बन्द कर देना चाहते थे। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजी साम्राज्य और भारत के सम्बन्ध चिर स्थाई हैं। उस समय एक ओर रानाडे, फिरोज शाह मेहता तथा गोखले भारत के अंग्रेजी साम्राज्य के साथ सम्बन्ध का चिरस्थायित्व मानने के लिए ईश्वरीय संकल्प का आश्रय लेते थे, तो दूसरी ओर गरमदल के नेताओं ने स्वदेशी, स्वराज्य, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षण की चतुर्सूत्री योजना का प्रचार शुरू कर दिया।

फलतः सन् 1906 में कलकत्ता कांग्रेस में इस चतुर्सूत्री योजना की स्वीकृति हो गई। किन्तु फिरोज शाह मेहता और गोखले का दल इस स्वीकृति से उदास था और सूरत कांग्रेस के अवसर पर चतुर्सूत्री योजना की तीव्रता को नरमदल के द्वारा शिथिल करने का यत्न किया गया। दोनों दलों में कटुता बढ़ गई। बर्मा के निर्वासन से लौटे हुए त्यागी नेता लाला लाजपत राय ने दोनों दलों में समझौता कराने का विफल प्रयास किया। इस प्रकार सूरत काँग्रेस का संघर्ष अत्यन्त दुर्भाग्यजनक रहा। 1907 में सूरत की फूट के अवसर पर फीरोजशाह मेहता तथा गोखले मितवादी अर्थात् नरमदल के प्रमुख नेता थे। यह उन्हीं के अभिक्रम का परिणाम था कि कांग्रेस का स्थान नागपुर को छोड़कर सूरत रखा गया था। फीरोजशाह का इस समय तक कांग्रेस में प्राबल्य था। उन्होंने बम्बई विधान परिषद् में वित्तीय विवरण, कृषकों की सहायता, आयात शुल्क, पुलिस अधिनियम संशोधन, संक्रामक रोग अधिनियम आदि विषयों पर अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक निर्भिक होकर ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त किए। भारतीय वित्त के लिए सीमान्त युद्धों, गृह सैनिक व्यय के असमान वितरण, सैनिक व्यय में वृद्धि तथा विनिमय क्षतिपूर्ति भत्तों से जो संकट उत्पन्न हो गया था उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। वे सच्चे देशभक्त थे। यही कारण था कि फीरोजशाह

को 1910 में भी भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के सभापति के रूप में चुना गया, किन्तु उन्होंने व्यक्तिगत कारण से अपना त्याग-पत्र दे दिया। तदुपरान्त काँग्रेस के कार्य से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

2.2.4. इतिहास की व्याख्या

फीरोजशाह भी रानाडे की भाँति विश्वास करते थे कि इतिहास की प्रक्रिया ईश्वर द्वारा शासित होती है। उनके अनुसार यह बात ईश्वरीय चमत्कार से कम नहीं थी कि ब्रिटिश शासन के माध्यम से भारत में स्वतंत्रता तथा वैयक्तिक गरिमा की धारणाओं तथा वैज्ञानिक सभ्यता के लाभों का प्रवेश हुआ था। उनका कहना था कि यदि भारतवासी इंग्लैंड के राजनीतिक इतिहास के अनुभवों को समझें और तदनुसार आचरण करें तो उन्हें धीरे-धीरे सारभूत लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

1904 में बम्बई भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के स्वागत समिति के सभापति के रूप में भाषण में उन्होंने कहा कि ''मैं आपके समक्ष अपने जैसे एक निष्ठावान तथा अडिग काँग्रेसजन के विश्वास की स्वीकृति प्रस्तुत कर रहा हूँ। मैं अपने स्वर्गीय मित्र महादेव गोविन्द रानाडे की भाँति दृढ़ तथा साहसी आशावादी हूँ। मेरा विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य के माध्यम से मानव जीवन का निर्देशन तथा संचालन करता है। इसे आप पूर्व के लोगों का भाग्यवाद कह सकते हैं, किन्तु यह भाग्यवाद सक्रिय है। निष्क्रिय नहीं, यह भाग्यवाद मानता है कि मशीनरी के मानवीय पहियों को अपना निर्धारित कार्य पूरा करने के लिए घूमते रहना चाहिए। मुझे कवि के इन शब्दों से सदैव आशा और सान्त्वना मिलती है कि 'मैंने इस संसार का निर्माण नहीं किया है, जिसने इसे बनाया है वही इसका मार्गदर्शन करेगा।' उसी तरह मेरा काल में गहरा विश्वास है और उसमें पूरी आस्था भी है कि जो काल का किसी पूर्ण उद्देश्य के लिए नियमन करता है। आशा और धीरज की यही चट्टान मेरी अडिग भक्ति का आधार है। अतः रानाडे की तरह मैं ब्रिटिश शासन को ईश्वर का आश्चर्यजनक विधान मानता हूँ कि विश्व के दूसरे छोर पर स्थित एक छोटा-सा द्वीप एक दूरस्थ और अपने से अधिकाधिक भिन्न महाद्वीप पर आधिपत्य स्थापित कर ले। इसे ईश्वर की इच्छा की घोषणा न मानना मूर्खता होगी।''

इस प्रकार रानाडे, फीरोजशाह मेहता तथा गोखले की यह धारणा कि इतिहास की गति में ईश्वरीय नियम कार्य करते हैं बौसे तथा हेंगेल के विचारों के सदृश हैं। हम पाते हैं कि जहाँ भारतीय मितवादी (नरमदल) एक ओर तो बुद्धि, विज्ञान, प्रगति, संविधानवाद तथा शिक्षा में विश्वास करते हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें भारत में ब्रिटिश शासन के पीछे ईश्वर का हाथ दिखायी देता है। इस तरह वे सन्त अगस्ताइन, बौसे और टॉइनबी की भाँति इतिहास की ईसावादी व्याख्या में विश्वास करते हैं। वे राममोहन राय, केशवचन्द्र आदि कुछ विचारकों की भाँति विदेशी शासन को देश के लिए वरदान मानते थे। उदारवादी होने के नाते फीरोजशाह ने स्वीकार किया कि इतिहास में निरन्तर प्रगति की प्रक्रिया देखी जा सकती है। उनका विश्वास था कि सभी युगों और सभी देशों में विस्तीर्ण होनेवाली प्रगति का नियम कार्य करता है। इस प्रकार उन्हें भी फ्रांसीसी और जर्मन प्रबुद्धीकरण के दार्शनिकों की भाँति प्रगति की धारणा में आस्था थी। उनका कहना था कि मनुष्यों तथा संस्थाओं के पारस्परिक सुधार तथा पूर्णता के लिए किए गए श्रृंखलाबद्ध परीक्षणों को परिणाम स्वरूप ही प्रगति होती है। उनका मत था कि यह पुरानी कहावत दोषपूर्ण है कि 'जो बात हो चुकी है, वही बात भविष्य में होगी।' इतिहास की कभी पुनरावृत्ति नहीं होती है। यदि पुनरावृत्ति होगी, तो वे हमें मार्ग-भ्रष्ट कर देंगे। अतः फीरोजशाह को इतिहास की प्रक्रिया के गतिशील सिद्धांत में विश्वास था। वे यह स्वीकार नहीं करते थे कि भारतीय आर्यों का सृजनात्मक युग समाप्त हो

चुका है। पुराने मितवादियों की भाँति मेहता का भी विश्वास था कि देश को आधुनिक सभ्यता के मूल्यों को अंगीकार करने के लिए धीरे-धीरे तैयार किया जाना चाहिए। इसीलिए उन्हें भारत की राजनीतिक प्रगति के क्रमिक विकास में ही उज्जवल सम्भावनाएँ दिखाई दिया।

2.2.5. राजनीतिक विचार

फीरोजशाह मेहता का विचार था कि राजनीतिक शक्ति को अधिकाधिक कठोर उपयों का प्रयोग करके सुदृढ़ नहीं बनाया जा सकता है। उसे शान्त विवेक, बुद्धिमत्ता तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से ही बल मिलता है। टी0 एच0 ग्रीन तथा दादा भाई नौरोजी की भाँति फीरोजशाह का भी सिद्धान्त था कि राजनीतिक शक्ति जनता के संकल्पों, इच्छाओं, आदर्शों, प्रेम तथा आकांक्षाओं में मूलबद्ध होनी चाहिए। राजनीतिक शक्ति को पक्षपातजन्य कुटिलता, निराधार तथा मार्गभ्रष्ट करने वाले दुर्भावों और कार्यपालक अधिकारियों के वर्ग तथा स्थितिजनित दोषों से मुक्त करना होगा। यह एक सामान्य धारणा है कि शक्ति सैनिक बल पर आधारित होती है। परन्तु समाजशास्त्र के अनुसार समाज का मतैक्य तथा जनता के नैतिक और सामाजिक आदर्शों के प्रति सहानुभूति ही शक्ति का वास्तविक आधार है। शक्ति की कोई भी व्यवस्था सार्वजनिक कल्याण का परिवर्तन करने की इच्छा और क्षमता के बिना अपने को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकती।

फीरोजशाह यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारत में ब्रिटिश शासन शक्ति के बल पर कायम किया गया था। उनके अनुसार देश में ब्रिटिश शक्ति की जड़ें अधिक गहरी थीं। शक्ति का संरक्षण नैतिक सिद्धान्तों की अवहेलना करके नहीं किया जा सकता था। इंगलैंड ने भारत को केवल तलवार के बल पर नहीं जीता है। उसकी विजय का अधिकांश श्रेय उसके नैतिक तथा बौद्धिक गुणों को है। इन गुणों ने विजय के कार्य में ही उसका पथ-प्रदर्शन नहीं किया है, बल्कि उन्होंने विजय के हानिकारक प्रभावों को दूर करने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। फीरोजशाह ने कहा कि अंग्रेज भारत में जिस शक्ति की नीति का प्रयोग कर रहे थे उसके तीन घातक परिणाम हो सकते थे। प्रथम, उससे इंगलैंड पर भारी बोझ और दबाब पड़ेगा, क्योंकि इंगलैंड को रूस और फ्रांस की प्रतिस्पर्धा तथा संघर्षों का सामना करना पड़ रहा था। यदि वह इन शक्तियों के साथ उलझता तो भारत पर शासन उसके लिए भारी सिद्ध होता। दूसरे, नियति निरंकुशता का बदला अवश्य ही लेती है। भारत के निरंकुश शासन स्वेच्छाचारिता, अहंकार तथा उग्र पक्षपात की भावनाओं से ओतप्रोत थे। वे इंगलैंड की राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होते हैं। सामाजिक अहंकार के वातावरण में रहते हुए अंग्रेज अधिकारियों का सिर फिर गया है और वे शक्ति के नशे में चूर हैं, वे जब लौटकर स्वदेश आऐंगे तो ब्रिटेन के समाज पर अवश्य ही दूषित प्रभाव डालेंगे। तीसरे, शक्ति की नीति को कार्यान्वित करने के लिए विशाल सेना रखनी पड़ेगी, उससे देश दरिद्र होगा और उसका पुंसत्व नष्ट होगा। जो धन विशाल सेना पर व्यय होता था, यदि उसे देश के विकास के लिए प्रयुक्त किया जाता तो उससे इंगलैंड तथा भारत दोनों को ही भारी लाभ हो सकता था।

फीरोजशाह को अंग्रेज जाति की संस्कृति में गहरी आस्था थी। उन्हें राजनीतिज्ञता के आधारभूत सिद्धान्तों तथा मूल्यों में भरपूर विश्वास था। वे समझते थे कि इंगलैंड के राजनीतिज्ञ नैतिक तथा राजनीतिक कर्तव्यपरायणता के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित थे। इसलिए उनका विश्वास था कि इंगलैंड भारत के साथ अवश्य ही न्याय करेगा। अपने अध्यक्षीय भाषण में 1890 की कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर उन्होंने कहा था कि मुझे इंगलिश संस्कृति तथा इंगलिश सभ्यता के जीवन तथा शक्तिदायी सिद्धान्तों

में असीम आस्था है। हो सकता है कि कभी-कभी स्थिति अंधकारमय तथा निराशाजनक दिखायी दे। आंग्ल-भारतीयों का विरोध भयंकर तथा अडिग हो। किन्तु मुझे आंग्ल-भारतीयों में भी असीम विश्वास है, मुझे उनकी उच्च और श्रेष्ठ प्रकृति में आस्था है और अन्त में उसी की विजय होगी जैसी पहले अनेक सम्माननीय, विशिष्ट तथा गौरवपूर्ण अवसरों पर हो चुकी है.....।'' हमारी कांग्रेस केवल यह चाहती है कि हमें भी उन नियामतों में साझीदार बना लिया जाय जिनका इंगलैंड को मिलना उतना ही निश्चित है जितना उस अनन्त सत्ता का अस्तित्व जो धर्म और न्याय का संस्थापक है। लेकिन अंग्रेजी साम्राज्य की श्रेष्ठता और सर्वोच्चता को स्वीकार करते हुए भी फीरोजशाह उग्र अंग्रेजों और आंग्ल-भारतीयों की व्यापारिक कामों के लिए की गयी विजयों का मजाक उड़ाने से भी नहीं चूके।

फीरोजशाह ने कभी भारतीय स्वतंत्रता के आदर्श का उपदेश नहीं दिया। वे कांग्रेस के संवैधानिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप को बनाए रखना चाहते थे। साथ ही वे यह भी चाहते थे कि वह सदैव अंग्रेजों के भक्त बने रहे। उनके विचार स्पष्ट थे तथा उनके राजनीतिक आदर्श संयत तथा सीमित थे। उनका विश्वास था कि राजनीति की समस्याएँ घबड़ाहट और उत्तेजना से हल नहीं की जा सकती थीं। उनको हल करने के लिए वफादार दिल तथा निर्मल बुद्धि की आवश्यकता थी। उन्हें ब्रिटिश सम्राट के प्रति भक्ति तथा ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व में विश्वास था। उन्हें इंगलैंड की न्यायपरायणता तथा सहानुभूति में भी आस्था थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप में फीरोजशाह ने ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व में अपना दृढ़ विश्वास तथा आस्था व्यक्त की थी। उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा और स्थायित्व के सम्बन्ध में हार्दिक चिन्ता रहती थी, क्योंकि उनकी समझ में भारतीय जनता के कल्याण, सुख, समृद्धि तथा सुशासन की नींव वह साम्राज्य ही था। उन्हें आशा थी कि किसी दिन मैकॉले का यह स्वप्न निश्चय ही पूरा होगा कि भारतीय भी गौरवपूर्ण नागरिकता के सुख और सुविधाओं का उपभोग करें।

2.2.6. स्थानीय स्वराज सम्बन्धी विचार

यद्यपि भारत के मितवादी नेता केन्द्रीकरण के विरूद्ध थे तथापि वे स्थानीय निकायों की स्वायत्ता का समर्थन करते थे। इसीलिए रानाडे, फीरोजशाह तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्थानीय निकायों की शक्तियों का प्रसार करने पर बल दिया। फीरोजशाह की स्थानीय स्वराज की प्रगति में गहरी रूचि थी। उन्होंने स्थानीय निकायों पर नियंत्रण के सम्बन्ध में जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हरबर्ट स्पेंसर के विचारों को उद्धृत किया। क्योंकि दोनों का मत है कि म्यूनिसिपल निकायों के कार्यसंचालन पर या तो बाह्य नियंत्रण हो या आन्तरिक दोनों प्रकार का नियंत्रण लगाना ठीक नहीं है। बम्बई विधान सभा में बम्बई जिला नगरपालिका विधेयक के अवसर पर 13 फरवरी 1901 को भाषण देते हुए फीरोजशाह मेहता ने कहा कि स्थानीय निकायों पर पूरा-पूरा नियंत्रण होना चाहिए किन्तु वे चाहते थे कि निकायों के हाथों में भी कुछ शक्ति छोड़ दी जाय जिससे वे अनुभव कर सकें कि वे स्वयं अपने पर नियंत्रण लगा रहे हैं, न कि कोई बाहर की सत्ता। इस प्रकार वे सब प्रकार के नियंत्रण से मुक्त स्वाधीनता के समर्थक नहीं थे, किन्तु साथ ही उनका कहना था कि स्थानीय निकायों को कुछ शक्ति तथा उत्तरदायित्व अवश्य देना होगा। आवश्यकता इस बात की थी कि स्थानीय शासन की व्यवस्था इस ढंग की हो जिसमें स्थानीय प्रतिनिधियों की सचमुच साझेदारी हो। उनकी यह भी राय थी कि कार्यकारी काम किसी परिषद् अथवा उप-समिति की अपेक्षा किसी एक ही अधिकारी को सुपुर्द किए जाएँ। इसके अतिरिक्त बम्बई महापालिका में उन्होंने जल-निकास, प्राथमिक

शिक्षा, चिकित्सा की सुविधा, पुलिस सम्बन्धी व्यय का निर्धारण, जल की पूर्ति आदि समस्याओं की ओर प्रतिनिधि के रूप में विशेष ध्यान दिया और स्थानीय निकायों के लिए इन कार्यों को महत्वपूर्ण माना। वस्तुतः स्थानीय निकायों की स्वायत्ता का समर्थन एवं शक्तिवर्द्धन का उनका प्रयास इसी कारण था।

2.2.7. शिक्षा सम्बन्धी विचार

भारतीय मितवादियों के राजनीतिक दर्शन का एक मुख्य सिद्धान्त शिक्षा की सुविधाओं का प्रसार था। वे शिक्षा को सर्जनात्मक जीवन की कुंजी मानते थे। उनका कथन था कि मानसिक मुक्ति नागरिक की अमूल्य सम्पत्ति है। इसीलिए फीरोजशाह लोक-शिक्षा के प्रसार के पक्षपाती थे। उदारवादी होने के कारण वे बुद्धिवाद तथा प्रबुधीकरण के पक्ष में थे। उन्होंने बौद्धिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उनका कथन था कि इतिहास तथा मानवशास्त्र नैतिकता की पाठशाला है। उनके अनुसार बुद्धिमान तथा शिक्षित जनता ही देश के साधनों के विकास का सबसे अच्छा माध्यम है। क्योंकि इस विचार को पहले-पहल फ्रांसीसी क्रान्ति के राजनीतिज्ञों ने प्रारम्भ किया था। साथ ही यूरोप में भी संघर्षपूर्ण तनाव के समय इस विचार को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेहता का विश्वास था कि भारतीय जीवन में सार्वजनिक तथा वैयक्तिक दायित्व और वफादारी के उच्च आदर्शों को केवल शिक्षा के माध्यम से ही प्रविष्ट किया जा सकता था। परन्तु उनकी बौद्धिक प्रेरणा का मुख्य श्रोत पाश्चात्य संस्कृति थी। हलाँकि वे संस्कृत भाषा से परिचित नहीं थे। इसीलिए उन्होंने 'बम्बई की शिक्षा-प्रणाली' नामक एक निबंध में संस्कृत भाषा और साहित्य की आलोचना की। उनका कथन था कि 'उन्नीसवीं शताब्दी की सभ्यता के अनुरूप पुनरूद्धार हेतु वे निरर्थक तथा हानिकारक हैं।' तथापि फीरोजशाह ने शिक्षा के प्रसार को ही सार्थक प्रयास माना और उसके लिए स्थानीय स्तर पर निकायों द्वारा भी प्राथमिक शिक्षा के लिए आवाज उठाया।

2.2.8. मेहता का योगदान

भारतीय राजनीति में मितवादियों के युग में नेताओं में फीरोजशाह मेहता का उच्च स्थान था। वे शक्तिवादी विवादकत्र्ता तथा उत्कट और निर्भीक देशभक्त थे। वे अपने राजनीतिक निर्णयों में भावनाओं की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होते थे। उन्हें ब्रिटिश सभ्यता के मूल्यों में आस्था थी। उन्हें विश्वास था कि अन्ततोगत्वा भारत की उन्नति और प्रबुद्धीकरण निश्चित है। उन्होंने धैर्य तथा अध्यवसाय पर काफी जोर दिया। सच तो यही है कि फीरोजशाह ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के पक्षधर थे। उसके प्रति हार्दिक, प्रबुद्ध तथा निष्ठायुक्त भक्ति ही उनके राजनीतिक चिन्तन की आधारभूत धारणा थी। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उदारवादी सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्वक समर्थन करके उन्होंने स्थानीय निकायों के लिए स्ववायत्तता। सार्वजनिक शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना में भी फीरोजशाह मेहता का विशेष योगदान था। सन् 1885 में बम्बई में काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें उनकी भूमिका अविस्मरणीय है। उन्होंने अनेक वर्षों तक कांग्रेस पर अपना नियंत्रण रखा। दो बार उन्होंने कांग्रेस की स्वागत समिति के सभापति के रूप में कार्य किया। 1907 में कांग्रेस की फूट के अवसर पर सूरत शिविर में उन्होंने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। इस समय तक कांग्रेस में उनका प्राबल्य था। इसीलिए उन्हें 'बम्बई के बिना मुकुट के राजा' के नाम से संबोधित किया जाता है।

2.2.9. मूल्यांकन

हलाँकि भारतीय विचारकों का एक वर्ग की पश्चिम के प्रति प्रतिक्रिया अधिक सहानुभूतिपूर्ण थी। कुछ विचारक विदेशी शासन को देश के लिए वरदान मानते थे। उन विचारकों में से एक फीरोजशाह मेहता महत्वपूर्ण थे। उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य और भारत के संबंध को चिरस्थाई कहा। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश शासक उदारता की नीति का अवलंबन कर भारत के प्रति न्याय करेगी। वस्तुतः आज स्वतंत्र भारत में ये विचार संभवतः युक्तिसंगत एवं उपयुक्त नहीं लग रहा हो, लेकिन जिन परिस्थितियों में वे व्यक्त किए गए उन्हें भूलना अनुचित होगा। सच्चाई तो यह है कि यह मेहता का दोष नहीं था, बल्कि उन परिस्थितियों की सीमा थी। उन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्तिशाली व्यवस्था देश में दृढ़ता से जमी हुई थी, अतः उस समय स्वतंत्रता के आदर्श के लिए सिर उठाना भारी जोखिम भरा कदम हो सकता था। इसीलिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारंभिक काल में मितवादियों की उदारनीति को नकार देना न्यायोचित नहीं होगा।

तथापि अतिवादी, उग्रवादी तथा समाजवादी चिन्तन के विकास के साथ-साथ मेहता के विचारों का केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उदारवादी सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्ण समर्थन करके उन्होंने ऐसे तरूण, उदीयमान तथा आशावान देश के प्रवक्ता का काम किया जहाँ प्रबुद्ध तथा शिक्षित लोगों को पूँजीपति वर्ग तथा निम्न मध्य वर्गों की आकांक्षाओं के बीच सही मार्ग को चुनना था। वस्तुतः उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से देख लिया था कि भारत की राजनीतिक प्रगति के क्रमिक विकास की प्रबल सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। इस प्रकार फीरोजशाह मेहता कटु तथा पुरूष व्यंग्य के आचार्य और प्रतापी राजनीतिज्ञ थे। गोपाल कृष्ण गोखले पर फीरोजशाह मेहता का भी भारी प्रभाव था। इसीलिए गोखले कहा करते थे कि 'फीरोजशाह के बिना उचित काम करने की अपेक्षा मैं उनके साथ मिलकर अनुचित कार्य करना भी पसन्द करूँगा।' महात्मा गाँधी फीरोजशाह मेहता को हिमालय की तरह ऊँचा मानते थे, जिसे मापा नहीं जा सकता।

2.2.10. कठिन शब्दावली

(अ) कर्तव्यपरायण - कठोरता से कर्त्तव्य पालन।
(आ) चतुर्सूत्री - चार सूत्र वाला।
(इ) आधिपत्य - बलपूर्वक अधिकार में करना।
(ई) मितवादी - मीठा बोलने वाला अर्थात् नरम दल।
(उ) श्रृंखलाबद्ध - क्रमशः।
(ऊ) मतैक्य - एकमत।

2.2.11 अभ्यास प्रश्न

1. फीरोजशाह मेहता का जन्म कब हुआ था?
   (अ) 4 अगस्त 1846 (आ) 4 अगस्त 1845
   (इ) 4 अगस्त 1847 (ई) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. फीरोजशाह मेहता का निधन कब हुआ?
   (अ) नवम्बर 1916 में (आ) नवम्बर 1917 में

(इ) नवम्बर 1915 में (ई) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. मेहता किस सन् में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने?
   (अ) 1890 में (आ) 1892 में
   (इ) 1904 में (ई) 1907 में
4. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किसने की?
   (अ) दादा भाई नौरोजी (आ) महादेव गोविन्द राणाडे
   (इ) फीरोजशाह मेहता (ई) तीनों मिलकर
5. लॉर्ड री ने उन्हें कब बम्बई विधान परिषद् का सदस्य नियुक्त किया?
   (अ) 1886 में (आ) 1892 में
   (इ) 1894 में (ई) 1872 में
6. मेहता ने कब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया?
   (अ) 1907 में (आ) 1910 में
   (इ) 1915 में (ई) उपर्युक्त में से कोई नहीं

उत्तर- (1) आ (2) इ (3) अ (4) ई (5) अ (6) आ

लघु उत्तरीय प्रश्नः-

(1) फीरोजशाह मेहता का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में क्या योगदान था?
(2) मेहता का शिक्षा सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करें।
(3) स्थानीय स्वराज के उद्देश्य को स्पष्ट करें।
(4) ब्रिटिश शासन पर मेहता के विचारों को स्पष्ट करें।
(5) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से त्याग-पत्र देने के कारण को स्पष्ट करें।
(6) भारतीय इतिहास में उनकी आस्था एवं विश्वास को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) फीरोजशाह मेहता के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन करें।
(2) भारतीय राजनीतिक चिन्तन में मेहता के योगदान एवं महत्व का उल्लेख करें।
(3) 'मेहता एक उदारवादी राजनीतिक चिन्तक थे' इस कथन को स्पष्ट करते हुए उनके राजनीतिक विचारों की व्याख्या करें।
(4) स्थानीय स्वराज से मेहता का क्या अभिप्राय है? इसके संदर्भ में उनके विचारों की व्याख्या करें।
(5) शिक्षा के महत्व पर मेहता के विचारों का उल्लेख करें।
(6) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उनकी भूमिका पर निबंध लिखें।

2.2.12. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वर्मा डा॰ वी॰ पी॰, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा-3, 1983 पृ॰ सं॰ 198-204.
2. मित्तल, डॉ0 ए0के0, आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास (1707 ई0 से 1550 ई0 तक), प्रकाशक- साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, प्रकाशन वर्ष- 2001
3. शर्मा, डॉ0 योगेन्द्र कुमार, भारतीय राजनीतिक विचारक- भाग 1, प्रकाशक- कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2002 ई0
4. तोमर, प्रो0 रघुवीर सिंह, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, प्रकाशक- वैभव लक्ष्मी प्रकाशन, वाराणसी, 2008 ई0
5. पाण्डेय, कृष्णचन्द्र, राजनीतिक विचारक, प्रकाशक- एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली, 1991 ई0

इकाई - 3 : सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

इकाई की रूपरेखा

2.3.1. उद्देश्य
2.3.2. जीवन परिचय
2.3.3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भूमिका
2.3.4. इतिहास दर्शन
2.3.5. मत्सीनी (मैजिनी) का प्रभाव
2.3.6. राजनीतिक विचार
2.3.7. राष्ट्रीय एकता के समर्थक
2.3.8. स्वराज के समर्थक
2.3.9. स्वदेशी आन्दोलन के समर्थक
2.3.10. योगदान
2.3.11.मूल्यांकन
2.3.12. कठिन शब्दावली
2.3.13. अभ्यास प्रश्न
2.3.14. संदर्भ ग्रंथ सूची

2.3.1. उद्देश्य

- सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के जीवन के बारे में जान सकेंगे।
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उनकी भूमिका को समझ सकेंगे।
- भारतीय इतिहास में उनकी आस्था एवं विश्वास को जान सकेंगे।
- उनके राजनीतिक विचार को जान सकेंगे।
- राष्ट्रीय एकता तथा स्वशासन के सम्बन्ध में उनके विचार को जान सकेंगे।
- स्वदेशी आन्दोलन के समर्थन में उनके विचार जान सकेंगे।
- भारतीय रानीतिक चिन्तन में उनके योगदान को जान सकेंगे।

2.3.2. जीवन परिचय

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को भारत का बर्क कहा जाता है। उनकी आवाज शक्तिशाली तथा ओजस्वी थी। अपनी वाक्-शक्ति के द्वारा वे श्रोताओं को अत्यधिक द्रवित और प्रभावित कर सकते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एक प्रमुख उदारवादी नेता थे। उनका जन्म 1848 में कलकत्ता में एक कुलीन ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उन्होंने 1868 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उन्हें उच्च शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई। वे इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, लेकिन तकनीकी गलती के कारण उन्हें अयोग्य ठहराया गया। न्यायालय में अपील के बाद उन्हें नियुक्त कर लिया गया, पर दो वर्षों के बाद ही आरोप लगाकर सरकार

ने उन्हें पदच्युत कर दिया। सरकारी नौकरी से निवृत्ति पाकर वे देशसेवा में लग गए। वे 1876 में मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूशन नाम की संस्था में अंग्रेजी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1881 में वे फ्री चर्च कॉलिज नामक एक अन्य शिक्षा संस्था के अध्यापक मंडल में सम्मिलित हो गए। 1882 में उन्होंने अपना एक निजी स्कूल खोल लिया जो उन्नति करके एक कॉलिज बन गया। इस प्रकार उन्होंने प्रसिद्ध रिपन कॉलेज की नींव डाली, जिसका नामकरण लॉर्ड रिपन के नाम पर किया। इस गौरवशाली संस्था के निर्माण का श्रेय केवल बनर्जी को था। वे कई वर्षों तक प्रोफेसर के पद पर रहे।

उन्होंने अपना राजनीतिक कार्यकलाप उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में प्रारंभ किया। उन्होंने सर्वप्रथम अन्य बंगाली नेताओं, आनन्द मोहन बोस और शिवनाथ शास्त्री, के सहयोग से कलकत्ता में इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की। एसोसिएशन की ओर से उन्होंने सारे देश का दौरा किया और वैधानिक आंदोलन का प्रचार किया। भारत में प्रतिनिधि शासन का आरंभ कराने के लिए आंदोलन करना इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था। वे अनेक वर्ष तक डब्ल्यू0 सी0 बनर्जी द्वारा संस्थापित 'बंगाली' नामक पत्र के सम्पादक रहे। इलवर्ट विधेयक के मामले में 'बंगाली' ने आंग्ल-भारतीय नौकरशाही की निर्भीकतापूर्वक आलोचना किया। जिसके फलस्वरूप 1883 में न्यायालय की मानहानि के आरोप में उन्हें दो महीने के कारावास का दण्ड दिया गया। कारागार से छूटने के बाद उन्होंने उत्तर भारत का पुनः दौरा किया, जिसका 'विजय-यात्रा' के रूप में स्वागत किया गया। 1876 में वे कलकत्ता महापालिका के सदस्य चुने गए और लगातार तेईस वर्ष तक उस पद पर कार्य करते रहे। 1890 में सुरेन्द्रनाथ काँग्रेस के प्रतिनिधिमंडल के सदस्य के रूप में भारत में शासन-सुधार के पक्ष में लोकमत तैयार करने के उद्देश्य से इंगलैंड का दौरा करने लगे। 1897 में सुरेन्द्रनाथ ने वेल्बी आयोग के समक्ष साक्ष्य दिया था। वे लगातार चार बार 1894 से बंगाल विधान परिषद् के सदस्य चुने गए। साथ ही उन्होंने 1910 में साम्राज्यीय प्रेस सम्मेलन में भी भारत का प्रतिनिधित्व किया। 1919 का भारत शासन अधिनियम के लागू होने पर वे पुनः बंगाल विधान परिषद् के सदस्य चुने गए और बंगाल सरकार में मंत्री नियुक्त हुए। उनका देहान्त 4 अगस्त, 1925 को हुआ।

2.3.3.भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस में भूमिका

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था। कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बुलाने के लिए सूचना उनके तथा हयूम के नाम से जारी की गई थी। कांग्रेस के प्रारम्भिक वर्षों में सुरेन्द्रनाथ उसके स्तम्भ थे। वे दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए। वे 1895 में पूना तथा 1902 में अहमदाबाद में कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। यद्यपि वे मितवादी गुट (नरम दल) के थे, किन्तु बंग-भंग के मामले में ब्रिटिश नौकरशाही की नीति और कार्य-प्रणाली से उनका धैर्य टूट गया। इसीलिए उस विषय में उन्होंने राष्ट्रवादियों के साथ मिलकर कार्य किया। पूना काँग्रेस महाधिवेशन में अध्यक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एकता, सहिष्णुता और सद्भाव पर बल प्रदान किया। कांग्रेस के अखिल भारतव्यापी स्वरूप पर जोर देते हुए उन्होंने बताया कि भारतीय जीवन का यह एक अभिन्न अंग हो गई है। इस अधिवेशन में भी लगान को निश्चित करने के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव रखा गया और तिलक के समर्थन से इसे पारित कराया गया। तिलक द्वारा प्रान्तों को अधिक अधिकार देने की माँग को राजद्रोह मानकर बन्दी बनाए जाने पर अमरावती कांग्रेस में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि सारा राष्ट्र उनके लिए रो रहा है।

अहमदाबाद कांग्रेस महाधिवेशन, 1902 में अध्यक्ष पद से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि 'हमलोग भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य का चिरस्थायित्व चाहते हैं। ''उन्होंने यह आशा व्यक्त किया कि ब्रिटिश साम्राज्य अपना पुनर्संगठन करेगा और भारतवासियों के साथ न्याय और समता की नीति का अवलंबन किया जाएगा। उनका विश्वास था कि विश्व की जातियों में संवैधानिक स्वतंत्रता के निर्मल आदर्श का विस्तार करने के लिए ईश्वर ने अंग्रेज जाति पर उत्तरदायित्व सौंपा है। इस प्रकार उन्होंने संवैधानिक आंदोलन का नेतृत्व किया। जुलाई 1918 में बम्बई में काँग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उस अवसर पर मितवादी गुट कांग्रेस से पृथक हो गया। उसी वर्ष नवम्बर में उस गुट ने अपना अलग सम्मेलन किया और सुरेन्द्रनाथ को उसका सभापति चुना गया। इंगलैंड की पार्लियामेंट की जिस संयुक्त प्रवर समिति ने 1919 के भारत शासन विधेयक पर विचार विमर्श किया, उसके समक्ष सुरेन्द्रनाथ ने साक्ष्य दिया। फिर इस अधिनियम विधेयक के पास होने पर उसका उन्होंने समर्थन किया।

इस प्रकार वे अन्य उदारवादी नेताओं के समान वैधानिक आंदोलन में विश्वास करते थे। उनको अंगरेजों की न्यायप्रियता, ईमानदारी तथा सच्चाई में बड़ा विश्वास था। वे अंगरेजी सभ्यता और संस्थाओं का हृदय से स्वागत करते थे। उनका कहना था कि अँगरेजी सभ्यता संसार में सबसे उत्तम है। परन्तु, वे ब्रिटिश शासन के भारत-विरोधी कार्यों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने 50 वर्षों तक जनसेवा का कार्य किया। वस्तुतः वे भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत, काँग्रेस के संस्थापक तथा वैधानिक आंदोलन के जन्मदाता थे।

2.3.4. इतिहास दर्शन

सुरेन्द्रनाथ को भारतीय प्राचीन गौरव तथा विज्ञान, कला, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में उसकी शानदार उपलब्धियों के प्रति गहरा अनुराग था। वे बाल्मीकि, व्यास, बुद्ध, शंकर, पाणिनी और पतंजलि के महान योगदान पर गर्व किया करते थे। उनका कथन था कि भारत धर्मों की जन्मभूमि और पूर्व की पवित्र भूमि है। देश के तरूणों के नैतिक पुनरूद्धार का सबसे बड़ा माध्यम यह है कि भारतीय संस्कृति में निहित श्रेष्ठ आदर्शवाद को हृदयंगम किया जाय। भारत का इतिहास हमें आत्म-बलिदान के आदर्श का उपदेश दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि निराशा, उद्विग्नता और उत्पीड़न पर सदैव ईश्वरीय उत्साह की विजय होती आयी है। सुरेन्द्रनाथ लिखते हैं कि ''हमें चाहिए कि अपने पूर्वजों के चरणों में बैठें और प्राचीन भारत के मनस्वियों का सत्संग करें। इन दिनों जब सरकार का दमनचक्र चल रहा है, राजनीतिक जीवन निष्प्राण और गतिहीन हो रहा है और जबकि भविष्य इतना नैराश्यपूर्ण और अन्धकारमय दिखायी दे रहा है, इस प्रकार का सत्संग सचमुच ही बहुत आनन्ददायक होगा। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत के इतिहास में आपको बहुत कुछ पुराना, वर्तमान की दृष्टि से निरर्थक तथा उपहासास्पद प्रतीत होगा और उस पर आपको हँसी आएगी, किन्तु इस प्रकार की अनुभूति से आपको अभिभूत नहीं होना चाहिए। अपने पूर्वजों की उपलब्धियों को श्रद्धापूर्वक समझने का प्रयत्न कीजिए। यदि आप अपने पूर्वजों की-सी बौद्धिक उच्चता प्राप्त नहीं कर सकते तो कम से कम उनकी नैतिक श्रेष्ठता का तो अनुकरण कर ही सकते हैं।..... देश के नैतिक पुनरूत्थान पर ही उसका बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनरूद्धार निर्भर है।''

सुरेन्द्रनाथ का कथन था कि उदासीनता, निर्दयता और असावधानी पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। अतीत के गौरव तथा श्रेष्ठता पर श्रद्धापूर्वक विश्वास और प्रदीप्त तथा प्रबुद्ध भविष्य पर अपनी आशाएँ केन्द्रित करके सक्रिय जीवन बिताना और देशभक्ति के कर्तव्यों का पालन करना ही देश

के युवकों का पवित्र दायित्व है। भारत की महानता का निर्माण केवल नैतिक उत्थान की नींव पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार उन्होंने नागरिक तथा राजनीतिक कर्तव्य को नैतिक जीवन की आवश्यकता माना। वे कहते थे कि यदि भारत को उठना है और सभ्य जातियों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त करना है तो आवश्यक है कि हम माता-पिता के आज्ञाकारी बनें और अपने में आत्म-त्याग, सत्यता, ब्रह्मचर्य, स्वभाव की सौम्यता, वीरता आदि गुणों का विकास करें। इन्हीं गुणों का रामायण तथा महाभारत में चित्रण किया गया है। सुरेन्द्रनाथ नैतिक ऐश्वर्य, सन्तों जैसी पवित्रता, देवदूतों जैसा उत्साह, श्रेष्ठ तथा वीरतापूर्ण सहनशक्ति और गंभीर करूणायुक्त तथा असीम प्रेम आदि उन गुणों का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया करते थे जो भारतवासियों के महान आध्यात्मिक पूर्वज बुद्ध के चरित्र में साक्षात्कृत हुए थे। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी और अरविन्द घोष की भाँति सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी इस बात पर बल दिया कि नैतिक पुनर्जागरण ही हमारी राजनीतिक मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।

2.3.5. मत्सीनी (मैजिनी) का प्रभाव

सुरेन्द्रनाथ जौजफ मत्सीनी (मैजिनी) के जीवन से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्हें उनसे काफी प्रेरणा मिली थी। मत्सीनी का आत्म-बलिदान उसके हृदय की सच्चाई तथा प्रतापवान चरित्र सचमुच ही अत्यधिक प्रेरणादायक हैं। वह आत्म-विश्वास तथा आत्म-निर्भरता को विशेष महत्व देता था। बनर्जी की कामना थी कि उनके देशवासी इटली के उस नेता तथा मुक्तिदाता की श्रेष्ठ तथा उदात्त देशभक्ति, दुःखों और कष्टों को सहने की अपार शक्ति तथा विशाल सहानुभूति आदि गुणों को सीखें और धारण करें। उन्होंने स्वयं मत्सीनी के जीवन से दो महत्वपूर्ण उपदेश ग्रहण किए। प्रथम, नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनरूत्थान ही राजनीतिक उन्नति का आधार बन सकता है। इसलिए सदाचार आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक महान कार्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक होता है कि आत्मा को सदाचार के द्वारा पवित्र किया जाय और देश के लिए दुःखों, कष्टों तथा सन्तापों को धैर्यपूर्वक सहन किया जाय। दूसरे, यह आवश्यक था कि देशवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता की गम्भीर भावना और अनुभूति व्याप्त हो। अतः सुरेन्द्रनाथ के अनुसार बिरादराना एकता की यह मानसिक अनुभूति राष्ट्रीयता की वास्तविक प्रगति की अपरिहार्य शर्त थी। अतः मत्सीनी के राष्ट्रवादी विचारों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया, क्योंकि जॉजफ मत्सीनी ने राष्ट्रीयता को राष्ट्र के 'चरित्र का अनोखापन' बतलाया था।

2.3.6. राजनीतिक विचार

चूँकि सुरेन्द्रनाथ ने इंगलैंड के राजनीति दर्शन की उदारवादी शिक्षा का गंभीर अध्ययन किया था और लंदन में विद्याध्ययन करते समय उन्होंने बर्क, मैकॉले, मिल, स्पेंसर की रचनाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ा था। इसीलिए उनके भाषणों और लेखों में नैतिक आदर्शवाद के दर्शन और उदारवादी व्यक्तिवाद की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। उन्होंने बुद्धि, स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र के आदर्शोंका महत्व भली-भाँति समझ लिया था। वे बर्क के संविधानवाद और रोमांटिकवाद तथा फॉक्स, विट और शैरीडन की वाकपटुता और ओजस्वी वाक्कला की प्रशंसा करते थे। उन्हें बर्क विशेष रूप से पसन्द था और वे उसे 'ईश्वर द्वारा नियुक्त-स्वयं प्रकृति के हाथों रचा हुआ- अनुदारवादी' कहते थे। परन्तु उनका यह भी विश्वास था कि बर्क का अनुदारवाद दर्शन तथा देशभक्ति से प्रेरित था, उसके मूल में कोई स्वार्थ की भावना नहीं थी। बर्क ने ब्रिस्टल के मतदाताओं को अपने पत्र में प्रतिनिधित्व के आदेशात्मक सिद्धांत का जो खण्डन किया था

उससे बनर्जी सहमत थे और इस पत्र को उद्धृत किया करते थे। वे स्वीकार करते थे कि इंगलैण्ड के इतिहास की महान शिक्षा स्वतंत्रता की धारणा थी। सत्तरहवीं शताब्दी की प्यूरिटन क्रान्ति तथा रक्तहीन क्रांति संवैधानिक स्वतंत्रता की स्थापना के मार्ग में महत्वपूर्ण अवस्थाएँ थीं। उस गौरवशाली संविधानवाद के पौधे का भारत में भी प्रतिरोपण करना आवश्यक था। अतः सुरेन्द्रनाथ का मत था कि यदि यह उद्देश्य पूरा हो जाय तो भारतवासियों को सन्तोष होगा और वे ब्रिटेन के कृतज्ञ होंगे।

सुरेन्द्रनाथ को मानव स्वभाव की श्रेष्ठता में विश्वास था। इसके प्रमाण के रूप में वे कहते थे कि बंगाल में शक्ति सम्प्रदाय की घृणित प्रथाओं के विरूध प्रतिक्रिया स्वरूप वैष्णव धर्म का उदय हुआ। वे कहते हैं कि मानव स्वभाव में एक दैवी तत्व विद्यमान है, जब हम पतन की ओर जाने लगते हैं तो वह हमें अपनी चेतावनी भरी पुकार से सहसा रोक देता है। मानव स्वभाव अपनी गरिमा के कारण जिस प्रतिष्ठा के योग्य है उसकी रक्षा करने में वह सदैव सफल होता है। मानव स्वभाव विकृत हो सकता है, अपवित्र और दूषित हो सकता है। किन्तु उसकी दैवी प्रतिभा कभी नष्ट-भ्रष्ट नहीं की जा सकती। जब कोई व्यक्ति कर्तव्य और नैतिकता के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करने लगता है तो उसके स्वभाव की जन्मजात नैतिक प्रवृत्ति और उदात्तता उसके मार्ग में बाधा बनकर खड़ी हो जाती है। सुरेन्द्रनाथ ने स्वीकार किया कि उच्चकोटि का नैतिक आदर्शवाद राजनीति को पवित्र करता है तथा उदात्त बनाता है।

उनकी मान्यता थी कि जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है, इसलिए शासन देशवासियों के प्रेम और भक्ति पर आधारित होना चाहिए। इसके लिए राजनीतिक उत्तरदायित्व में उनकी साझेदारी आवश्यक है। क्योंकि विश्वास से विश्वास और भरोसा उत्पन्न होता है। इसलिए यदि ब्रिटिश शासक भारतवासियों का अविश्वास करते हैं तो इससे उनकी कायरता प्रकट होती है। सावधानी अच्छी चीज है किन्तु ऐसा न हो कि वह विकृत होकर शासित जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं के प्रति सन्देहयुक्त शत्रुता का रूप धारण कर ले। यही कारण है कि उन्होंने लिखा कि धर्म अथवा गहरी नैतिक ईमानदारी पर आधारित राजनीति ही इस देश की सबसे अधिक आवश्यकता है। उच्च नैतिक उद्देश्य से शून्य राजनीति शक्ति के लिए तुच्छ छीना-झपटी का रूप धारण कर लेती है जिसमें मनुष्य जाति को कोई आनन्द नहीं आ सकता। स्वराज आन्दोलन का उदाहरण आपके सामने है।

सिसरो तथा बर्क की भाँति सुरेन्द्रनाथ ने भी इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक शक्ति का आधार नैतिक होना चाहिए। वे मैकियावेली की इस धारणा के आलोचक थे कि राज्य की अपनी बुद्धि होती है और वह आचरण का सर्वाधिक स्वीकार्य मानदण्ड प्रस्तुत करती है। 1895 की पूना कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि मैं नैतिक विचार को अग्रतम स्थान देना चाहता हूँ। जो बात नैतिक दृष्टि से उचित नहीं वह राजनीतिक दृष्टि से भी लाभप्रद नहीं हो सकती। नैतिकता से शून्य राजनीति को किसी भी तरह राजनीति नहीं कहा जा सकता। नैतिक उत्तरदायित्व का स्वरूप बाध्यकारी होता है। वे अपने साथ किए गए अनुचित व्यवहार और अपमान का अनुभव करेंगी, वे अन्याय के सम्बन्ध में सोच-विचार करेंगी तथा कुढ़ती रहेंगी। जैसाकि कार्लाइल ने कहा है कि अन्याय 'चक्रवृद्धि ब्याज के साथ बदला लेने से' कभी नहीं चूकता। अतः भारतीय मितवादियों के राजनीतिक दर्शन का एक मुख्य तत्व यह था कि वे राजनीतिक शक्ति के नैतिक आधार में विश्वास करते थे। वे बल-प्रयोग तथा हिंसा के विरूद्ध थे। उन्होंने बल-प्रयोग की भर्त्सना की, क्योंकि उसे वे एक पापमूलक प्रणाली मानते थे। उनका कथन था कि बल-प्रयोग से जो घाव उत्पन्न तथा गहरे होते हैं उन्हें भरने में अनेक दशक लग जाते हैं। इसलिए उन्होंने भौतिक बल पर आधारित शासन के स्थान पर नैतिक शक्तियों के साम्राज्य का समर्थन किया।

सुरेन्द्रनाथ का कहना था कि लोकमत की उपेक्षा शासकों तथा शासितों के सामान्य कल्याण के लिए घातक होती है। लोकमत सरकार से भी अधिक उच्च न्यायधिकरण है। वह सरकार का ऐसा स्वामी है जिसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसी शक्ति है जो भौतिक शक्तियों के केन्द्रीकृत संगठन से अधिक उच्च, श्रेष्ठ तथा शुद्ध है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई भी व्यवस्था और पार्टी संगठन जब-जब लोकमत की शक्ति के विरूद्ध आचरण किया है तब-तब उन्हें हटाकर नयी व्यवस्था स्थापित की गयी है।

अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में रानाडे तथा फीरोजशाह मेहता की भाँति सुरेन्द्रनाथ का भी विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध ईश्वरीय विधान का फल है। उन्होंने घोषणा किया कि ''मैं ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय मानता हूँ, इतिहास के देवता का एक विधान समझता हूँ।'' वे 1858 की घोषणा को भारत की विजय की पताका और उसके राजनीतिक उद्धार का सन्देश मानते थे। उन्होंने कहा कि भारत में इंगलैंड का जो ध्येय है उसे तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता हैः- (1) उन बुराइयों का उन्मूलन करना जिनसे भारतीय समाज सन्तप्त है। (2) भारतवासियों में ऐसे चरित्र का निर्माण करना जिससे उनमें पुंसत्व, बल तथा आत्मनिर्भरता के गुणों का विकास हो सके। (3) भारत में स्वशासन की कला का सूत्रपात करना। उनका कहना था कि ब्रिटिश साम्राज्य ने पश्चिम के प्रगतिशील राजनीतिक आदर्शों और भारत के प्राचीन आदर्शवाद के बीच सम्पर्क स्थापित कर दिया है। अपने अध्यक्षीय भाषण में अहमदाबाद कांग्रेस में सुरेन्द्रनाथ ने कहा था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का यह ईश्वरीय ध्येय है कि वह हमारे देश के एकीकरण के लिए तथा भारत से ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाने के लिए कार्य करे। हमारा लक्ष्य ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद करना नहीं है। हमारा उद्देश्य है कि जिस ब्रिटिश साम्राज्य ने शेष संसार के समक्ष स्वतंत्र संस्थाओं के आदर्श प्रस्तुत किए हैं उसके साथ हमारा एकीकरण हो, हम उसके अभिन्न अंग के सदृश उसके साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध हों। किन्तु ब्रिटेन तथा भारत के सम्बन्धों को किसी भी प्रकार के सैनिक निरंकुशवाद के आधार पर स्थायी नहीं बनाया जा सकता। स्थायित्व तथा सैनिक निरंकुशवाद के बीच कोई संगति नहीं हो सकती। सैनिक निरंकुशवाद तो अस्थायी लक्ष्यों की प्राप्ति का अस्थायी साधन होता है।

अतः उन्होंने इंगलैंड से अपील किया कि वह भारत में अपने शासन के स्वरूप को धीरे-धीरे परिवर्तित करे, उसको उदार बनाए, उसकी नींव को बदले और उसे देश तथा जनता में जिस नये वातावरण का विकास हुआ है उसके अनुकूल बनाए जिससे समय पूरा होने पर भारत स्वतंत्र राज्यों के महान परिसंघ में अपना यथोचित स्थान प्राप्त कर सके। उनका कथन था कि सभ्यता का प्रसार पूर्व से पश्चिम की ओर हुआ है। पश्चिम को अपना ऋण चुकाना है। वह ऋण केवल नैतिक प्रभाव का प्रसार करके नहीं चुकाया जा सकता, उसको चुकाने के लिए भारतीय जनता को राजनीतिक मताधिकार प्रदान करना आवश्यक है। इंगलैंड की स्वतंत्र संस्थाओं की श्रेष्ठ भावना को भारत की भूमि में भी प्रतिरोपित किया जाय।

भारतीय मितवादियों की तरह सुरेन्द्रनाथ भारत की बढ़ती हुई दरिद्रता के सम्बन्ध में पूर्णतः सचेत थे। वे समझते थे कि इससे राष्ट्रीय जीवन का स्रोत सूख रहा था। इसीलिए पूना कांग्रेस में उन्होंने भारत के भौतिक अधःपतन को रोकने के लिए पाँच-सूत्री कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत कियाः- (1) पुराने उद्योगों का पुनरूद्धार और नये उद्योगों की स्थापना, (2) भूमि-कर निर्धारण में संयम से काम किया जाय और कर एक लम्बी अवधि के लिए निश्चित कर दिया जाय जिससे किसानों को आर्थिक उत्पीड़न से मुक्ति मिल

सके, (3) उन करों में छूट दी जाय जिनसे गरीब जनता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, (4) उपयुक्त राजकीय नियमों के द्वारा देश के धन का निर्गम तथा लूटखसोट बन्द की जाय और (5) खर्चीले विदेशी शासक वर्ग के स्थान पर भारतवासियों की उत्तरोत्तर अधिकाधिक नियुक्ति की जाय।

सुरेन्द्रनाथ का मन तथा हृदय भारत के श्रेष्ठ तथा गौरवमय भविष्य की कल्पना से प्रदीप्त थे। उन्हें प्राचीन भारत के ऋषियों, दार्शनिकों तथा सृजनात्मक विचारों की महान उपलब्धियों पर गर्व था। उनका विश्वास था कि भारत के स्वतंत्र होने पर ही इस मूल्यवान विरासत को मानवता की मुक्ति के लिए विश्व के समक्ष रखा जा सकता है। वे कहते थे कि यह काम बहुत भारी है और इसे पूरा करने के लिए दृढ़ तथा अडिग अध्यवसाय और दीर्घकालिक प्रयत्नों की आवश्यकता है। तभी देश का पुनरूद्धार तथा उन्नयन संभव हो सकता है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक अधिकार राष्ट्र की भौतिक प्रगति में सहायक होते हैं। मताधिकार से वंचित जाति राजनीतिक मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकती। राजनीतिक मताधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार के साथ ही वह मनुष्य की श्रेष्ठ प्रकृति के प्रति श्रद्धा का प्रतीक भी है।

2.3.7. राष्ट्रीय एकता के समर्थक

सुरेन्द्रनाथ भारतीय एकता तथा स्वशासन के उत्साही संदेशवाहक थे। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय एकता ही स्वतंत्रता, आशा तथा भक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने का एकमात्र साधन है। इसके लिए भारतवासियों को ईश्वर को साक्षी मानकर शपथपूर्वक वचन देना है कि वे अपनी सब विभिन्नताओं और भेदों को भुलाकर एक मंच पर एकत्रित होकर और मिलकर कार्य करेंगे। 1911 में उन्होंने एक हिन्दू-मुस्लिम सम्मेलन में भाग लिया, जिसका उद्देश्य था कि भारत के दो बड़े सम्प्रदायों अर्थात् हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच एकता स्थापित की जाय। उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन के प्रारंभ से ही राष्ट्रीय एकता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया। उनका कथन था कि ''मेरी पक्की धारणा और दृढ़ विश्वास है कि हर राष्ट्र की प्रगति के इतिहास में एक ऐसा समय आता है जब उसके हर नागरिक के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसका सचमुच अपना निश्चित ध्येय है जिसको उसे पूरा करना है। भारत के लिए ऐसा समय आ गया है। ..... ईश्वर ने आदेश जारी कर दिया है कि हर भारतीय को अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए अन्यथा वह ईश्वर की दृष्टि में दण्ड का भागी होगा।''

सुरेन्द्रनाथ कहते थे कि भारत की एकता, जिसे प्राप्त करना एक तात्कालिक और अपरिहार्य आवश्यकता है, केवल बौद्धिक आधार पर स्थापित नहीं की जा सकती, उसके लिए उच्च संवेगात्मक नींव की आवश्यकता है। भारत को भी गैरीबाल्डी और मत्सीनी जैसे बलिदानी देशभक्तों की जरूरत है। प्राचीन काल में नानक देव ने भारतीय एकता का उपदेश दिया था। एकता ही देश के पुनरूद्धार का राजमार्ग है।

2.3.8. स्वराज के समर्थक

सुरेन्द्रनाथ का कथन था कि ''राजनीतिक हीनता से नैतिक अधःपतन होता है। दासों का देश कभी पतंजलि, बुद्ध अथवा बाल्मीकि जैसे महापुरूषों को जन्म नहीं दे सकता। हम स्वराज्य इसलिए चाहते हैं कि हम अपनी राजनीतिक हीनता का कलंक धो सकें, विश्व के राष्ट्रों के बीच अपना मस्तक ऊँचा कर सकें और ईश्वर की इच्छा को पूरा कर सकें। हम केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए स्वराज नहीं

चाहते, बल्कि समस्त मानवता के कल्याण के लिए उसकी माँग कर रहे हैं।'' उनका मत था कि स्वराज का आन्दोलन केवल राजनीतिक नहीं है, बल्कि वह एक धार्मिक तथा नैतिक ध्येय है। स्वराज मनुष्य की शक्तियों के विकास और परिष्कार की श्रेष्ठतम पाठशाला है। स्वराज दैवी इच्छा है। साम्राज्यवाद स्वेच्छाचारी शासन को जन्म देता है। किन्तु स्वेच्छाचारी निरंकुशता किसी राष्ट्र के जीवन में केवल अस्थायी हो सकती है। जबकि स्वराज राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आवश्यक आधार है। प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का निर्णायक होना चाहिए। इसीलिए सुरेन्द्रनाथ ने 1916 में उस ''उन्नीस के स्मृति पत्र'' पर हस्ताक्षर किए थे जिसे भारतीय विधान सभा के 19 सदस्यों ने तैयार किया था और जिसमें ऐसी सरकार की माँग की गयी थी जो भारतीय जनता को स्वीकार हो और उसके प्रति उत्तरदायी हो।

2.3.9. स्वदेशी आन्दोलन के समर्थक

राजनीति की जड़ें आर्थिक व्यवस्था में होती हैं, इस बात पर मितवादियों ने सदैव बल दिया था। भारत की विनाशकारी गरीबी का राजनीतिक दशा पर जो कुप्रभाव पड़ रहा था, उसे दादाभाई, रानाडे और सुरेन्द्रनाथ भली-भाँति समझते थे। इसीलिए सुरेन्द्रनाथ का अनुरोध था कि भारतीय उद्योगों का संरक्षण किया जाय और उन्हें उन्नत करने का प्रयत्न किया जाय। उन्होंने कहा था कि किसी जाति की आर्थिक दशा का उसकी राजनीतिक प्रगति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उन्होंने जॉन बाइट के इस मत का उल्लेख किया कि किसी देश की शासन-व्यवस्था तथा उसकी जनता की सामान्य दशा के पीछे उस देश की वित्तीय स्थिति प्रमुख तत्व होती है। यही कारण था कि उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। उनके अनुसार वह केवल राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन नहीं था, अपितु राष्ट्र की शक्तियों को उन्मुक्त करने का एक नैतिक तथा आध्यात्मिक मार्ग था। उन्होंने कहा कि स्वदेशी आन्दोलन दुर्भिक्ष, महामारी तथा दरिद्रता से होनेवाली अन्य विपदाओं से हमारी रक्षा करेगा। यदि आज आप स्वदेशी का व्रत लेते हैं तो समझिए कि आपकी औद्योगिक और राजनीतिक मुक्ति की गहरी और चौड़ी नींव तैयार हो गयी। जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वदेशी बनिए। अपने विचारों, कार्यों, आदर्शों और आकांक्षाओं में भी स्वदेशी अपनाईए। पवित्रता तथा आत्म-बलिदान के पुराने जीवन का पुनर्निर्माण कीजिए। उस प्राचीन युग के आर्यावर्त की पुनः स्थापना कीजिए जब ऋषिगण ईश्वर का गुणानुवाद और मनुष्य का कल्याण करते थे।

सुरेन्द्रनाथ के अनुसार स्वदेशी का अभिप्राय यह नहीं है कि हम विदेशी आदर्शों अथवा विदेशी विद्या, कला और उद्योगों का बहिष्कार करें। उसका तात्पर्य है कि हम उन सब चीजों को अपनी राष्ट्रीय व्यवस्था में आत्मसात् कर लें, उन्हें राष्ट्रीय साँचे में ढ़ाल लें और राष्ट्रीय जीवन में प्रविष्ट कर लें। यही है उनकी स्वदेशी की धारणा। उनका कहना था कि स्वदेशी को राष्ट्र के बहुमुखी कार्य-कलाप का केन्द्र बनाना है। यह एक ऐसा उपाय है जिसमें जनता का तत्काल भारी सहयोग मिल सकता है। इसके मूल में सच्चे देश प्रेम की प्रेरणा है, और घृणा किसी के लिए नहीं है। उनकी आस्था शक्ति प्राप्त करने में थी, जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' में किया है। वे हिंसात्मक कार्यवाहियों की निन्दा करते थे। उन्होंने बंग-भंग विरोधी आन्दोलन में भी सदैव संयम और नियंत्रण से काम लेने की सलाह दी। इस प्रकार उन्हें विकास की प्रक्रिया में विश्वास था। अतः वे अराजकवादी ढ़ंग के क्रांतिकारी विप्लवों के पक्ष में नहीं थे।

2.3.10. योगदान

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एक महान व्यक्ति तथा देश-प्रेमी थे। वे महान शिक्षा-प्रेमी थे। उनकी वक्तृत्व-शक्ति के बारे में सर हेनरी कॉटन ने कहा था कि उनकी वाणी में किसी भी विप्लव को प्रारंभ करने और दबाने की शक्ति थी। उनके शब्दों में, शिक्षित वर्ग ही देश की बुद्धि और वाणी है। अब बंगाली बाबू पेशावर से लेकर चटगाँव तक जनता पर शासन करते हैं और आजकल सुरेन्द्र बनर्जी का नाम मुल्तान और दक्षिण की जनता को समान रूप से उत्साहित करता है। तर्कपूर्ण भाषणों के कारण ही वे भारतीय ग्लैडस्टोन के नाम से विख्यात हैं।

जिस समय देश की आत्मा पददलित हुई उस समय सुरेन्द्रनाथ उसकी पीड़ा के प्रचारक बन के आये। बंग-भंग के समय उन्होंने जो सेवा की, जो कार्य किया, अपने भाषणों के द्वारा राष्ट्रीयता का जैसा प्रचार किया, वह सब भारतवर्ष कभी भूल नहीं सकता, वे गगन के लेखक थे। साथ ही वे बड़े धुरन्धर और धुँआधार वक्ता भी थे। जब वे राजनीतिक नेता के रूप में सक्रिय थे उस समय राष्ट्रीय आंदोलन धीरे-धीरे पनप रहा था। उस दौर में उन्होंने निरन्तर स्वतंत्रता और प्रगति का समर्थन किया। 1878 में उन्होंने बम्बई और मद्रास की यात्रा की। लॉर्ड सेल्सबरी ने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए उम्मीदवारों की उम्र 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी थी। इसके खिलाफ अपनी यात्राओं में सुरेन्द्रनाथ ने लोकमत जाग्रत किया और इस विषय पर, ब्रिटिश संसद में पेश करने के लिए, सारे देश की ओर से एक स्मरण-पत्र भेजा गया और इस कार्य में सफलता भी मिली। परन्तु धीरे-धीरे उनके विचारों में परिवर्तन आने लगा।

पूना काँग्रेस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने रानाडे और फीरोजशाह की भाँति घोषणा किया कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य इतिहास की ईश्वरीय रचना का एक तत्व है। इस प्रसंग में उनका मत था कि 'हमें अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा उदारता में पूर्ण विश्वास है। संसार की महानतम प्रतिनिधि-सभा और कॉमन सभा के स्वतंत्रता-प्रेम में हमारा असीम विश्वास है।' हालाँकि फीरोजशाह ने 1910 के बाद कांग्रेस से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। इसके विपरीत सुरेन्द्रनाथ प्रचण्ड उत्साह तथा भक्ति के साथ राष्ट्र की सेवा करते रहे। ऐतिहासिक लखनऊ कांग्रेस में उन्होंने स्वराज विषयक प्रस्ताव स्वयं प्रस्तुत किया। वे सदैव संवैधानिक प्रणाली के समर्थक रहे। सांविधानिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उन्होंने सदैव गंभीरता, संयम और सत्यनिष्ठा पर बल दिया। हालाँकि 1918 में बम्बई की विशेष कांग्रेस के समय से वे देश की बढ़ती हुई राजनीतिक आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति न दिखा सके। क्योंकि अपने स्वभाव तथा शिक्षा-दीक्षा से वे संविधानवादी थे, न कि क्रांतिकारी।

तथापि उनके जीवन के प्रारंभिक काल में बंग-भंग विरोधी आन्दोलन के दिनों में, विशेषकर वारीसाल सम्मेलन में विदेशी शासकों ने उन्हें दबाने तथा अपमानित करने का भी प्रयत्न किया। किन्तु वे झुकने के लिए तैयार नहीं हुए। वे ब्रिटिश शासन के भारत-विरोधी कार्यों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने आजीवन जनसेवा का कार्य किया। इस प्रकार सुरेन्द्रनाथ भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत, कांग्रेस के संस्थापक तथा वैधानिक आंदोलन के जन्मदाता थे।

2.3.11. मूल्यांकन

अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि उन्होंने वक्ता, पत्रकार, लेखक और सार्वजनिक नेता के रूप में देश की जो सेवा की उसके कारण ही वे आधुनिक बंगाल तथा आधुनिक भारतीय राष्ट्र के निर्माताओं में अग्रगण्य स्थान पाने के अधिकारी हैं। सुरेन्द्रनाथ ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धों के पक्ष में होते हुए भी शासन करनेवाली नौकरशाही के कुचक्रों का भण्डाफोड़ करने से कभी नहीं चूके। उन्होंने लॉर्ड कर्जन द्वारा प्रतिपादित नवीन साम्राज्यवाद के आदर्श की निर्भीकतापूर्वक भर्त्सना की। उन्होंने बंग-भंग का दृढ़ता और आग्रहपूर्वक विरोध किया, इसलिए वे मिस्टर 'सरेंडर नॉट' बनर्जी कहलाए। फिर भी उनमें यह समझने की पर्याप्त बुद्धिमत्ता थी कि भारत में ब्रिटिश शासकों की नीति का विरोध करने तथा ब्रिटिश सभ्यता तथा संस्कृति की राजनीतिक विरासत को स्वीकार करने के बीच कोई असंगति नहीं है। राजनीतिक विचारक के रूप में उन्होंने भारत के लिए स्वराज तथा संवैधानिक प्रणाली का समर्थन किया। उनका आग्रह था कि राजनीति में उच्च नैतिक सिद्धान्तों का ही अनुसरण करना चाहिए। इसलिए उनकी तुलना सिसरो, बर्क और ग्लैडस्टोन से की जाती है।

2.3.12 कठिन शब्दावली

(1) अग्रगण्य - जिनकी गिनती पहले हो।
(2) विप्लव - संकट, आपदा।
(3) संस्थापक - स्थापना करनेवाला।
(4) भर्त्सना - निंदा करना।
(5) निवृत्ति - मुक्त होना।
(6) उद्विग्नता - बैचेनी।
(7) नैराश्यपूर्ण - निराशा से भरा।

2.3.13. अभ्यास प्रश्न

(1) 'भारतीय राष्ट्रीयता का जनक' किन्हें कहा जाता है?
(क) उग्रवादियों को (ख) उदारवादियों को
(ग) क्रांतिकारियों को (घ) सत्याग्रहियों को

(2) इनमें कौन उदारवादी नेता नहीं थे?
(क) दादाभाई नौरोजी (ख) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी
(ग) गोपाल कृष्ण गोखले (घ) बाल गंगाधर तिलक

(3) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का जन्म कब हुआ था?
(क) 1848 में (ख) 1847 में
(ग) 1849 में (घ) 1850 में

(4) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का निधन कब हुआ?
(क) 4 अगस्त 1925 में (ख) 4 अगस्त 1915 में
(ग) 4 अगस्त 1920 में (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(5) सुरेन्द्रनाथ पहली बार कब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने?
(क) 1902 में (ख) 1905 में

(ग) 1892 में (घ) 1895 में

(6) सुरेन्द्रनाथ कब कलकत्ता महापालिका के सदस्य चुने गए?

(क) 1892 में (ख) 1896 में

(ग) 1876 में (घ) 1899 में

(7) सुरेन्द्रनाथ कितने वर्ष तक लगातार कलकत्ता महापालिका के सदस्य रहे?

(क) 7 वर्ष (ख) 12 वर्ष

(ग) 23 वर्ष (घ) 16 वर्ष

उत्तर- (1) ख (2) घ (3) क (4) क (5) घ (6) ग (7) ग

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में क्या योगदान था?
(2) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के स्वदेशी आन्दोलन संबंधी विचार को स्पष्ट करें।
(3) सुरेन्द्रनाथ के स्वराज सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करें।
(4) सुरेन्द्रनाथ का ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध में क्या विचार था? उल्लेख करें।
(5) सुरेन्द्रनाथ के जीवनी पर प्रकाश डालें।
(6) सुरेन्द्रनाथ पर मत्सीनी के प्रभाव का उल्लेख करें।
(7) सुरेन्द्रनाथ के मताधिकार सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः-

(1) सुरेन्द्रनाथ के इतिहास दर्शन की स्पष्ट व्याख्या करें।
(2) सुरेन्द्रनाथ के राजनीतिक विचारों का उल्लेख करें।
(3) भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सुरेन्द्रनाथ के योगदान को स्पष्ट करें।
(4) सुरेन्द्रनाथ के राष्ट्रीय एकता एवं स्वराज सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करें।
(5) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उनकी भूमिका पर निबंध लिखें।
(6) सुरेन्द्रनाथ को 'भारत का बर्क' क्यों कहा जाता है? व्याख्या करें।

2.3.14. संदर्भ ग्रंथसूची

1. वर्मा डा॰ वी॰ पी॰, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा-3, 1983 पृ॰ सं॰ 198-208.
2. मित्तल, डॉ0 ए0के0, आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास (1707 ई0 से 1550 ई0 तक), प्रकाशक- साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, प्रकाशन वर्ष- 2001
3. शर्मा, डॉ0 योगेन्द्र कुमार, भारतीय राजनीतिक विचारक- भाग 1, प्रकाशक- कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2002 ई0
4. तोमर, प्रो0 रघुवीर सिंह, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, प्रकाशक- वैभव लक्ष्मी प्रकाशन, वाराणसी, 2008 ई0
5. पाण्डेय, कृष्णचन्द्र, राजनीतिक विचारक, प्रकाशक- एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली, 1991 ई0

इकाई-4 : महादेव गोविन्द रानाडे

इकाई की रूपरेखा

2.4.1. उद्देश्य
2.4.2. जीवन परिचय
2.4.3. रानाडे का इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या
2.4.4. रानाडे के चिन्तन का दार्शनिक आधार
2.4.5. रानाडे का समाज-सुधार संबंधी विचार
2.4.6. रानाडे द्वारा मराठा इतिहास का विश्लेषण
2.4.7. रानाडे का आर्थिक विचार
2.4.7.1. संस्थापक सम्प्रदाय की मान्यताओं की आलोचना
2.4.7.2. भारतीय दरिद्रता के उत्तरदायी तत्व
2.4.7.3. कृषि अर्थशास्त्र
2.4.7.4. औद्योगीकरण
2.4.8. रानाडे का राजनीतिक चिन्तन
2.4.9. योगदान
2.4.10. मूल्यांकन
2.4.11. कठिन शब्दावली
2.4.12. अभ्यास प्रश्न
2.4.13. संदर्भ ग्रंथ सूची

2.4.1. उद्देश्य

- महादेव गोविन्द रानाडे के जीवन के संबंध में जान सकेंगे।
- रानाडे का इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या समझ सकेंगे।
- रानाडे के चिन्तन का दार्शनिक आधार जान सकेंगे।
- रानाडे के समाज-सुधार संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
- रानाडे के मराठा इतिहास का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सकंेगे।
- रानाडे के आर्थिक विचार को समझ सकेंगे।
- रानाडे के भारतीय दरिद्रता के उत्तरदायी तत्व को जान सकेंगे।
- रानाडे के राजनीतिक चिन्तन को समझ सकेंगे।
- आधुनिक भारतीय सामाजिक राजनीतिक चिन्तन में रानाडे के योगदान को जानेंगे।

2.4.2. जीवन परिचय

आधुनिक महाराष्ट्र ने जो अद्भूत विभूतियों उत्पन्न की हैं उनमें महादेव गोविन्द रानाडे का उच्च स्थान है। उनका जन्म 18 जनवरी, 1842 को नासिक में हुआ था और 16 जनवरी, 1901 को बम्बई में उनका निधन हुआ। रानाडे एक प्रसिद्ध विधिवेत्ता, समाज-सुधारक, शिक्षाविद के साथ-साथ अच्छे अर्थशास्त्री एवं इतिहासकार भी थे, बीस वर्ष की आयु में रानाडे 'इन्दप्रकाश' नामक आंग्ल-मराठी साप्ताहिक के सम्पादक नियुक्त किए गए, इसके बाद 1868 में उनकी प्रतिमा के कारण उन्हें एलफिंस्टन कॉलेज मंे अंग्रजी तथा इतिहास के प्रोफेसर नियुक्त किए गए। फिर बम्बई सरकार ने उन्हें न्यायाधीश बना दिया, उन्हीं के प्रेरणास्वरूप 1884 में डेकन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना हुई। 1885 में रानाडे को बम्बई विधान परिषद का एक अतिरिक्त सदस्य नियुक्त किया गया। फिर उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रिक्त पद पर उनको पदोन्नत करके नियुक्त कर दिया गया।

इसके अतिरिक्त पूना सार्वजनिक समा को उन्होंने 25 वर्ष तक निर्देशन तथा प्रेरणा प्रदान करते रहे। अपनी प्रचण्ड मेधाशक्ति के कारण वे 'महाराष्ट्र के सुकरात' कहलाते थे। रानाडे उन महान व्यक्तियों में थे जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्देशन तथा पथ प्रदर्शन किया करते थे, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बम्बई में आयोजित प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित बहत्तर सदस्यों में रानाडे भी एक थे, यहाँ तक कि ए0 ओ0 ह्यूम भी उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। निश्चय ही रानाडे का जीवन चरित्र एवं कृतित्त्व सराहनीय है। उन्होंने कई रचनाओं के साथ-साथ तिमाही सार्वजनिक सभा नामक पत्रिका प्रारंभ किया और अगले सत्तरह वर्षों तक उसके लगभग दो-तिहाई लेख स्वयं लिखे। उन्होंने अपनी 'राइज ऑफ द मराठा पावर' नामक अपूर्ण पुस्तक में मराठा इतिहास की प्रकृति तथा सामाजिक-आर्थिक राज्यतंत्र पर अपने विचार व्यक्त किए हैं।

2.4.3. रानाडे का इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या

रानाडे इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या में विश्वास करते थे। तुकाराम, तुलसीदास, अगस्ताइन और ग्रीगरी प्रथम की तरह उनको भी ईश्वर के व्यापक अस्तित्व तथा असीम अनुकम्पा में पूर्ण आस्था थी। उनकी दृष्टि में इतिहास के गम्भीरतम आन्दोलन ईश्वरीय योजना तथा उद्देश्य की अभिव्यक्ति होते हैं। रानाडे के सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन में अनेक धाराओं का मिश्रण था। रानाडे की धारणा समाज की प्रकृति के संबंध में अवयवी थी। उनका स्वतंत्रता विषयक सिद्धांत बड़ा ही व्यापक था। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक समानता तथा स्त्रियों की पराधीनता के उन्मूलन का समर्थन किया। उनका विश्वास था कि मनुष्य शेष जीवन से पृथक होकर राजनीतिक स्वतंत्रता का आनन्द नहीं ले सकता है। यही कारण है कि रानाडे ने समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति आदि क्षेत्रों में पुनर्जागरण का समर्थन किया।

भारतीय उदारवादी दर्शन का रानाडे को आध्यात्मिक जनक कहा जाता है। वे स्मिथ और रिकार्डो के उदारवादी पद्धति सम्बन्धी मान्यताओं तथा निष्कर्षों में संशोधन पर जोर देते थे। वे माल्थस और जेम्स मिल के अर्थशास्त्रीय सिद्धांत की अपेक्षा फ्रीड्रिख लिस्ट के विचारों से अधिक समानता रखते थे। महाराष्ट्र के इतिहास की सामाजिक और धार्मिक व्याख्या पर उनके विचारों की गहरी छाप देखने को मिलती है। उनका विश्वास था कि अतीत में मराठा राष्ट्र को इन्हीं सामाजिक तथा धार्मिक तत्वों से प्राण-शक्ति मिली थी, जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी अपूर्ण पुस्तक में किया है। इस प्रकार रानाडे मराठा इतिहास के सन्त अगस्ताइन और टॉइनबी हो सकते थे।

2.4.4. रानाडे के चिन्तन का दार्शनिक आधार

रानाडे आस्तिक थे और ईश्वर की अनुकम्पा में उनकी गंभीर आस्था थी। उनका कथन था कि अन्तःकरण के नैतिक नियम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। लोगों को ईश्वर की अनुभूति तथा दर्शन हुआ करता है, इससे भी ईश्वर की सत्ता तथा अनुकम्पा प्रमाणित होती है। रानाडे ने अपने पत्रिका 'सार्वजनिक सभा' में लिखा था कि ''आज सभ्य मनुष्य जो कुछ है वह इसलिए है कि उसे एक पूर्ण पुरुष के नैतिक शासन तथा आत्मा के अमरत्व में विश्वास रहा है, और थोड़े से महान विचारकों की स्थिति कुछ भी हो, बहुसंख्यक मनुष्यों का उधार इस विश्वास के द्वारा ही हो सकता है।''

रानाडे धार्मिक व्यक्ति थे और उनकी धार्मिकता बड़ी गंभीर थी। उनको धर्मग्रन्थों की शिक्षाओं में भी आस्था थी। वे व्यक्ति और समाज दोनों के लिए धर्म के महत्व को स्वीकार करते थे। उन्होंने लिखा है कि ''सब कालों और देशों में देवदूत की दृष्टि, कवि की प्रेरणा, महान धर्मोपदेशक की वाक्पटुता, दार्शनिक की प्रज्ञा अथवा बलिदानी का आत्मोत्सर्ग लेकर जो वरद आत्माएँ जन्म लेती हैं उनकी दृष्टि, उनकी प्रेरणा, उनकी वाक्पटुता, उनकी प्रज्ञा और उनका शूख्त वास्तव में दैवी होते हैं, ईश्वर का विशेष प्रसाद होता है। और ये वरद विभूतियाँ जो कुछ देखतीं, जो कुछ अनुभव करतीं और उपदेश देतीं हैं, वह सब एक विशेष प्रकार का उच्चतर और सच्चा दैवी प्रकाश, ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम है। इलहाम शब्द का यही सही अर्थ है। पुस्तकों में जस ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम का उल्लेख मिलता है, यह चिन्तन मात्र है। चूँकि वह स्वभाव से ही अस्थायी तथा स्थानीय होता है इसलिए उनका मूल्य भी सापेक्ष तथा अस्थायी होता है।''

रानाडे महाराष्ट्र के सन्तों तथा ईसाई लेखकों के आस्तिक विचारों से प्रभावित थे। रानाडे का केशवचन्द्र से सम्पर्क था, जिसके फलस्वरूप उनके द्वारा स्थापित प्रार्थना समाज के सदस्य रानाडे भी बन गये। उन्होंने स्वीकार किया कि ईश्वर की भक्ति तथा अन्तःकरण के शुद्धीकरण से चरित्र का ठोस नींव का निर्माण होता है। उनका विश्वास था कि अन्तःकरण के आदेशानुसार आचरण करने से मानव हृदय पवित्र होता है। उनके मतानुसार भारत का राष्ट्रीय मानस वास्तिकता से सन्तुष्ट नहीं हो सकता क्योंकि इस देश में बौद्ध धर्म स्थायी प्रभाव नहीं जमा सका, यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। चूँकि ईश्वर के सर्वशक्तिमान रूप में उनका विश्वास था, इसलिए शक्ति कार्य करती है। अतः इतिहास ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति है। अन्य दार्शनिक की तरह रानाडे को बाह्य प्रकृति के क्रियाकलाप में भी ईश्वरीय सत्ता का प्रमाण दिखायी दिया। उनका दृष्टिकोण अति अद्वैतवादी वेदान्तियों से भिन्न था क्योंकि वे मानव आत्मा और पर ब्रह्म को एक नहीं मानते थे। इसके विपरीत वे मानव आत्मा को कुछ अंशों में स्वाधीन तथा स्वतंत्र इच्छा से युक्त मानते हैं। महाराष्ट्र के संतों तथा तुलसीदास की तरह उन्हें भी विश्वास था कि प्रार्थना में नवजीवन स्फूर्ति प्रदान करने की शक्ति होती है।

रानाडे पर भक्ति आन्दोलन का प्रभाव था। उनका हृदय भक्ति से ओतप्रोत था। वे उदारता तथा मानव प्रेम के साक्षात अवतार थे। वे तुकाराम की कविता से द्रवित होकर उनके अमंग का प्रायः गाकर पाठ किया करते थे। उनके अनुसार धर्म आन्तरिक अन्तः प्राज्ञात्मक अनुभूति तथा ध्यान की वस्तु है। उन्हें इस धारणा में विश्वास था कि ईश्वर एक करूणामय शक्ति है। भारतीय धार्मिक विचारधाराओं को समझने में उन्हें भागवत धर्म से प्रेरणा मिली थी। उन्होंने लिखा है कि ईश्वर के मुख्यतः उज्ज्वल पक्ष का प्रेमपूर्वक ध्यान तथा चिन्तन करना हमारे राष्ट्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। ईसाई देशों में सम्पूर्ण प्रेम ईसामसीह

के जीवन और मृत्यु के चारों ओर केन्द्रित है, किन्तु इस देश में आराधक प्रतिदिन अपने हृदय में ईश्वर की विद्यमानता का अनुभव करता है और अपनी अनुभूति पर अपना सम्पूर्ण प्रेम मुक्तभाव से उँड़ेल देता है।

परन्तु निष्ठावान आस्तिक होते हुए भी रानाडे ने अवतारवाद को, जो भागवत धर्म की प्रमुख धारणा है, स्वीकार नहीं किया। वे मोक्ष यानी परमानन्द और ईश्वर-साहचर्य के आदर्श को मानते थे। उनके मतानुसार ईश्वर में पूर्णतः लय हो जाना मोक्ष नहीं है। इन्द्रियों की वासनाओं तथा मानसिक विकारों से ऊपर उठकर ईश्वर के सान्निध्य में रहना ही मोक्ष है। वस्तुतः आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति ही मोक्ष का सार है। श्रद्धा, भक्ति, प्रार्थना, ईश्वर तथा उसकी अनुकम्पा में विश्वास और मानव जाति के प्रति प्रेम मोक्ष के मार्ग हें। इस प्रकार रानाडे ने आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पूर्णता को ही मोक्ष माना है।

2.4.5. रानाडे का समाज-सुधार संबंधी विचार

रानाडे की देशभक्ति क्रान्तिकारी थी, क्योंकि वे पुरानी धार्मिक विकृतियों और सामाजिक परिपाटियों के हानिकारक प्रभाव को समझते थे और उनके विरूद्ध उन्होंने निर्भीकतापूर्वक युद्ध की घोषणा कर दी थी। उनका विश्वास था कि अंग्रेजों की शक्ति एक उच्चतर कोटि की सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है, उसे तब तक नहीं हिलाया जा सकता जबतक भारत के लोग प्रगतिशील विचार से आन्दोलित नहीं हो उठते। इसीलिए रानाडे समाज-सुधार के समर्थक थे। वे विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे। 1866 में स्थापित विधवा-विवाह संघ के वे सदस्य थे। वे मानते थे कि राजनीतिक मुक्ति के लिए भी सामाजिक प्रगति आवश्यक है। दयानन्द सरस्वती के पूना आने पर उन्होंने उनको हार्दिक सहयोग दिया, क्योंकि वे भी धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के कट्टर समर्थक थे। स्वभाव से विद्या-प्रेमी और संगत दृष्टिकोण वाले रानाडे न्यायाधीश के पद पर रहते हुए मामलों के निपटारा के लिए अन्त तक संघर्ष करना पसंद नहीं करते थे। वे समाज-सुधार चाहते थे, परन्तु उसके लिए विद्रोह करने अथवा बलिदानी बनने के समर्थक नहीं थे। रानाडे ने 'सामाजिक सम्मेलन आन्दोल' की नींव डाली थी। कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ ही सामाजिक सम्मेलन करने की योजना प्रारम्भ की थी। उनके प्रयास से प्रथम सामाजिक सम्मेलन 1887 में मद्रास में हुआ।

रानाडे का विचार था कि राजनीति तथा समाज-सुधार को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। स्त्रियों पर विवेकहीन अत्याचार तथा दमनकारी रूढ़ियों को थोपकर भारतीय समाज विदेशियों की घृणा का पात्र बना हुआ था। ऐसी स्थिति में यदि सामाजिक कार्यकलाप के द्वारा राष्ट्र को शक्ति प्रदान की जाती तो इसका असर अन्यत्र पड़ना निश्चित था। इसलिए राजनीतिक अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की प्राप्ति के लिए बुद्धि और न्याय पर आधारित समाज-व्यवस्था की आवश्यकता थी, अतः रानाडे ने राष्ट्र को उसकी कुछ कुप्रथाओं से मुक्त करने के लिए तत्काल ही समाज-सुधार पर जोर देना आवश्यक समझा, उनका मत था कि स्त्री-समाज के कुरीतियों को दूर करने एवं उन्हें सम्मान देने से ही देश को राजनीतिक क्षेत्र में भी बल मिलेगा, इस प्रकार रानाडे भी हेगेल, काम्ते तथा स्पेंगलर की भांति समाज को एक जटिल अवयवी मानते थे।

रानाडे का कथन था कि चाहे राजनीतिक का क्षेत्र हो और चाहे विज्ञान, कला, युद्ध अथवा शान्ति-प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से अपनी शक्तियों का विकास करना है तभी वह मार्ग में आने वाली कठिनाईयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की यह पारस्परिक निर्भरता एक आकस्मिक घटना नहीं बल्कि प्रकृति का नियम है। समाज शरीर के समान है।

यदि आपके शरीर के आन्तरिक अवयवों में गड़बड़ी है तो शरीर स्वस्थ और बलिष्ठ नहीं हो सकते। इसलिए रानाडे का मत था कि समाज-व्यवस्था विवेक तथा न्याय पर आधारित होना चाहिए। तभी तो एम0एन0 राय स्वीकार करते है कि रानाडे उदीयमान नैतिक तथा सामाजिक शक्तियों के प्रतिनिधि थे।

रानाडे के अनुसार समाज-सुधार राष्ट्रीय चरित्र की दृढ़ता और शुद्धीकरण का एक साधन था। इसीलिए उन्होंने सामाजिक विकास के परिवर्धन को महत्व दिया। उन्होंने बन्धन, सहज विश्वास की प्रकृति, सत्ता, विचारों की कट्टरता तथा भाग्यवाद के स्थान पर स्वतंत्रता, आस्था, बुद्धि, सहिष्णुता तथा मानव गरिमा की भावना को प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया। इतिहास के जानकार होने के नाते उन्हें अनुभव था कि अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन धर्म परिवर्तन अथवा क्रान्ति के द्वारा नहीं, बल्कि नये विचारों तथा आदर्शों को धीरे-धीरे ग्रहणकर और आत्मसात कर ही लाया जा सकता है। समाज की प्रकृति अवयवी है, और सामाजिक सम्बन्धों का रूप साझेदारी की भावना से पूर्ण होना चाहिए। इस प्रकार रानाडे सामाजिक विकास तथा सुधार के संबंध में अवयवी और इतिहासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे। वे हिन्दू समाज के पाँच आधारभूत दोषों का उन्मूलन करना चाहते थे। , जो निम्न हैं-

(1) बाह्य जगत से सम्पर्क न रखने की प्रवृत्ति,
(2) अन्तःकरण की पुकार न सुनने और बाह्य सत्ता के समक्ष समर्पण करने की प्रवृत्ति,
(3) सामाजिक अधीनता, सामाजिक दूरी और जातीय अहंकार को बनाए रखना,
(4) बुराइयों को स्थायी रूप से बनाए रखने के प्रयत्नों को निष्क्रिय भाव से सहन कर लेना,
(5) जीवन के लौकिक क्षेत्रों में श्रेष्ठता प्राप्त करने की अनिच्छा

उन्होंने माना कि देश की दुर्बलता तथा अधोगति के मूल में सामाजिक कारण ही मुख्य थे। वे मिल की भांति स्त्रियों की पराधीनता तथा उससे उत्पन्न सामाजिक दुर्बलताओं के विरूद्ध थे। उनके अनुसार सामाजिक उद्धार का राजनीतिक मुक्तीकरण से अवयवी सम्बन्ध था। यह बुराई इस सीमा तक पहुँच गयी है कि मनुष्य मानवता के प्रति स्वाभाविक सम्मान की भावना से वंचित हो गया है, इसलिए वे घिसी-पिटी परिपाटियों से चिपके रहने के लिए तैयार नहीं थे। अतः वे जाति-व्यवस्था की जटिलता को तोड़ देना चाहते थे। साथ ही विधवा-विवाह तथा बालकों के लिए विवाह की आयु को बढ़ाने के पक्ष में थे। सामाजिक अधोगति को रोकने के लिए उन्होंने सामाजिक मामलों में बुद्धि के प्रयोग पर बल दिया, सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिए साहसपूर्ण प्रयत्न तथा संकल्पयुक्त सहनशीलता की आवश्यकता थी और साथ ही समाज-सुधार करने वाले के चरित्र में सुधार आवश्यक था।

रानाडे सामाजिक परिवर्तन के लिए धार्मिक ग्रन्थो ं की अनुशास्ति के नाम पर अपील करने के अतिरिक्त यह भी चाहते थे कि लोगों को प्रेरित किया जाय कि वे बाल-विवाह और मद्यपान का परित्याग करने तथा विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने के संबंध में प्रतिज्ञा करें और शपथ लें। यदि तब भी आवश्यक परिणाम न निकले तो राज्य के बाध्यकारी आदेशपूर्ण कानून का भी सहारा लिया जा सकता है। इस प्रकार वे चाहते थे कि समाज-सुधारकों को सावधानी और संयम से काम लेना चाहिए और अतीत का भी यथोचित सम्मान करना चाहिए। क्योंकि समाज-सुधार की समस्याओं के सम्बन्ध में प्रबुद्ध विवेक से काम लेना आवश्यक था।

2.4.6. रानाडे द्वारा मराठा इतिहास का विश्लेषण

भारतीय इतिहास का गंभीर अध्ययन करने के कारण रानाडे उसके अच्छे जानकार थे। उनका कहना था कि भारत का इतिहास केवल असम्बद्ध घटनाओं का विवरण मात्र नहीं है, बल्कि उसमें गंभीर नैतिक सन्देश भी निहित है। इसीलिए उन्होंने भारतीय इतिहास में मराठों की भूमिका की व्याख्या नये ढंग से किया है। 1900 ई0 में उन्होंने अपने महत्वपूर्ण गं्रन्थ 'राइज ऑफ द मराठा पावर' को प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने मराठा इतिहास के आध्यात्मिक तथा नैतिक आधारों का वर्णन किया। जिसमें उन्होंने गंभीर बुद्धिमत्ता तथा महाराष्ट्र के प्रति उचित देशभक्ति का परिचय दिया। उन्होंने इस मत का भी खण्डन किया कि मराठों का उत्कर्ष सैनिक तथा राजनीतिक ढंग का आकस्मिक तथा अस्थायी विस्फोट था। शिवाजी के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। उनके आदर्श चरित्र के कारण वे उन्हें एक साम्राज्य-निर्माता तथा उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ मानते थे। रानाडे के अनुसार शिवाजी उन सभी विद्यमान राजनीतिक, सामाजिक तथा लोकतांत्रिक शक्तियों को, जिनकी पहले उत्पत्ति हो चुकी थी, सामूहिक कार्य के लिए एक सूत्र में बांधा, शिवाजी महान संगठनकत्र्ता थे जिन्होंने उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही निर्माण कार्य किया था। शिवाजी का नैतिक चरित्र उच्च कोटि का था और वे महान विजेता थे। उनका विश्वास था कि मराठों को एकता तथा सुदृढ़ता प्रदान करने के कार्य में एक उच्च दैवी शक्ति उनका पथ-प्रदर्शन कर रही थी। वे महान देशभक्त थे और उनकी न्याय की भावना अत्यन्त तीव्र थी। उनका व्यक्तिगत जीवन उच्च कोटि के आदर्शवाद से प्रभावित था और उनकी नैतिक तथा अध्यात्मिक आस्थाएँ अत्यन्त गंभीर थीं। उनमें किसी भी परिस्थिति को समझने की अद्भूत क्षमता थी और उनमें चमत्कारी नेता के गुण विद्यमान थे।

रानाडे ने मराठा इतिहास की मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण किया। उन्होंने इस प्रचलित मत का खण्डन किया कि अंग्रेजों ने भारत की सत्ता मुसलमानों के हाथों से छीनी थी। मुस्लिम शकित का ह^{a}ास सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में ही हो चुका था। यद्यपि मराठों की शक्ति का उदय पश्चिमी महाराष्ट्र में हुआ, लेकिन कालान्तर में भारत का अधिकांश उनके नियंत्रण में आ गया। मराठों ने लगभग आधी शताब्दी तक दिल्ली में मुगल सम्राटों को अपनी ईच्छानुसार बनाया और बिगाड़ा। रानाडे का विचार था कि महाराष्ट्र का पुनर्जागरण वास्तविक राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में एक प्रारम्भिक प्रयोग था क्योंकि वह उस संपूर्ण जनता का विप्लव था जो धर्म, भाषा नस्ल तथा साहित्य के सामान्य सम्बन्धों के बन्धनों में बँधी हुई थी। वह कोई अभिजात वर्ग अथवा पूंजीपति वर्ग के आन्दोलन नहीं था। बल्कि ग्रामीण जनसमुदाय का उसे विशाल एवं ठोस समर्थन प्राप्त था। वास्तव में मराठों का इतिहास सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण का इतिहास है। हालांकि मराठों की नीति कोई ठोस राजनीतिक एकता को जन्म न दे सकी, तथापि निःसंदेह उसका रूप राष्ट्रीयता था। भारत में विदेशी मुस्लिम था। वह देश के राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया मंे एक महान घटना थी। परन्तु एम0एन0 राय ने मराठों के उत्कर्ष की माक्र्सवादी व्याख्या करते हुए कहा है कि ''मराठों की शक्ति देशी सामन्तवाद की प्रतीक थी। अपनी सामंती परम्पराओं के कारण मराठा राज्यतंत्र भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने मंे असफल रहा और उसने विकृत होकर मध्ययुगीन सैनिक साम्राज्यवाद का रूप ले लिया।''

हालांकि मराठों की शक्ति का उदय मात्र एक राजनीतिक घटना नहीं थी, बल्कि पूर्व से भी रहा था। उसने नागरिक अधिकारों की आकांक्षाओं को तीव्र किया जिसके परिणामस्वरूप कला, साहित्य, राजनीतिक तथा धर्म के क्षेत्रों में सर्जनात्मक शक्तियाँ फूट पड़ी। यह सांस्कृतिक उथल-पुथल तथा

पुनर्निर्माण परम्परागत ब्राह्मणवाद का पुनरूत्थान नहीं था, बल्कि उसकी अपनी तीन महत्वपूर्ण विशेषताएँ थीं, प्रथम, उसका स्वरूप अंशतः परम्परा-विरोधी था जिसका नेतृत्व ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, जयराम स्वामी और वामन पण्डित जैसे महान धार्मिक नेताओं ने किया। शिवाजी के प्रसिद्ध गुरु रामदास ने राष्ट्रीय ध्वज का रंग निर्धारित किया और अभिवादन की एक नयी प्रणाली आरम्भ की। दूसरा, इस आंदोलन का रूप अन्य आन्दोलनों की भांति पाण्डित्यपंथी और तात्विक नहीं था, बल्क् ि्उसका रूप कुछ आन्दोलनों के सदृश श्रधामूलक तथा भक्तिमार्गी था। महाराष्ट्र के संत एकेश्वरवादी थे। वे मूर्तिमंजक नहीं थे, तीसरे, इस आन्दोलन ने अंशतः सामाजिक तथा नागरिक स्वतंत्रता का समर्थन किया और आत्म-निर्भरता तथा सहिष्णुता का उपदेश दिया। इसीलिए सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में महाराष्ट्र के संतों और देवदूतों के योगदान को रानाडे बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उनका कहना था कि उन्होंने हमें देश की लोकभाषा में बहुमूल्य साहित्य प्रदान किया। उन्होंने जातीय पृथकत्व की पुरानी भावना की कठोरता को कम करने में योग दिया। उन्होंने शूद्रों को उठाकर आध्यात्मिक शक्ति तथा सामाजिक महत्व की स्थिति पर प्रतिष्ठित किया और लगभग ब्राह्मणों के समकक्ष स्थान प्रदान किया। साथ ही उन्होंने पारिवारिक सम्बन्धों को पवित्रता प्रदान किया और स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाया, उन्होंने राष्ट्र को अधिक दयालु बनाया और पारस्परिक सहिष्णुता के आधार पर एक सूत्र में बंधने के लिए उत्तेजित किया। उन्होंने मुसलमानों के साथ मेल-मिलाप की योजना बताकर उसे अंशतः कार्यान्वित भी किया। उन्होंने बहुदेववाद की अति को कम किया और प्रेम तथा श्रद्धा के द्वारा आराधाना को श्रेष्ठ ठहराया।

इन सब तरीकों से उन्होंने राष्ट्र का चिन्तन तथा कर्म की समता के स्तर को सामान्य तौर पर ऊँचा उठाया और उसे विदेशी आधिपत्य के स्थान पर संयुक्त देशी शक्ति की पुनः स्थापना हेतु नेतृत्व करने के लिए तैयार किया। इस प्रकार महाराष्ट्र के धर्म की ये मुख्य विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। रानाडे के अनुसार महाराष्ट्र के सन्तों और आचार्यों का प्रभाव वैसा ही था जैसा कि पाश्चात्य इतिहास पर यूरोपीय धर्म सुधारवादी नेताओं का पड़ा था। महाराष्ट्र के सन्तों ने भी स्वेच्छाचारी पुरोहित वर्ग के विरूद्ध विद्रोह किया और मानव प्राणी की सर्वोच्चता का शंरवनाद किया। वस्तुतः उन्होंने एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दिया जो स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन बन गया।

2.4.7. रानाडे का आर्थिक विचार

रानाडे ने भारतीय अर्थतंत्र पर अपना भाषण डेकन कॉलेज, पूना में 1892 में दिया। भारतीय आर्थिक सिद्धान्त के इतिहास में यह बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता है। रानाडे पर जर्मन अर्थशास्त्री, एडम मुलर के रोमांटिक विचारों तथा फ्रीड्रिख लिस्ट के संरक्षणवादी विचारों, का विशेष प्रभाव था। जर्मन अर्थशास्त्रियों की भांति रानाडे ने भी आर्थिक समस्याओं को सामाजिक परिस्थितियों के प्रसंग में समझने का प्रयत्न किया। वे जर्मन विद्वानों की सामाजिक-आर्थिक शास्त्र की धारणा से सहमत थे और ब्रिटिश संस्थापक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों के निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रसन्न नहीं थे। इस प्रकार रानाडे का आर्थिक विचार निम्नांकित है-

2.4.7.1. संस्थापक सम्प्रदाय की मान्यताओं की आलोचना

रानाडे ने इस धारणा के विरोधी थे कि अर्थशास्त्र के नियम अपरिवर्तनशील होते हैं। इसके विपरीत उन्होंने अर्थशास्त्र की समस्याओं के सम्बन्ध में गतिशील, आगमनात्मक तथा सापेक्ष पद्धति का

समर्थन किया। उन्हें स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो आदि अर्थशास्त्री के आर्थिक चिन्तन का अच्छा ज्ञान था। रानाडे का विचार था कि उनके समग्र विचारों को भारतीय परिस्थितियों में लागू नहीं किया जा सकता है। हालांकि उस समय भारतीय अर्थतन्त्र उसी दौर से गुजर रहा था जिससे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में ब्रिटेन के अर्थतंत्र को गुजरना पड़ा था, तथापि दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर था। एक ओर स्मिथ, रिकार्डो और मिल की पद्धति काल्पनिक और उद्गमनात्मक थी। वह पर्याप्त रूप में ऐतिहासिक तथा वस्तुगत नहीं थी। जबकि दूसरी ओर ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का संस्थापक सम्प्रदाय आर्थिक मानव की परिकल्पनात्मक धारणा पर आधारित है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य के अभिप्रेरण तथा कार्य स्वार्थ तथा प्रतिस्पर्धा से संचालित होते हैं। संस्थापक सम्प्रदाय बाजार में पूंजीपतियों तथा श्रमिकों की स्वतंत्रता का समर्थक था। उसका कहना था कि पूँजी तथा श्रम दोनों ही जहाँ अधिक लाभ की आशा हो वहाँ जा सकते हैं। इसी प्रकार माँग और पूर्ति के बीच स्वाभाविक रूप से पारस्परिक सामंजन होता रहता है। इसीलिए संस्थापक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रीय राजकीय हस्तक्षेप के विरूद्ध थे और उसे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का अनुचित अतिक्रमण मानते हैं।

रानाडे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में संस्थापक सम्प्रदाय की पद्धति तथा सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में वे समाजशास्त्रीय पद्धति को अधिक उपयुक्त मानते थे। उनका कथन था कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है, इसलिए उसका अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति से किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त जहाँ संस्थापक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने सिर्फ 'आर्थिक मानव' के आर्थिक हितों को सर्वोपरि माना था, वहीं इसके विपरीत रानाडे ने सार्वजनिक कल्याण को प्रधानता दिया। अर्थतंत्र की प्रक्रिया सतत विकास करती रहती है, इसलिए यदि संस्थापक सम्प्रदाय की प्रस्थापनाएँ कुछ अंशों में समाज के स्थिर पहलूओं पर लागू होने के बावजूद वे अर्थतन्त्र के गतिशील पहलुओं की प्रवृत्तियों को प्रकट करने में असमर्थ थीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारे जैसे समाजों के विषय में वह बिल्कुल निरर्थक है क्योंकि हमारे समाज में व्यक्तिगत मनुष्य आर्थिक मानव से बिल्कुल उलटा है। समाज में व्यक्ति की स्थिति निर्धारित करने में स्वयं उसकी अपेक्षा परिवार तथा जाति अधिक शक्तिशाली होते हैं। धन का अर्जन ही एकमात्र आदर्श नहीं है। लोगों में न तो मुक्त तथा असीम प्रतिस्पर्धा की इच्छा है और न उसके लिए स्वाभाविक क्षमता। इसीलिए रानाडे के ब्रिटिश संस्थापित अर्थशास्त्र की पद्धति तथा तात्विक निष्कर्षों को सिर्फ चुनौती ही नहीं दिया, बल्कि उसके सिद्धान्त को भारत में लागू किए जाने के योग्य ही नहीं माना।

रानाडे भारत की आर्थिक बीमारियों का उन्मूलन करने के लिए भावात्मक उपायों को अपनाने का समर्थन किया। उन्होंने अनुरोध किया कि अपेक्षित आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार को आवश्यक कार्यवाही करनी चाहिए। उनका मत था कि किसी समाज के संस्थागत तथा ऐतिहासिक आदर्श और उसके सदस्यों के जीवनोद्देश्य एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। वे देश में विविधतापूर्ण अर्थव्यवस्था का विकास चाहते थे। रानाडे का यह भी मत था कि विदेशियों को भारत में अपनी पूँजी लगाने के लिए प्रेरित किया जाय। देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाने के लिए देशी तथा विदेशी दोनों ही प्रकार के पूँजीपतियों को प्रोत्साहन दिया जाय। वे इसके भी पक्षधर थे कि बाहर के लोग आकर देश में बसें और देश के लोग बाहर जाकर अपने उपनिवेश बसाएँ। उनके अनुसार इससे आर्थिक तथा नैतिक दोनों ही प्रकार का कल्याण होगा। वे चाहते थे कि सरकार औद्योगिक विकास के लिए साहसपूर्ण नीति प्रारम्भ करे। रानाडे ने उग्र व्यक्तिवाद के मार्ग का विरोध किया और कहा कि राज्य को सम्पत्ति के

पुनर्वितरण का कार्य भी करना चाहिए। उन्होंने सरकार की भूराजस्व संबंधी नीति मंे परिवर्तन लाने का भी समर्थन किया। वे पूंजीवादी आधार पर देश का विकास चाहते थे।

2.4.7.2. भारतीय दरिद्रता के उत्तरदायी तत्व

रानाडे भारत की भयंकर तथा घोर दरिद्रता से परिचित थे जिसपर उन्होंने गहन चिन्तन किया। वे दादाभाई नौरोजी के प्रसिद्ध निर्गम सिद्धान्त से परिचित थे किन्तु उससे सहमत नहीं थे। इसीलिए 1890 में पूना में हुए प्रथम औद्योगिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि ''कुछ लोग सोचते हैं कि जबतक हम इंगलैण्ड को भारी कर देते रहेंगे जिसमें हमारे अतिरिक्त निर्यात का लगभग बीस करोड़ चला जाता है, तबतक हमारे दुर्भाग्य का अन्त नहीं होगा और न हम अपने पाँवों पर खड़े हो सकेंगे। किन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण न तो न्यायसंगत है और न पुरुषोचित। इसलिए मैं नहीं चाहता कि आप इस कर के प्रश्न को लेकर निरर्थक विवाद में पड़े और अपनी शक्तियों का अपव्यय करें, अच्छा होगा कि आप इस प्रश्न को अपने राजनीतिज्ञों के लिए छोड़ दें। इस औद्योगिक सम्मेलन को बुलाने में रानाडे की प्रमुख भूमिका थी।

उनके अनुसार भारतीय दरिद्रता के मुख्यतः छह कारण थे- (1) धन- उत्पादन के एकमात्र साधन के रूप में कृषि पर निर्भर रहना एक बड़ी कमी थी। उस समय भूमि के पुनर्वितरण के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया जाता था। इसलिए रानाडे ने उसका विरोध किया और उत्पादन की वृद्धि तथा औद्योगिक विकास पर बल दिया। उन्होंने बंगाल भूमिधारण विधेयक की प्रशिया के भूमि विधान से तुलना किया और किसानों की दृष्टि से बंगाल विधेयक को अन्यायपूर्ण कहा, (2) नये उद्योगों में पूँजी का अभाव एक आधारभूत कठिनाई थी, (3) ऋण की पुरानी व्यवस्था, (4) कुछ क्षेत्रों में जनसंख्या की अधिकता, (5) साहस की प्रवृत्ति तथा जोखिम उठाने की भावना से युक्त कर्मशील कृषक वर्ग की कमी, और (6) परम्पराबद्ध सामाजिक व्यवस्था तथा गतिशील अर्थतंत्र की मांग-इन दोनों के बीच असामंजस्य। रानाडे के मतानुसार देश का आर्थिक कल्याण तभी संभव हो पाएगा जबकि उद्योग, व्यापार तथा कृषि, तीनों का एक साथ विकास किया जाएगा।

2.4.7.3. कृषि अर्थशास्त्र

रानाडे ने भारत की दरिद्रता का एक मुख्य कारण कृषि के भयावह दशा को भी माना था। क्योंकि देश अनन्य रूप से कृषि पर निर्भर था और कृषि की स्थिति अनिश्चित थी। वे ऋण के बोझ तले दबे जा रहे थे और ग्रामीण उद्योग समुचित पूँजी के अभाव में प्रायः नष्ट हो चुके थे। सरकार भूराजस्व बढ़ाती जा रही थी। जिसके परिणामस्वरूप किसानों में घोर निराशा तथा असंतोषण व्याप्त था। इसीलिए रानाडे का विचार था कि रैयत को ऋण के दलदल से उद्धार हेतु कानून बनाए जाएँ और भूराजस्व व्यवस्था का तत्काल सुधार किया जाय। उन्होंने अन्य देशों की तरह ग्रामीण साहूकारी व्यवस्था के पुनः संगठन करने का अनुरोध भी किया ताकि भारतीय कृषि की दशा में सुधार हो।

2.4.7.4. औद्योगीकरण

रानाडे अबन्ध-नीति के कटु आलोचक थे। उनका कथन था कि ''औद्योगीकरण करो अथवा नष्ट हो जाओ।' इसके लिए उन्होंने राज्य को पहल करने का अनुरोध किया। वे चाहते थे कि सरकार लोहा, कोयला, कागज, काँच, शक्कर तथा तेल के उद्योगों के विकास के लिए निजी उद्यम चलानेवालांे को ब्याज की सस्ती दर पर ऋण उपलब्ध करे और साथ ही ग्रामीण उद्योगों में भी पूँजी लगावे। वे यह भी चाहते थे कि सरकार जमा बैंकों तथा वित्त बैंकों के निर्माण में सहायता दे। उन्होंने सुझाव दिया कि वर्तमान प्रणाली के स्थान पर इस प्रकार की व्यवस्था की जाय जिससे सरकार जिले और

नगर में जमा धन को नगरपालिकाओं और जिला परिषदों अथवा जिला सहकारी बैंकों को उद्यार दे दे। इन संस्थाओं को यह अधिकार दे दिया जाय कि वे इस धन से ब्याज के तौर पर कर्मठ तथा योग्य व्यक्तियों को ऋण दे। इससे प्रत्येक जिले के पास अपने साधनों का अपने ढंग से विकास करने के लिए कोष होगा, जिससे किसी बड़ी योजना को कार्यान्वित करने के लिए मिलकर कार्य कर सकते हैं। सरकार अपने अधिकारियों के द्वारा इस उधार के धन-वितरण पर उचित नियंत्रण रखेगी। यदि सम्पूर्ण योजना को विवेकपूर्ण निर्देशित और संचालित किया जाय तो कुछ ही वर्षों में देश का कायाकल्प हो सकता है। सरकार अपनी आवश्यकता का सामान इन उत्पादन संस्थाओं से खरीदकर इन योजनाओं में अधिक सहायता दे सकती है। रानाडे ने आग्रह किया कि अब कोई नवीन प्रकार का उद्योग खोला जाय तो उसे राज्य की सहायता और निर्देशन अवश्य मिलना चाहिए। क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि यदि देश का औद्योगीकरण नहीं हुआ तो इस विनाशकारी प्रतिस्पर्धा के जगत में उसका जीवित रहना असंभव हो जाएगा। उनके विचार बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक सिद्ध हुए हैं, क्योंकि वर्तमान गणतन्त्रीय सरकार के विचार भी उनसे मिलते हैं।

2.4.8. रानाडे का राजनीतिक चिन्तन

रानाडे को भारत के अतीत से गहरा प्रेम था। एकबार उन्होंने कहा था कि ''यदि हम चाहें तो भी अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेदद नहीं कर सकते। और यदि हमारे लिए सम्बन्ध विच्छेद करना संभव हो सके तो भी हमें ऐसा नहीं करना चाहिए।'' किन्तु वे पुनरुत्थानवादी नहीं थे। उनका विश्वास था कि यदि लोग निष्ठापर्वूक देश के कल्याण के लिए काम करें तो राष्ट्र का भविष्य उसके अतीत से भी अधिक उज्ज्वल हो सकता है। हेगेल, बोसांक्वे तथा केशवचन्द्र सेन की भांति रानाडे का भी विश्वास था कि इतिहास में ईश्वरीय शक्ति कार्य करती है। इसलिए उन्हें ईश्वरीय आदेशों में आस्था थी। वे किसी मानवीय शक्ति को ईश्वर के आदेश से ऊँचा मानने के लिए तैयार नहीं थे। भारतीय इतिहास के उतार-चढ़ाव में भी उन्हें दैवी इच्छा तथा विवेक की कार्यान्वित दिखायी देती थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत अवश्य ही उन्नति करेगा। लाहौर के सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि ''मुझे अपने धर्म के दो सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास है। हमारा यह देश सच्चे अर्थ में ईश्वर का चुना हुआ देश है और हमारी इस जाति का परित्राण विधि के विधान में है। यह सब निरर्थक नहीं था कि ईश्वर ने इस प्राचीन आर्यावर्त पर अपने सर्वोत्कृष्ट प्रसादों की वर्षा की थी। उनकी मान्यता था कि इतिहास में उसका हाथ स्पष्ट दिखायी देता है। अन्य सब जातियों की तुलना में हमें एक ऐसी सभ्यता, एक ऐसी धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था उत्तराधिकार में मिली है जिसे समय के विशाल मंच पर अपने आप अपना स्वतंत्र विकास का अवसर दिया गया है। इस देश में कभी कोई क्रान्ति नहीं हुई, किन्तु फिर भी पुरानी स्थिति में अपने आपको परिपालन की धीमी प्रक्रिया के द्वारा स्वतः सुधार लिया है। देश पर अनेक आक्रमण हुए जिसका तात्कालिक परिणाम विनाशकारी हुआ, किन्तु बाद में उन सबका फल यह हुआ कि संस्कृति की विभिन्न धाराएँ मिल जुल गयीं और जीवन में राजनीतिक तथा प्रशासनिक समन्वय स्थापित हो गया।

परन्तु रानाडे भारतीय जीवन के दोषों के भी कटु आलोचक थे। उन्होंने माना कि भारतवासियों ने जीवन के लौकिक क्षेत्रों में, विज्ञान तथा प्राविधि में और नगर-प्रशासन तथा नागरिक गुणों में पर्याप्त श्रेष्ठता का परिचय नहीं दिया था। इस प्रकार वेली की तरह रानाडे ने भी राजनीतिक तथा नागरिक गुणों के विकास पर बल दिया। सामाजिक तथा नागरिक चेतना की यह भारत के ब्रिटेन के साथ सम्पर्क से ही

उपलब्ध हो सकती थी। इसलिए उन्होंने कहा कि भारत में ब्रिटिश शासन के पीछे ईश्वर का मुख्य उद्देश्य इस देश को राजनीतिक शिक्षा देना है। रानाडे ने इस बात का समर्थन किया कि भारतीय राष्ट्रवादियों तथा ब्रिटिश उदार दल के बीच अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। अपने देश के प्रति गहरा प्रेम के बावजूद वे मानते थे कि ब्रिटिश शासन से भारत को अनेक नियामतें उपलब्ध हुई हैं। वे भारत में ब्रिटिश शासन को ईश्वर के विधान का ही एक अंग मानते थे। रानाडे प्रारंभिक काल में मराठा शासन की तुलना में ब्रिटिश शासन की निन्दा करते थे, किन्तु बाद में उनके विचारों में परिवर्तन आ गया। रानाडे के इस विचार को बाद में फीरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले ने भी दुहराया।

रानाडे ने राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रत्ययवादी तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का समन्वय किया। वे राज्य की अवयवी प्रकृति में विश्वास करते थे, इसलिए जर्मन विचारकों के आदर्शों से उन्हें सहानुभूति थी। वे निर्मम प्रतिस्पर्धा के, जो पूँजीवादी अर्धतन्त्र का आधार है, कट्टर शत्रु थे। 1896 में कलकत्ता में आयोजित सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने कहा कि ''आखिरकार राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह अपने सदस्यों को, उनके प्रत्येक जन्मजात गुण का विकास करके, अधिक श्रेष्ठ, सुखी, समृद्ध तथा पूर्ण बनाए।'' किन्तु उनका कथन था कि यह महान उद्देश्य तब तक पूरा नहीं हो सकता जबतक राजनीतिक समाज के सभी सदस्य अपनी मुक्ति के लिए ईमानदारी तथा सच्चाई के साथ प्रयत्न नहीं करते। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्तियों की बुद्धि को मुक्त किया जाय। इस भावात्मक दृष्टिकोण के कारण ही रानाडे अन्य बैंथमपंथियों से भिन्न थे। इसी तरह राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में भी रानाडे के भावात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट झलकता है क्योंकि उन्होंने औद्योगीकरण, उपनिवेश, आर्थिक जीवन के नियोजित संगठन, समाज-सुधार तथा उद्योग के संरक्षण के लिए राज्य की सहायता और निर्देश का समर्थन किया। उनका यह भी मत था कि सामूहिक रूप में राज्य अपने सर्वोत्तम नागरिकों की शक्ति, विवेक, दया और उदारता का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत की व्यवहारिक राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में जहाँ रानाडे की विचारधारा उदारवादी थी, वहीं उनका राज्य-दर्शन जर्मन प्रत्ययवादियांे के अधिक निकट था।

स्वतंत्रता के सम्बन्ध में रानाडे का दृष्टिकोण अंशतः न्यायिक था। उनके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ नियंत्रण अथवा शासन का अभाव नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है कानून की व्यवस्था के अन्तर्गत शासन इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को असहाय की भांति दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़े और सत्ता तथा शक्ति को धारण करने वालों के अनुचित व्यवहार से उसकी रक्षा की जाय। उनहोंने इस मत को स्वीकार किया कि स्वतंत्रता केवल नियंत्रण का अभाव नहीं है, बल्कि हर प्रकार के श्रम की क्षमता की वृद्धि करने का भावात्मक प्रयत्न है। उनका कथन था कि ''स्वतंत्रता का अभिप्राय है कानून बनाना, कर लगाना, दण्ड देना तथा अधिकारियों को नियुक्त करना। स्वतंत्र तथा परतंत्र देश में वास्तविक अन्तर यह है कि यहाँ दण्ड देने से पहले उसके सम्बन्ध में कानून बना लिया गया हो, कर लेने से पहले अनुमति ले ली गयी हो और कानून बनाने से पहले मत ले लिए गए हों, वही देश स्वतंत्र है।'' रानाडे के अनुसार विधि के शासन तथा संसदीय शासन-प्रणाली को स्वीकार करके ही किसी देश में स्वतंत्रता की स्थापना की जा सकती है। न्यायाधीश होने के कारण उनका अनुभव था कि न्यायपालिका स्वतंत्र देश का आधारस्तम्म है।

रानाडे लॉर्ड रिपन की स्थानीय स्वराज्य योजना पर व्याख्यान देते हुए विकेन्द्रीकरण का भी समर्थन किया और देश में एकरूपता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति की आलोचना किया। परन्तु उन्होंने स्वतंत्रता

के व्यक्तिवादी और विधिक दृष्टिकोण के साथ राज्य के कार्यों की भावात्मक धारणा का समन्वय किया। वे चाहते थे कि राज्य शिक्षा को बढ़ावा दे और समाज-सुधार तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की दिशा में प्रभावकारी कदम उठाए।

रानाडे भारत के लोक प्रशासन में सुधार करना ा चाहते थे। क्योंकि आंग्ल- भारतीय नौकरशाही की साम्राज्यवादी उदण्डता तथा घमण्ड से भारतवासियों की संवेदनशील आत्मा को भारी ठेस-पहुँचती थी। भारत में ब्रिटिश शासक वर्ग अहंकार, घमण्ड, नीचता तथा तिरस्कार की भावना का जो प्रदर्शन किया करता था उसका रानाडे ने विरोध किया। उनकी इच्छा थी कि उसकी बुराइयों को दूर कर दिया जाय। उनका अनुभव था कि कोई प्रशासन व्यवस्था कल्याणकारी और सुदृढ़ तभी हो सकती है जब वह व्यवहारिक रूप में सहानुभूति, उदारता तथा संयमित आचरण के आदर्शों पर आधारित हो। जातीय अहंकार तथा व्यक्तिगत गुणगान से प्रशासन व्यवस्था की दृढ़ता के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। ईमानदारी और दृढ़ता के साथ कत्र्तव्य पर डटे रहने से ही प्रशासनिक क्षमता का नैतिक आधार कायम किया जा सकता है। इसके लिए कुछ तात्विक सिद्धान्तों को अपनाकर उसे दृढ़ता के साथ हर परिस्थिति में पालन करना आवश्यक है।

इस प्रकार रानाडे ने भी विवेकानन्द की भांति भारत के लिए उज्ज्वल भविष्य की कल्पना किया था। उनको विश्वास था कि भारतवासियों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को पूर्णत्व की सीमा तक विकसित किया जा सकता है। उनके अनुसार देश के पुनरूद्धार और नवीनीकरण का यही एकमात्र तरीका था। रानाडे का कथन था कि इस स्वप्न की पूर्णता के लिए अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए अध्यवसाय के साथ संघर्ष की आवश्यकता है, और यह भारतीय जनता के चरित्र के उन्नयन से ही संभव हो सकता है।

2.4.9. योगदान

रानाडे एक उच्च कोटि के ज्ञानी थे। उनका मानस एक विश्वकोष की भांति ज्ञान का भंडार था। उनकी बुद्धि मौलिक थी। उनकी पुस्तकें एसेज इन इण्डियन इकॉनोमिक्स' तथा 'राइज ऑफ मराठा पावर' भारतीय सामाजिक विज्ञानों के संदर्भ में उनके गंभीर पाण्डित्य तथा सर्जनशीलता की परिचायक है। भारतीय इतिहास, समाज तथा राजनीति की समस्याओं में उनकी गहरी पैठ थी। वे उन महापुरुषों में थे जिन्होंने भारत में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न किया। वे सामाजिक मामलों में प्रबुध नीति का अनुसरण करना चाहते थे और उनको उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से देखा था। हालांकि एक अर्थशास्त्री के रूप में उन्होंने किसी नये विचार को स्थापित नहीं किया क्योंकि परिस्थितियाँ इतनी परिपक्व और जटिल नहीं थीं कि गम्भीर मौलिक चिन्तन सम्भव हो सकता। तथापि भारत के अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक विचारकों की भांति रानाडे इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने पाश्चात्य सामाजिक विद्वानों की धारणाओं और प्रस्थापनाओं का मूल्यांकन किया और यह बताया कि उन्हें भारतीय परिस्थितियों में कहाँ तक और किस रूप में लागू किया जा सकता है। उन्होंने भारतीय अर्थतन्त्र के विश्लेषण के लिए कोई सुव्यवस्थित और परस्पर सम्बन्ध अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण नहीं किया। तथापि उन्होंने भारतीय कृषि के सुधार तथा भारतीय उद्योगों के विकास के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिए। वे देश के आर्थिक सुधार के सम्बन्ध में बहुत उत्सुक थे और चाहते थे कि भारत के साथ न्याय किया जाय। अर्धशास्त्रीय सूझबूझ की

गहराई की दृष्टि से रानाडे की रचनाओं में हमें परिपक्वता देखने को मिलती है। अतः भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रानाडे को पथ- अन्वेषक के रूप में सम्मान अवश्य मिलना चाहिए।

यह सत्य है कि समय की गति और देश में उग्र क्रांतिकारी आन्दोलन की वृद्धि के साथ-साथ रानाडे के राजनीतिक विचार पुराने पड़ गए। परन्तु इससे उनका उस संदर्भ में महत्व कम नहीं हो जाता जिसमें वे व्यक्त किए गए थे। अतिवादियों तथा उग्रवादियों ने रानाडे के इस विचार का खुब मजाक उड़ाया कि अंग्रेजों का भारत में आना ईश्वरीय विधान का अंग है। परन्तु इस प्रकार के धर्मतान्त्रिक विचार सन्त्र पौल, सन्त अगस्टाइन, हेगेल आदि दार्शनिकों की रचनाओं में भी मिलते हैं। सच तो यह है कि रानाडे ईश्वर-मक्त थे, इसलिए उन्हें ऐतिहासिक घटनाओं के मूल में ईश्वर का हाथ दिखायी देता था। उनका विश्वास था कि इतिहास किसी आध्यात्मिक सत्ता द्वारा शासित होता है। विश्व तथा भारत के इतिहास में ईश्वर का हाथ काम कर रहा है। उन्होंने अनुभव किया कि भारत का ऐतिहासिक विकास विभिन्न समाज-व्यवस्थाओं तथा संस्कृतियों के सर्वोत्तम तत्वों को उत्तरोत्तर आत्मसात करने की प्रक्रिया है। रानाडे ने भारत के राष्ट्रीय तथा सामाजिक विकास के कार्य में विश्वास की गंभीरता तथा समर्पण और भक्ति की भावना का पुट जोड़ दिया जिसका देश के युवा कार्यकत्र्ताओं के मानस तथा दृढ़ता पर गहरा प्रभाव डाला।

रानाडे द्वारा जीवन के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता पर जो बल दिया गया, वह राजनीतिक चिन्तन के लिए एक उत्तम योगदान है। उनका विश्वास था कि स्वतन्त्रता एक समग्र वस्तु है। बौद्धिक तथा सामाजिक परम्परावाद एवं अन्य सभी प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इस प्रकार रानाडे स्वतन्त्रता के सभी पक्षों और रूपों के समर्थक थे। वे चाहते थे कि जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

2.4.10. मूल्यांकन

रानाडे एक ऐसे गुरु थे जिन्होंने सामाजिक मुक्ति, आर्थिक प्रगति, सांस्कृतिक विकास तथा राष्ट्रीय एकता का उपदेश दिया। वे एक आधुनिक ऋषि थे और उनकी मेघा विशाल तथा व्यापक थी। एक संदेवशवाहक के रूप में उन्होंने आत्म-त्याग तथा सतत अध्यवसाय का सन्देश दिया है। उन्होंने राष्ट्र के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के आदर्श का बिगुल बजाया उनकी इच्छा थी कि पूर्व के मूल्यों तथा मान्यताओं और पश्चिम की राजनीतिक तथा आर्थिक विचारधारा का समन्वय होना चाहिए। भारतीय इतिहास तथा राजनीति में रानाडे देशभक्ति के अग्रदूत थे, जिन्होंने स्वतंत्रता, सामाजिक प्रगति तथा वैयक्तिक चरित्र की पुनःस्थापना का उपदेश दिया। इस प्रकार के उदात्त भारतीय राष्ट्रवाद के वैचारिक प्रणेताओं और गुरुओं में से एक थे। वे बुद्धि, सहिष्णुता तथा न्याय के समर्थक थे। 1896 में कलकत्ता के सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने भारत के भविष्य का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि ''बन्धनमुक्त पुरुषत्व उल्लासपूर्ण आशा, कर्तव्य से कभी विमुख न होने वाला विश्वास, सबके साथ यथोचित व्यवहार करने वाली न्याय की भावना, निर्मल बुद्धि तथा पूर्ण विकसित शक्तियाँ- इन गुणों को धारण करके नवीनीकृत भारत विश्व के राष्ट्रों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त कर लेगा और अपनी परिस्थितियों तथा अपनी होतव्ययता का स्वामी होगा। यही लक्ष्य है जहाँ हमें पहुँचना है- यही वह भूमि है जिसे नियति ने हमें देने का वचन दिया है। सुखी हैं वे जो इसको दूरदृष्टि से देख रहे हैं, उनसे भी अधिक सुखी वे हैं जिन्हें उसके लिए कार्य करने तथा मार्ग साफ करने का अवसर मिला है और इन सबसे अधिक सुखी वे होंगे जो

उसको अपनी आँखों से देखने के लिए और उस पवित्र भूमि पर चलने के लिए जीवित रहेंगे।'' यह वास्तव में भारत के सुनहरे भविष्य की रूपरेखा थी, जिसको 1905 के बनारस कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में गोपाल कृष्ण गोखले ने भी अनुमोदन करते हुए उधृत किया था। सच तो यह है कि रानाडे ने स्वयं 'सार्वजनिक सभा' नामक तिमाही पत्रिका प्रांरभ किया और 17 वर्षों में उसके लगभग दो-तिहाई लेख स्वयं लिखकर समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति सभी क्षेत्रों में पुनर्जागरण के लिए प्रेरित किया। अतः वे एक सच्चा कर्मयोगी एवं श्रेष्ठ समाज-सुधारक भी थे।

2.4.11. कठिन शब्दावली

1. विधिवेत्ता - विधि अथवा कानून के जानकार
2. सहिष्णुता - सहन करने शक्ति
3. धर्मोपदेशक - धर्म का उपदेश देने वाला
4. अधोगति - पतन
5. अभिजात वर्ग - उच्च वर्ग
6. पुनरूत्थान - फिर उत्थान या फिर से उठना
7. विकेन्द्रीकरण - अनेक माध्यम से संचालन

2.4.2. अभ्यास प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न

1. महादेव गोविन्द रानाडे का जन्म कब हुआ था:
   (अ) 9 मई, 1866 (ब) 9 मई, 1867
   (स) 18 जनवरी, 1842 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. महोदव गोविन्द रानाडे का निधन कब हुआ:
   (अ) 30 नवम्बर 1916 (ब) 9 मई 1869
   (स) 16 जनवरी 1901 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
3. महादेव गोविन्द रानाडे कब बम्बई विधान परिषद के अतिरिक्त सदस्य नियुक्त किए गए:
   (अ) 1889 में (ब) 1885 में
   (स) 1892 में (द) 1890 में
4. महादेव गोविन्द रानाडे को कौन अपना राजनीतिक गुरु मानते थे?
   (अ) गोखले (ब) ए0ओ0 ह्यूम
   (स) विपिन चन्द्रपाल (द) लाला लाजपत राय
5. रानाडे किस को 25 वर्षों तक निर्देशन एवं प्रेरणा प्रदान करते रहे?
   (अ) विधवा-विवाह संघ (ब) पूना सार्वजनिक सभा
   (स) सामाजिक सम्मेलन (द) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

उत्तर- (1) स, (2) स, (3) ब, (4) ब, (5) ब

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. रानाडे के इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या को स्पष्ट करें।
2. रानाडे के अनुसार भारतीय दरिद्रता के मुख्य कारणों का वर्णन करें।
3. रानाडे के औद्योगीकरण संबंधी विचारों को स्पष्ट करें।
4. रानाडे के स्वतंत्रता संबंधी विचार की व्याख्या करें।
5. रानाडे के कृषि अर्थशास्त्र को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रानाडे के राजनीतिक विचारों की व्याख्या करें।
2. रानाडे के चिन्तन के दार्शनिक आधार को स्पष्ट करें।
3. रानाडे के समाज-सुधार संबंधी विचारों का मूल्यांकन करें।
4. रानाडे के आर्थिक विचारों की व्याख्या करें।
5. भारती राजनीतिक चिन्तन के प्रसंग में रानाडे के योगदान एवं महत्वव का उल्लेख करें।

2.4.13. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. वर्मा डॉ0 वी0पी0, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा-3, 1982, पृ0 179-198.
2. फाड़िया डॉ० बी० एल०, 2008, राजनीति चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा पृष्ठ संख्या 75-81
3. वर्मा, डॉ० वी० पी०, 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, पृष्ठ संख्या- 35-60
4. नागर, डा0 पुरुषोत्तम: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
5. सूद, प्रो0 ज्योति प्रसाद: आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएं, जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ
6. जैन, डॉ0 पुखराज एवं मेहता प्रो0 जीवन, 2008, राजनीति विज्ञान, एस0वी0पी0डी0 पब्लिकेशन, आगरा

इकाई-5 : गोपाल कृष्ण गोखले

इकाई की रूप रेखा

2.5.1. उद्देश्य

2.5.2. जीवन परिचय

2.5.3. गोखले का राजनीतिक चिंतन एवं कार्य

- **2.5.3.1. ब्रिटिश जाति की उदारता और न्यायप्रियता से विश्वास**
- **2.5.3.2. संविधानवाद में आस्था**
- **2.5.3.3. स्वशासन की धारणा**
- **2.5.3.4. स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन**
- **2.5.3.5. प्रशासनिक सुधारों की मांग**
- **2.5.3.6. राजनीति का अध्यात्मीकरण**
- **2.5.3.7. साम्प्रदायिक एकता में अटूट विश्वास**
- **2.5.3.8. ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा**
- **2.5.3.9. मानव अधिकार एवं स्वतंत्रता के समर्थक**
- **2.5.3.10. सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के समर्थक**

2.5.4. गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा

- **2.5.4.1. प्रान्तीय शासन**
- **2.5.4.2. केन्द्र प्रशासन अर्थात् भारत सरकार**
- **2.5.4.3. अन्य सुझाव**

2.5.5. गोखले का आर्थिक विचार

- **2.5.5.1. भारत में भारी एवं प्रशासनिक व्यय में कमी का आग्रह**
- **2.5.5.2. भारत में रेलों के विस्तार को प्राथमिकता देने पर रोक**
- **2.5.5.3. मुक्त व्यापार की नीति के प्रति आशंकाएँ एवं विरोध**
- **2.5.5.4. कृषि में सुधार पर बल**
- **2.5.5.5. जनता पर करों के भार को कम करने पर बल**

2.5.6. गोखले का सामाजिक विचार

- **2.5.6.1. सामाजिक सहिष्णुता और सद्भावना के प्रतीक**
- **2.5.6.2. नस्ल या रंगभेद के विरोधी**
- **2.5.6.3. धार्मिक सहिष्णुता और एकता के समर्थक**

2.5.7. गोपाल कृष्ण गोखले का योगदान

- **2.5.7.1. ब्रिटिश शासन में दोष प्रकट करना**
- **2.5.7.2. भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा**
- **2.5.7.3. भारतीय राष्ट्रीयता के जनक**
- **2.5.7.4. उपयोगी आर्थिक चिंतन**
- **2.5.7.5. राजनीतिक अध्यात्मीकरण**
- **2.5.7.6. भारत सेवक समाज की स्थापना**

2.5.7.7. एक सफल विधायक

2.5.7.8. जनकल्याण कार्यों पर बल

2.5.7.9. सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के समर्थक

2.5.8. मूल्यांकन

2.5.9. कठिन शब्दावली

2.5.10. अभ्यास प्रश्न

2.5.11. संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.5.1. उद्देश्य

1. गोखले के जीवन के बारे में जान सकेंगे।
2. गोखले के राजनीतिक चिंतन को समझ सकेंगे।
3. गोखले के राजनीतिक वसीयतनामा को समझ सकेंगे।
4. गोखले के आर्थिक विचार को जान सकेंगे।
5. गोखले के सामाजिक विचार को समझ सकेंगे।

2.5.2. जीवन परिचय

19 वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में जिन महान नेताओं ने अपने ज्ञान, त्याग और देश के प्रति अनुपम निष्ठा से भारत में नई सामाजिक और राजनीतिक चेतना को विकास के नये आयाम दिये उनमें गोपाल कृष्ण गोखले का नाम बहुत श्रद्धा और सम्मान के साथ लिया जाता है। उनकी महान प्रतिभा और सेवा का आभास इस बात से किया जा सकता है कि पराधीन भारत के स्वतंत्रता संग्राम सर्वोच्च नेता और स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी उन्हें अपना राजनीतिक गुरू मानते थे। गाँधी जी उनकी योग्यता, देश भक्ति और निष्ठा से इतने अभिभूत थे कि वे उनके बारे में अक्सर कहा करते थे कि ''यदि फिरोजशाह मेहता हिमालय की तरह ऊँचे थे और तिलक महासागर की तरह गहरे तो गोखले पतीत पावनी गंगा की तरह पवित्र थे जो सबको अपनी ओर अनायास ही आकर्षित करने की क्षमता रखते थे।'' अतः गाँधी जी के हृदय में उनके प्रति असीम श्रद्धा तथा उनके व्यक्तित्व की अनुपम छाप भी थी।

गोपाल कृष्ण गोखले भारतीय राजनीति में उदारवादियों के सिरमौर थे। उन्होंने राजनीति में नैतिक मूल्यों को स्थान दिया तथा उग्रवादियों के विरोध के बावजूद बड़े धैर्य और संयम के साथ नैतिक मूल्यांे पर चलते रहे। शासन तंत्र के विरूद्ध कुछ करते समय गोखले ने वैधानिक मार्ग को अपनाया। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार को अपनी बात समझाकर शासन तन्त्र में सुधार और अंत्ततोगत्वा स्वराज्य के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। देश के प्रति अटूट निष्ठा तप, त्याग, लगन और अथक परिश्रम में वे भारतीय आन्दोलन के किसी भी नेता से पीछे नहीं थे। तिलक के शब्दों मंे- ''बहुत छोटी आयु में उन्होंने अपने-आप को देश सेवा के लिये समर्पित कर दिया और विविध रूपों में देश की अपरिमित सेवा की।

गोखले का जन्म 19 मई 1866 ई0 को बम्बई प्रान्त के कोल्हापूर जिले में हुआ। 13 वर्ष की आयु में उनके पिता का देहांत हो गया। अतः उनका आरम्भिक जीवन बहुत कठिनाइयों में गुजरा। 18 वर्ष की आयु में स्नातक हुए और 20 वर्ष की आयु में पूना के अंग्रेजी स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए जो आगे

चलकर विख्यात फग्र्यूसन कॉलेज के रूप में विकसित हुआ। गोखले 1902 ई0 में इस कॉलेज के प्रिंसिपल के पद से रिटायर हुए। यहीं उनकी भेंट महादेव गोविन्द रानाडे से हुआ। रानाडे उनकी बुद्धिमत्ता और कर्तव्यनिष्ठा से अधिक प्रभावित थे।

गोपाल कृष्ण गोखले ने अपना सार्वजनिक जीवन महादेव गोविन्द रानाडे के शिष्य के रूप में प्रारम्भ किया। डॉ0 जकारिया के शब्दों में- ''गोखले के रूप में रानाडे को जैसा शिष्य मिला, वैसा उपयुक्त शिष्य कभी किसी गुरु को नहीं मिला होगा।'' रानाडे के संरक्षण में गोखले ने संवैधानिक कार्यप्रणालियों को सीखा। चार वर्ष तक वे समाज सुधार से सम्बद्ध पत्रिका ''सुधारक'' के भी सम्पादक रहे। 22 वर्ष की अल्पायु में ही वे बम्बई विधान परिषद् के सदस्य मनोनीत किये गये। 1889 में गोखले कांग्रेस के सदस्य बन गये और कई वर्षों तक बम्बई प्रदेश कांग्रेस के मंत्री रहे। सन् 1904 ई. में ब्रिटिश सरकार ने गोखले को सी.आई.ई. (ब्ण्प्ण्म्ण्) का खिताब दिया। 1905 में. उन्होंने कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में अध्यक्ष पद को सुशोभित किया।

गोखले ने विविध रूपों में देश की सेवा की। उन्होंने 1899, 1905, 1906, 1908, 1918, 1913 और 1914 में कुल मिलाकर 7 बार इंगलैण्ड गये। इसमें से कुछ यात्राएँ उन्होंने भारतीय प्रतिनिधि के रूप में ब्रिटिश के समक्ष भारत का दृष्टीकोण प्रस्तुत करने के लिये की थी।

1995 में गोखले उस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य होकर इंगलैण्ड गये जो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह समझाने-बुझाने के लिये गया था कि बंग-भंग संबंधी अधिनियम न बनाया जाए। लेकिन उनके विवेकपूर्ण आग्रह का ब्रिटिश सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

अपनी इंगलैण्ड की यात्राओं में गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति तथा उसके पत्र इण्डिया को सक्रिय बनाने में भी प्रशंसनीय कार्य किये। सर विलियम वैडरवर्न के सहयोग से उन्होंने इस पत्र को भारतीय आकांक्षाओं का एक ओजस्वी एवं यथार्थवादी प्रवक्ता बना दिया।

1912 ई0 में वे दक्षिण अफ्रिका गये और रंगभेद विरोधी आन्दोलन में उन्होंने गाँधीजी की सहायता की।

गोखले एक व्यवहारिक आदर्शवादी और राजनीति के क्षेत्र में सच्चे उदारवादी थे। उनकी मान्यता थी कि कांग्रेस को भारतीय प्रशासन में धीरे-धीरे सुधारों के लिये आन्दोलन करना चाहिए। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में गोखले ने भारत में सुधार की एक योजना तैयार की जिसे ''गोखले का राजनीतिक वसीयत'' कहा जाता है। इसमें गोखले ने भारत में प्रान्तीय स्वायतता देने की सिफारिश की और अनेक ऐसे सुझाव प्रस्तुत किये जो आगे चलकर मोण्टफोर्ड सुझावों की योजना के प्रारूप बने।

गोखले को गाँधीजी अपना राजनीति गुरु मानते थे और गोखले के मन में गाँधीजी के लिये गहरा स्नेह और सम्मान था। उनकी निर्दोश देशभक्ति और आकर्षक व्यक्तित्व का प्रभाव ब्रिटेन के नेताओं पर भी पड़ा। अपनी चारित्रिक श्रेष्ठता, गंभीर सत्यनिष्ठा तथा मातृभूमि की अनवरत सेवा से वे भारत तथा विदेशों में अनेक लोगों के प्रशंसा और सम्मान के पात्र बन गये। 19 फरवरी 1945 को 49 वर्ष की अल्प आयु में ही उनका देहावसान हो गया।

उनके असामयिक निधन को देश के तत्कालीन नेताओं ने एक अपूरणीय क्षति माना। उनके निधन पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए जीवन पर्यन्त उनके राजनीतिक विरोधी रहे लोकमान्य तिलक ने अपने शोक संदेश में उनके संबंध में कहा- ''भारत का यह रत्न, महाराष्ट्र का यह महामानव,

आन्दोलनकारियों का नरेश चिर निद्रा निभग्न हो गया है। उसे देखो और उसके पदचिन्हों का अनुशरण करने का प्रयत्न करो।''

2.5.3.गोखले का राजनीति चिंतन एवं कार्य

राजनीतिक विचारों की दृष्टी से गोपाल कृष्ण गोखले एक उदारवादी चिंतक तथा उनके अनुसार कार्य व्यवहार करनेवाले आस्थापान व्यक्ति थे। वे राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उग्रवादी नहीं शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक साधनों के प्रयोग में विश्वास रखते थे। राजनीति का चरित्र उनके लिये सत्ता प्राप्ति का नहीं वरन् जनसेवा पर आधारित एक अध्यात्मिक साधन स्वरूप था। साध्य-साधन की पवित्रता उनका मूलाधार था। वे किसी भी रूप में राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये हिंसक तथा क्रांतिकारी साधनों के प्रयोग के विरूद्ध थे। इन्हीं मुलभूत आधारों और आदर्शों पर उनका सम्पूर्ण राजनीतिक चिंतन आधारित है जिसे उन्होंने आजीवन कार्यरूप में परिणत करने का उपक्रम किया। गोखले नरमपंथी थे। उनका कहना था कि सार्वजनिक कत्तव्य तथा राजनीतिक कार्य को पवित्र राष्ट्रीय सेवा का मार्ग समझा जाए। कष्ट सहन, सहिष्णुता और जीवन की उदारता के बिना राष्ट्रवाद एक जीवन शक्ति नहीं बन सकता। जहाँ तक राजनीति कार्य, नीति का संबंध था गोखले उदारवादी थे। वहिष्कार की उग्र कार्यप्रणाली उन्हें पसंद नहीं थी। बर्क की भाँति गोखले सावधानी की नीति, धीमे विकास और बुद्धिसंगत प्रगति में विश्वास करते थे। वे उग्रवादी उपायों तथा सार्वजनिक उन्माद के नाटकीय विस्फोट के विरूद्ध थे।

गोखले अर्थशास्त्र और इतिहास के प्रकाण्ड पंडित थे। गोखले में प्रशासनिक उत्तरदायित्व की भावना थी और उस भावना ने उन्हें आन्दोलन के मार्ग से अलग रखने का कार्य किया। वे ऐसे व्यक्ति थे जो आन्दोलन का मार्ग अपनाकर तुरन्त ही देश की स्वतंत्रता प्राप्त करने की बात को अविवेकपूर्ण और अव्यवहारिक समझते थे। उनके राजनीतिक चिंतन की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं-

2.5.3.1.ब्रिटिश जाति की उदारता और न्यायप्रियता में विश्वास

गोखले की शिक्षा-दीक्षा ने उनमें ब्रिटिश उदारवाद के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न कर दी थी। अंग्रेज जाति की अन्तरात्मा में उनका विश्वास था। दादा भाई की भाँति उन्हें इस बात का विश्वास था कि इंगलैण्ड में एक नये ढंग के राजनीतिज्ञता का उदय होगा और भारत के साथ न्याय किया जाएगा। ब्रिटिश जाति की उदारता और न्यायप्रियता में विश्वास करते हुए वे भारतीय जनता को राजनीति का संदेश देते थे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की सद्भावना और ब्रिटिश राष्ट्र की न्यायप्रियता में उनका विश्वास इतना अधिक था कि जब दादा भाई नौरोजी की भी इस-प्रसंग में आशा डिग गई तब भी वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर भरोसा करते थे।

गोखले ने 1902 में अपने बजट भाषण में कहा कि ''आवश्यकता इस बात की है कि हमें यह अनुभव कराया जाना चाहिए कि हमारी सरकार पद्धति विदेशी चरित्र की है लेकिन उसकी भावना राष्ट्रीय है तथा वह भारतीयों के हितों के समक्ष अन्य हितों को गौण महत्व देती है तथा भारतीयों के प्रति किये गये असम्मानजनक व्यवहार को ऐसा समझती है कि मानो वह व्यवहार अंग्रेजों के साथ किया गया हो और जो अपनी शक्ति के अन्तर्गत समस्त साधनों द्वारा भारतीयों तथा प्रवासी भारतीयों के नैतिक तथा भौतिक हितों की वृद्धि का प्रयत्न करती हो। जो शासन भारतीयों में इस प्रकार की भावनाओं को जन्म देगा, वह इस देश की महान सेवा ही नहीं करेगा वरन् उसके हृदय में स्थायी स्थान भी अपने लिये सुरक्षित कर लेगा।''

गोखले का यह उदाहरण सिद्ध करता है कि वे विलक्षण राजनीतिक विवेक के धनी ही नहीं थे वरन एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ भी थे। वे ब्रिटिश शासकों की न्याय और उदारता की भावना को जगाकर उन्हें भारत में अपने साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की स्थापना करने हेतु तैयार करना चाहते थे। ब्रिटिश शासकों के उदारवादी चरित्र में दृढ़ विश्वास होने के कारण उन्हें यह विश्वास था कि उनके दृष्टिकोण में निश्चित रूप से परिवर्तन होगा और वे भारतीयों की स्वशासन संबंधी मांग को भली- भाँति समझ सकेंगे और उसे व्यवहारिक रूप देने हेतु तत्पर रहेंगे क्योंकि यह भारतीयों का ही नहीं उनका भी सच्चाहित होगा। डा0 वी0पी0 वर्मा के अनुसार ''गोखले की अपनी उदारवादी आस्था के कारण यह मान्यता थी कि इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ही भारतीय तथा ब्रिटिश शासकों के साम्राज्यवादी हितों में समन्वय की आधारशिला तैयार कर उन्हें उदारवाद-आधारित शासकीय सुधारों को कार्यान्वित करने हेतु प्रेरित कर सकता था।''

2.5.3.2.संविधानवाद में आस्था

गोखले का संवैधानिक साधनों और वैधानिक आन्दोलन में अटूट विश्वास था। वे इस विचारों और साधनों तथा असंवैधानिक मार्ग को भारत के लिए अहितकर समझते थे तथा इसके विरूद्ध थे। वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन के लक्ष्य को संवैधानिक तरीके से प्राप्त करना चाहते थे। डा0 रमैया के शब्दों में- ''वे विरोधी को हराने में नहीं अपितु उसे जीतने में विश्वास रखते थे। हिंसा, विद्रोह, शस्त्र-क्रांति अथवा विदेशी आक्रमण की सहायता आदि के लिये उनके राजनीति व्यवहार में कोई स्थान नहीं था। संवैधानिक आन्दोलन द्वारा भारतीय लोकमत को जगाकर गोखले यह सिद्ध करना चाहते थे कि भारतीय राजनीतिक दृष्टि से जागरूक और उत्तरदायी शासन के योग्य हैं। अतः उन्हें प्रशासनिक कार्य में भाग लेने का अधिकाधिक अवसर दिये जाने चाहिए। उनका पूर्ण विश्वास था कि ''देश की पुनर्निर्माण राजनीति उत्तेजना की आँधी में नहीं बल्कि धीरे-धीरे हो सकता है। इस धीमी प्रक्रिया में समस्या का वास्तविक हल था, अंग्रेजों की प्रकृति के पहलू पर विजय पाना और इस प्रकार उनकी सहायता व समर्थन करना।''

लेखक देवगिरि का कथन है कि ''गोखले ने शासनतंत्र के विरूद्ध युद्ध करने हेतु संवैधानिक मार्ग अपनाया। उनका विश्वास था कि तथ्यों तथा तर्कों को अपनी बात का आधार बनाया जाए तथा समझा बुझाकर कर उन लोगों के विचारों में परिवर्तन लाया जाए जिनका इस दृष्टि से महत्व है।'' गोखले द्वारा अपनाई गई संवैधानिक पद्धति में उनकी आस्था का मुख्य कारण यह था कि उनकी दृढ़ मान्यता थी कि तत्कालीन परिस्थितियों में स्वराज्य का लक्ष्य उग्रवाद-आधारित एक बड़ी छलांग लगाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता था। वरन उस दिशा में प्रगति शान्तिपूर्ण साधनों के प्रयोग के माध्यम से शनैः- शनैः ही सम्भव थी। वे इस तरह की छलांग लगाने के स्थान पर कदम से कदम मिलाकर चलना चाहते थे। इस कारण वे जनमत के जाग्रत कर ब्रिटिश शासकों का सहयोग चाहते थे क्योंकि उनका मानना था कि यदि उग्र और हिंसक साधनों का प्रयोग किया तो भारतीयों के प्रति ब्रिटिश शासकों के हृदय में प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना जन्म लेगी जिससे पीड़ित भारतीय जनता के दुखों और कष्टों में वृद्धि होगी। ऐसे ही परिणाम से बचने के लिये उन्होंने संविधानवाद का मार्ग अपनाया।

अतः उनके द्वारा अपनाया गया संविधानवाद का मार्ग तत्कालीन समय की आवश्यकताओं पर आधारित था। उनके आलोचकों का मत था कि ''वह उनकी किसी दुर्बलता समर्पण तथा पलायन की भावना का परिणाम नहीं था। भारतीय जनता की तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए उन्होंने इसी मार्ग का

अनुसरण करना हितकर समझा।'' वे उन्हें पराजित करना नहीं वरन् उनके हृदय में परिवर्तन करना चाहते थे ताकि वे भारतीयों की राजनीतिक सुधारों की मांग को विवेकपूर्ण मानकर स्वेच्छा से उन्हें क्रियान्वित करने हेतु तैयार हो जाए। डॉ0 पट्टाभि सीता रमैया के शब्दों में ''गोखले विरोधियों को हटाने में नहीं, उसके हृदय को जीतने में विश्वास करते थे।'' गोखले का संवैधानिक साधनों की प्रभावशीलता में विश्वास उनकी इस आस्था पर आधारित था कि ब्रिटिश जन स्वभावतः स्वतंत्रता-प्रेमी और न्यायप्रिय होते हैं। अतः यदि भारतीयों की राजनीतिक आकांक्षाओं के प्रति उनके हृदय में जागरूकता उत्पन्न कर दी जाए तो वे इस दृष्टि से निश्चित रूप से सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाएँगे और भारतीयों को स्वतः राजनीतिक सुधारों का वह लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा जिसके लिये वे संघर्षरत हैं।

गोखले द्वारा अपनाई गई नीति को उनके उग्रवादी विरोधियों द्वारा 'राजनीतिक भिक्षावृति' का नाम दिया गया तथा उनकी कटु आलोचना की गई लेकिन उनके द्वारा अपनाई गई संवैधानिक पद्धति की यह आलोचना अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि गोखले ने कभी भी आत्मसम्मान के मूल्य पर इस पद्धति का समर्थन नहीं किया। जहाँ उन्होंने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश शासकों का कोई कार्य या निर्णय भारतीयों के हितों के अनुकूल नहीं है, उसकी उन्होंने जमकर आलोचना की। विशेषकर ब्रिटिश नौकरशाही की उन्होंने कटु आलोचना की। उनकी मान्यता थी कि तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीयों द्वारा सफलतापूर्वक उग्रवादी साधनों को अपनाकर ब्रिटिश राज की शक्ति को चुनौती नहीं दी जा सकती तथा उसके माध्यम से स्वराज्य के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है ऐसी स्थिति में संवैधानिक साधनों के उपयोग से ब्रिटिश शासकों का सहयोग और सद्भाव प्राप्त हो सकेगा।

इन तथ्यों से प्रभावित होकर ही गोखले ने भारतीयों के राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु शांतिपूर्ण, सहयोग आधारित संवैधानिक पद्धति का प्रयोग ही उचित समझा। अतः उसके द्वारा अपनाई गई इस पद्धति को 'भिक्षावृति' का नाम देना न तो उचित है और न तर्कसंगत। अपनी उदारवादी मान्यताओं से प्रेरित और तत्कालीन भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही गोखले द्वारा इस पद्धति को अपनाया गया था जो न्यायसंगत और व्यवहारिक था।

2.5.3.3.स्वशासन की धारणा

गोखले यद्यपि क्रमिक सुधारों के मार्ग को अपनाने में विश्वास रखते थे लेकिन इन सुधारों का अंतिम लक्ष्य भारत के लिये स्वशासन की प्राप्ति था। गोखले का विश्वास था कि ब्रिटिश नौकरशाही के फलस्वरूप प्रशासन में जो आर्थिक और अन्य दोष प्रवेश कर गये हैं उनका निराकरण स्वराज्य द्वारा ही हो सकता है। स्वशासन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि ''ब्रिटिश प्रशासनिक यंत्र के स्थान पर भारतीय प्रशासनिक यंत्र को प्रतिष्ठित करना, विधान परिषदों का विस्तार करते-करते उन्हें वास्तविक संस्था बना देना और जनता को अपने मामलों का प्रबंध स्वयं करा देना।'' 1905 में बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने कहा- ''कांग्रेस का लक्ष्य यह है कि भारत भारतवासियों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रशासित होना चाहिए एक निश्चित समयावधि में भारत में ऐसी ही सरकार गठित हो जाना चाहिए जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य स्वशासित उपनिवेशों की सरकार है।'' उनका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अधिराज्य की स्थिति प्राप्त करना था। वही स्थिति जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड को प्राप्त थी। भारत के लिए पूर्ण स्वशासन उनका दूरगामी लक्ष्य था, तात्कालिक नहीं।

स्वशासन से उनका अर्थ ब्रिटिश साम्राज्य सुनिश्चित करना था। अतः उनकी स्वशासन की परिकल्पना का लक्ष्य 'साम्राज्य के अधीन स्वशासन' तक ही सीमित था। स्वशासन की अपनी अवधारणा की व्याख्या करते हुए उन्होंने 1907 के काँग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में भाषण करते हुए कहा ''मैं चाहता हूँ कि मेरे देश के लोगों की स्थिति उनके देश में वैसी ही हो जैसी अन्य लोगों को अपने देश में है। मैं बिना किसी जाति एवं सम्प्रदाय के प्रत्येक स्त्री एवं पुरुष के पूर्ण विकास का समर्थक हूँ। मैं चाहता हूँ कि उनपर इस दृष्टि से किसी प्रकार का अप्राकृतिक प्रतिबंध न लगाया जाए। मैं चाहता हूँ कि भारत संसार के महान देशों में राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक तथा कला के क्षेत्र में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करे। मैं चाहता हूँ कि ये सभी आदर्श भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए प्राप्त करे।''

इस प्रकार गोखले द्वारा प्रतिपादित ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की अवधारणा में मुख्य रूप से निम्नलिखित चार बातें सम्मिलित थी-

पहली- इंगलैण्ड में होनेवाली सभी प्रतियोगी परीक्षाएँ भारत में आयोजित होनी चाहिए तथा सभी उँच्च पदों पर की जानेवाली नियुक्तियाँ इन्हीं परीक्षाओं के आधार पर होनी चाहिए।

दूसरी- भारतीयों को भारतमंत्री की परिषद् तथा वायसराय की कार्यकरिणी परिषद् में पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।

तीसरी- केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधानसभाओं का विस्तार कर उसमें जनता को वास्तविक ढंग से प्रभावकारी प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।

चौथी- स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और न्यायपालिकाओं की संस्थाओं में वृद्धि की जानी चाहिए तथा उनके कार्यों में अवांछनीय सरकारी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

2.5.3.4. स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन

अन्य राष्ट्रवादियों की तरह गोखले भी स्वदेशी आन्दोलन के समर्थक थे। उनकी दृष्टि में देशभक्ति का दूसरा रूप स्वदेशी आन्दोलन था अर्थात् देश के लिये उच्च कोटि का तथा व्यापक प्रेम। स्वदेशी की अवधारणा उनके लिये नैतिक तथा भौतिक दोनों प्रकार का अर्थ रखती थी तथा वह भारतीय जनता की आत्मनिर्भरता की आकांक्षा और आत्मसम्मान के प्रति चेतना दोनों की प्रतीक तथा अभिव्यक्ति थी। 1905 में बनारस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था- ''मातृभूमि के प्रति समर्पण जो कि स्वदेशी की भावना में पूर्णतः अन्तर्व्याप्त है, एक ऐसा गंभीर और उत्कृष्ट भाव है कि उसका विचार मात्र व्यक्ति को अन्तवर््याप्त कर देता है और उसके वास्तविक स्पर्श से व्यक्ति अपनी तुच्छता के भाव से मुक्त होकर अपने स्वयं के महत्व के प्रति जागरूक हो जाता है। आज भारत की यह सर्वोपरि आवश्यकता है कि स्वदेशी के प्रति समर्पण के इस भाव को प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चाहे वह राजा हो या रंक, छोटा हो या बड़ा, संचारित किया जाए क्योंकि यह उन्हें देश के लिये बलिदान करने के स्वेच्छापूर्ण विचार का अभ्यस्त बनाता है तथा उनमें देश भक्ति की भावना को उत्पन्न कर उसे सुदृढ़ बनाता है।''

नैतिक पक्ष की तरह गोखले आर्थिक तथा भौतिक पक्ष से भी सहमत थे। उनकी दृष्टि में स्वदेशी के माध्यम से भारत की आर्थिक आत्मनिर्भरता का मार्ग ही प्रशस्त नहीं होगा वरन् देश के आर्थिक विकास को नई गति मिलेगी तथा विदेशी माल के उपयोग से जो उसका आर्थिक शोषण हो रहा है और उसकी पूँजी का जो विदेशों में निकास हो रहा है वह रूक जायेगा। लेकिन स्वदेशी माल को गोखले व्यवहारिक रूप देना चाहते थे। उनका मानना था कि स्वदेशी को व्यवहार में तभी लाया जाये जबतक देश

में पूँजी, उद्यम तथा दक्षता के क्षेत्र में जो खामियाँ हैं उनका उचित निराकरण नहीं कर लिया जाता। तब तक स्वदेशी का आर्थिक पक्ष व्यवहारिक नहीं हो सकता। इसलिये गोखले ने स्वदेशी के एक पक्ष विदेशी वस्तुओं के परित्याग को एक मिश्रित वरदान कहा। उन्हें भय था कि इस परित्याग आन्दोलन के कारण ब्रिटिश सरकार प्रतिशोधात्मक होकर विदेशी यंत्रों के आयात पर भारी करारोपण कर सकती हैं। अपने इस भय के कारण स्वदेशी के समर्थक होते हुए भी, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार हेतु चलाये जानेवाले आन्दोलन से सहमत नहीं थे, लेकिन सैद्धांतिक रूप से गोखले बहिष्कार विचार से असहमत भी नहीं थे। वे उसमें निहित सारे खतरों एवं हानिकारक प्रभावों के बाबजूद वे उसे अंतिम अस्त्र के रूप में स्वीकार करते हैं। तथा उसका प्रयोग भी उचित मानते थे, यदि उसे पूर्ण जनमत का समर्थन प्राप्त हो। गोखले के शब्दों में- ''जबतक बहिष्कार के पीछे जनमत का असाधारण समर्थन न हो तबतक वह निश्चत रूप से असफल ही नहीं होगा वरन् वह विरोधी पक्ष के क्रोध को भी जन्म देगा तथा देश का कोई भी सच्चा हितचिंतक तबतक ऐसे क्रोध को उसकाने का विकल्प नहीं चुनेगा जबतक कि वह नितांत अनिवार्य न हो जाए।'' इसी आधार पर गोखले सरकारी नौकरियों, सरकारी स्कूलों एवं कॉलेजों, न्यायालयों तथा परिषदों के बहिष्कार के भी विरूद्ध थे। वे तभी उसके पक्षधर थे जबकि इन विभिन्न संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं का विकल्प तालाश लिया जाए अन्यथा देशहित का समवर्धन नहीं वरन् हानि होने की सम्भावना ही अधिक थी। इसलिये गोखले स्वदेशी के साकारात्मक पक्ष के समर्थक तो थे लेकिन उसके नाकारात्मक पक्ष से सहमत नहीं थे।

2.5.3.5.प्रशासनिक सुधारों की मांग

गोपाल कृष्ण गोखले भारत में वित्तीय, प्रशासनिक तथा आर्थिक सुधारों के जबरदस्त समर्थक थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारत के भौतिक और नैतिक उत्थान के लिये तुरन्त ही सुधारात्मक कदम उठाए जाने चाहिए। उनका विचार था कि ब्रिटिश शासन के बढ़ते हुए सैनिक व्यय और गृह व्यय के कारण भारतीयों का जीवन स्तर लगातार निम्न होता जा रहा है। उन्होंने सरकार पर दबाव डाला कि वह जनकल्याण के लिये अधिक व्यय करे, सरकारी कर्मचारियों की संख्या घटाए, सैनिक व्यय कम करे तथा प्रशासनिक सुधार के लिये आवश्यक कदम उठाए। उन्होंने अपने बजट भाषण में सरकार की दोषपूर्ण नीतियों की खुलकर आलोचना की और सरकार के समक्ष रचनात्मक सुझाव रखा। उनका कहना था कि भारतीय शिक्षित वर्ग को अधिक से अधिक सरकारी सेवा में रखा जाए। गोखले ने अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के शुरू करने पर बल दिया। बनारस कांग्रेस अधिवेशन में गोखले ने प्रशासनिक सुधारों की निम्नलिखित मांगे रखी-

1. विधान परिषद् का सुधार किया जाए। उनके लिये निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर आधा कर दिया जाए।
2. इण्डिया कौन्सिल में कम से कम तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किये जाऐं।
3. देश के सभी जिलों में सलाहकार परिषदों की रचना की जाए और कलक्टर प्रशासन के महत्वपूर्ण मामलों में अनिवार्य रूप से इन परिषदों की राय ले।
4. भारतीय लोकसेवाओं की न्यायिक शाखा के लिये नियुक्तियाँ वकील वर्ग में से की जाए।
5. न्यायिक और कार्यपालिका विभागों का पृथक्करण की जाए।
6. भारी सैनिक व्यय में कटौती की जाए।
7. प्राथमिक शिक्षा का प्रसार

8. औद्योगिक तथा तकनीकी शिक्षा का प्रसार
9. ग्रामीण जनता को ऋण के बोझ से राहत देना।

2.5.3.6.राजनीति का अध्यात्मीकरण

गोखले की नैतिक और अध्यात्मिक आत्मचेतना उनके नैतिक विचारों की मूल प्रेरणा थी। वे राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन को अध्यात्मिकता से अनुरंजित करना चाहते थे। राजनीति में नैतिकता को सर्वोपरि मानते हुए गोखले ने साधन और साध्य की एकरूपता पर बल दिया। उनका विश्वास था कि राजनीति जनसेवा का साधन तभी बन सकती है जब उसका अध्यात्मिकीकरण हो जाए अर्थात् जब राजनीति नैतिकता पर आधारित हो। देश के नागरिक सामाजिक दायित्वों के प्रति जागरूक होंगे तभी देश का विकास सम्भव होगा।

उनके द्वारा स्थापित ''सर्वोण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी'' का मुख्य उद्देश्य भी राजनीति और धर्म का समन्वय करना था। सोसाइटी के संविधान में चरित्र तथा क्षमता निर्माण पर जोर दिया गया और कहा गया कि सार्वजनिक जीवन का अध्यात्मिकीकरण अनिवार्य है। गोखले स्वयं भी अध्यात्मिकीकरण के साँचे में ढ़ले हुए थे और अपनी सोसाइटी को भी उसी ढ़ाँचे में ढ़ालना चाहते थे। राजनीति में नैतिक तत्वों को महत्व देने के कारण ही गोखले को महात्मा गाँधी ने अपना नैतिक गुरु माना था।

2.5.3.7.सम्प्रदायिक एकता में अटूट विश्वास

गोखले राष्ट्रीय एकता के प्रबल समर्थक थे। गोखले भारत को नैतिक और भौतिक दोनों दृष्टियों से सबल देखना चाहते थे। अतः उन्होंने देश में सभी जाति, धर्म और सम्प्रदाय के लोगों के बीच एकता को आवश्यक माना। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता को भारत राष्ट्र के लिये सबसे अधिक आवश्यक और कल्याणकारी मानते थे। उन्होंने दोनों ही जातियों से अपील की कि वे परस्पर सहिष्णुता और आत्मसंयम से काम लें तथा आपसी मतभेदों पर जोर देने के बजाए परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना पैदा करें। उन्होंने अपने आप को ऐसी सभी स्थितियों से अलग रखा जिससे इस दो जातियों में कटुता पैदा होने की आशंका हो। सन् 1905 में उनके द्वारा स्थापित संगठन ''भारत सेवक संघ'' का एक मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एकता की भावना को मजबूत करना था।

हिन्दू-मुस्लिम एकता को वे देश की भावी प्रगति के लिये आवश्यक मानते थे। अतः वे ऐसे विवादों से हमेशा दूर रहे जो दोनों सम्प्रदायों के बीच कटुता की भावना पैदा करती है। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि ''यह भारतीय राजनीति का एक ज्वलंत सत्य है कि एक राष्ट्र के रूप में भारत का तबतक कोई भविष्य नहीं हो सकता जबतक कि समस्त सार्वजनिक विषयों में, दो बड़े समुदायों- हिन्दू एवं मुस्लमानों के मध्य सहयोग की भावना स्थायी रूप से विकसित नहीं हो जाती।''

गोखले भारत को एक बहुत समुदायवादी राष्ट्र मानते थे। अपनी इस मान्यता के कारण वे जाति, धर्म, समुदाय आदि के आधार पर प्रतिपादित किसी भी विद्वेषपूर्ण विचार को राष्ट्रीयता का निषेध मानकर उनका विरोध करते थे। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास हेतु वे हिन्दू मुस्लिम सहयोग को एक अनिवार्य शर्त मानते थे। उनकी दृष्टि में- ''देश का भविष्य निश्चित रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य सद्भावपूर्ण सहयोग पर निर्भर करता है। इन दोनों में से किसी भी समुदाय के लिये एक दूसरे से अलग हो जाना सम्भव नहीं है। इन दोनों को इसी भूमि पर एक साथ रहना है। अतः यह आवश्यक है कि दोनों एक साथ मिलकर राष्ट्र का निर्माण करें।'' उनका विचार था कि शिक्षा के प्रसार तथा राष्ट्रीय भाव की जागृति से दोनों समुदायों के बीच धीरे-धीरे एकता के सूत्र मजबूत होंगे तथा उसके आधार पर भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य

को प्राप्त करने में एक दूसरे के सहयोगी होने की भूमिका को निर्वाह करने में सक्षम होंगे। अपने इस दृष्टिकोण के कारण गोखले ऐसे किसी भी कार्य या आन्दोलन का विरोध किया जिसके फलस्वरूप इन दोनों सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक विद्वेष और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो और उसके कारण राष्ट्रीयता की भावना में बाधा उपस्थित हो। अपनी इस मान्यता के कारण गोखले तिलक द्वारा आरम्भ किये गये गणपति और शिवाजी उत्सवों का भी समर्थन नहीं किया। इसके लिये उन्हें आलोकप्रियता का शिकार भी होना पड़ा। लेकिन इसकी चिंता किये बगैर वे अपने विचारों पर दृढ़तापूर्वक कायम रहे। उनका कहना था कि ''एक राजनीतिज्ञ की दृष्टि किसी एक सम्प्रदाय या समुदाय तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, उसकी दृष्टि सम्पूर्ण राष्ट्र और उसके विकास पर केन्द्रित होनी चाहिए।''

2.5.3.8.ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा

गोखले ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान थे। गोखले अराजकता और अव्यवस्था के विरोधी थे। वे शासन को कमजोर करनेवाले किसी भी कार्य से सहमत नहीं थे। वे स्वामी भक्ति के वशीभूत होकर शासन की सदैव रक्षा तथा सहायता करने के पक्षपाती थे। अंग्रेजों के सहयोग से भारत में जिस प्रकार से प्रशासन शिक्षा एवं राजनीति चेतना का संचार हुआ था उसे देखते हुए गोखले के विरूद्ध षडयन्त्र अथवा असहयोग प्रदर्शित कर शासन को तनिक भी विकृत और दूर्बल करने के पक्ष में नहीं थे।

गोखले के अनुसार ब्रिटिश शासन से संबंध विच्छेद करना भारत के लिये न तो आवश्यक है और न ही वांछणीय। इसके विपरीत वे भारत के लिये लाभदायक घोषित कर उसे अविच्छेदनीय ही नहीं बनाना चाहते थे वरन् उसके अन्तर्गत ही भारत की उन्नति को सम्भव मानते थे। इस दृष्टि से सन् 1903 में अपने बजट भाषण में कहा कि ''भावी भारत दरिद्रता, शून्य भविष्य तथा क्षमायोग्य असन्तोष का भारत नहीं होगा वरन् विस्तृत उद्योगों, जाग्रत शक्तियों, सम्पन्नता एवं पूर्णतः भली प्रकार निरंतर सुख और समृद्धि का भारत होगा। मुझे अपने देश की चेतना और उद्देश्य में विश्वास है तथा मैं अपने देश की असीम क्षमताओं में आस्था रखता हूँ किन्तु सर्वोच्च शक्ति की अनुपस्थिति में इस भविष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता तथा ब्रिटिश ताज की सर्वोच्च सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता के अन्तर्गत भारत इस लक्ष्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता।''

ब्रिटिश सरकार की इस लोक कल्याणकारी छवि में अपनी आस्था के कारण गोखले ने बार-बार भारतीयों से यह अपिल की कि वे ब्रिटिश सरकार को अपना अधिक से अधिक सहयोग दे क्योंकि उनकी राय में ऐसा करके वे अपनी प्रगति के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ और साधन ही प्राप्त नहीं कर सकते थे वरन् उस प्रगति के माध्यम से समानता के आधार पर विश्व राष्ट्रों में एक सम्मानजनक स्थान भी प्राप्त कर सकते हैं। गोखले ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिये मुख्यतः दो कारणों से हितकारी मानते थे। प्रथम, ब्रिटिश राज ने भारत में एकता तथा शांति स्थापित की तथा द्वितीय, उसके माध्यम से ही भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रवेश सम्भव हुआ। राजनीतिक एकता, शांति और व्यवस्था तथा पाश्चात्य शिक्षा ये सभी भारत के लिये ब्रिटिश शासक की दिव्य देन थी जिनका प्रयोग करके भारत स्वयं को पुरातन रूढ़िवादी रीति-रिवाजों से मुक्त कर, पाश्चात्य जीवन के विचार और चारित्रिक गुणों को आत्मसात कर अपने सर्वांगिण विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। अपने इस मान्यता के कारण गोखले ने भारतीयों को अह्वान किया कि वे ब्रिटिश शासन के साथ अधिकाधिक सहयोग करे तथा उससे उत्पन्न होनेवाले लाभों से लाभान्वित होकर स्वयं तथा देश का उद्धार करने में संलग्न हो जाये। ब्रिटिश शासन के द्वारा उनके लिये जो लाभप्रद स्थितियाँ उत्पन्न कर दी गई है वे ब्रिटिश शासकों के साथ सहयोग कर पुरा-पुरा

लाभ उठायें तथा देश को स्वशासन प्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ाएँ ताकि अन्ततः वह उस स्वशासन के लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सके।

2.5.3.9. मानव अधिकार एवं स्वतंत्रता के समर्थक

गोखले मानव अधिकार एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने 1889 ई0 के 'ऑफिशियल सीक्रेट्स एक्ट का इम्पीरियल लेजिस्लेटिव' काँसिल में कड़ा विरोध किया क्योंकि इसके द्वारा मानव अधिकारों को सीमित तथा प्रतिबंधित करने का प्रयत्न किया गया था। वे ब्रिटिश सरकार के इस अधिनियिम से क्षुब्ध थे। उन्होंने इस स्थिति को आपत्तिजनक ही नहीं वरन् संकटों को जन्म देनेवाला बताया क्योंकि निरंकुश तथा दमनकारी कानूनों के माध्यम से व्यक्ति तथा प्रेस की स्वतंत्रता पर आक्रमणकारी शासकीय कार्यव्यवहार वस्तुतः लोकहित तथा जनमानस अवांछित प्रभाव डालता है तथा उन्हें उसका उल्लंघन करने हेतु स्वभाविक रूप से प्रोत्साहित करता है। उनका मत था कि जो सरकार जनमत के प्रति संवेदनशील नहीं होती वह अलोकप्रिय होकर संकटों से घिरी रहती है। यह अधिनियम इसी चरित्र का है। अपने दमनकारी रूप के कारण यह अधिनियम जनता में विरोध और विद्रोह की भावनाओं को जन्म देगा। अतः सरकार को ऐसी स्थिति उत्पन्न करने से बचना चाहिए।

2.5.3.10. सत्ता-विकेन्द्रीयकरण के समर्थक

गोखले सता के केन्द्रीयकरण से होनेवाले दोषों से भलीभांति परिचित थे। उनके समय में ब्रिटिश-शासन अत्यधिक केन्द्रीयकरण पर आधारित था। केन्द्र सरकार द्वारा लिये जानेवाले निर्णयों में जनता या उसके प्रतिनिधि का किसी भी तरह की भागीदारी नहीं थी। गोखले इसे जन-आकांक्षाओं की पूर्ति की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते थे और चाहते थे कि सत्ता का इस तरह से विकेन्द्रीयकरण किया जाए जिससे कि उसके कार्यकरण में जनता की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अधिक से अधिक भागीदारी सम्भव हो सके। उन्होंने ''हॉवस हाउस विकेन्द्रीकरण आयोग' के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'निम्नस्तर पर ग्राम पंचायतों' माध्यमिक स्तर पर जिला परिषदों और शिखर स्तर पर विधान परिषदों का पुनर्गठन किया जाये तथा सता का विकेन्द्रीयकरण करके उन्हें प्रशासन संचालन की दृष्टि से वास्तविक रूप में अधिकार प्रदान किये जायें।''

2.5.4.गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा

सन् 1909 में लागू किये गये ''मार्ले मिन्टो सुधार अधिनियम'' उदारवादी गोखले सहित किसी को भी संतुष्ट नहीं कर पाए थे और सभी पक्षों द्वारा एक नये अधिनियम की आवश्यकता महशूस की जा रही थी। ऐसी स्थिति में बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगटन के आग्रह पर गोखले ने वैधानिक सुधारों की एक योजना तैयार की जिसे युद्ध के बाद क्रियान्वित किया जाना था। गोखले द्वारा तैयार की गई यह योजना अगस्त 1917 में प्रकाशित हुई और उसे ही गोखले का ''राजनीतिक वसीयतनामा'' कहा गया।

2.5.4.1.प्रान्तीय शासन

प्रत्येक प्रान्त में इन बातों की व्यवस्था होनी चाहिए-

1. प्रान्तीय शासन के अध्यक्ष के रूप में गवर्नर हो जिसकी नियुक्ति इंगलैण्ड से हो।
2. गवर्नर की सहायता और परामर्श देने के लिये 6 सदस्यों की एक कार्यकारिणी हो जिसमें तीन भारतीय और तीन अंगरेज हों।
3. प्रत्येक प्रांत में एक विधानपरिषद् होनी चाहिए। जिसकी सदस्य संख्या 75 से 100 के बीच में हो, इस परिषद् के कम से कम आधे सदस्यों का चुनाव विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों और विशिष्ट वर्गों द्वारा किया जाए।
4. प्रांत की कार्यकारी सरकार और इस प्रकार गठित विधान परिषद् का आपसी संबंध वैसा ही हो जैसा जर्मनी में इम्पीरियल गवर्नमेण्ट तथा व्यवस्थापिका (रशिस्टैग) के बीच है। विधान परिषद् को प्रान्त के लिये कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त हो एवं प्रान्तीय काराधान में कमी या वृद्धि करने के लिये परिषद् की अनुमति आवश्यक होगी।
5. इस प्रकार पुनर्गठित हो जाने पर विधान परिषद् के नियंत्रण में काम करनेवाली इस प्रान्तीय सरकार को प्रांत के आन्तरिक प्रशासन का पुरा भार सौंप दिया जाना चाहिए और उसे वस्तुतः स्वतंत्र वित्तीय शक्तियाँ प्रदान कर देनी चाहिए।
6. प्रांत्तीय स्वशासन की यह योजना उस समय तक अधुरी रहेगी जबतक उसके साथ ये दो काम न किये जाएँ-

(क) जिला प्रशासन को उदार रूप दिया जाए। इसके लिये जिलाधीश के साथ अंशतः निर्वाचित और अंशतः मनोनीत छोटी जिला परिषद् जोड़ दी जानी चाहिए।

(ख) स्थानीय स्वशासन का अत्यधिक विस्तार किया जाना चाहिए और ये संस्थाएँ (ग्राम पंचायत, म्युनिसिपल बोर्ड, ताल्लुका बोर्ड और जिला बोर्ड) अपने कत्र्तव्यों का समुचित रूप से निर्वाह कर सके।

2.5.4.2.केन्द्र प्रशासन अर्थात् भारत सरकार

1. केन्द्र शासन को प्रान्तीय शासन का नियंत्रण केवल नाममात्र के लिये होगा। अतः यह सुझाव दिया गया कि विभागों का पुनर्गठन करते हुए केवल 6 विभाग और इस प्रकार 6 ही सदस्य होने चाहिए-

(प) आंतरिक मामला (पप) वित्त (पपप) प्रतिरक्षा (पअ) विधि (अ) संचार (अप) विदेश। इसमें कम से कम दो सदस्य भारतीय होने चाहिए।

1. केन्द्र की विधान परिषद् का नाम भारत की विधान सभा कर दिया जाना चाहिए। विधानसभा की शक्तियाँ बढ़ा देनी चाहिए तथा सदस्यों की संख्या बढ़ाकर लगभग 100 कर देनी चाहिए।
2. इस प्रकार गठित भारत सरकार को वित्तीय मामलों में भी भारत सरकार पर भारत मंत्री का नियंत्रण कम कर दिया जाना चाहिए। भारत-मंत्री की परिषद् समाप्त कर दी जानी चाहिए और उसकी स्थिति धीरे-धीरे उपनिवेश मंत्री के समान होनी चाहिए।

2.5.4.3.अन्य सुझाव

(1) स्थल सेना तथा नौ-सेना में अब भारतीयों को अधिकारी पद दिये जाने चाहिए।

(2) इस योजना में मुसलमान तथा अन्य अल्पसंख्यकों को पृथक तथा प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया था।

2.5.5.गोखले का आर्थिक विचार

गोखले न केवल एक रचनात्मक राजनीतिज्ञ वरन एक सुलझे हुए अर्थशास्त्री भी थे। डा0 वर्मा के शब्दों में गोखले इतिहास के जानकार तथा अर्थशास्त्र के आचार्य थे। दादा भाई नौरोजी की भाँति उन्हें भी राजनीतिक के आर्थिक आधारों के अध्ययन में रूचि थी। इसी कारण उन्हें भारत सरकार का गैर सरकारी वित्तीय सलाहकार कहा जाता था। उनके प्रमुख आर्थिक विचारों का उल्लेख अग्रलिखित है-

2.5.5.1.भारत में भारी सैनिक और प्रशासनिक व्यय में कमी का आग्रह

गोखले भारतीय जनता की निरंतर बढ़ती हुई गरीबी को देखकर बहुत चिंतित थे। उनकी दृष्टि में इसका मूल कारण था भारत का सैनिक व्यय बहुत अधिक था और नागरिक प्रशासन के क्षेत्र में भी यूरोपीयन अधिकारियों को उँचे-उँचे वेतन देने से जनता के कल्याण के लिये कुछ नहीं हो पाता था। उन्होंने सुझाव दिया कि ''आरक्षित'' सेना की स्थापना करके सैनिक व्यय में कमी की जानी चाहिए। सैनिक व्यय और प्रशासनिक व्यय में कमी करने के लिये उन्होंने सेना तथा नागरिक सेवाओं के भारतीयकरण करने की मांग की।

2.5.5.2.भारत में रेलों के विस्तार को प्राथमिकता देने पर रोक

उन्होंने रेल सेवाओं के विस्तार पर होनेवाले भारी व्यय पर भी प्रबल विरोध किया। सच तो यह था कि ब्रिटिश सरकार रेलों का विस्तार मनोवांछित कारणों से नहीं बल्कि भारत का आर्थिक शोषण करने के उद्देश्य से कर रही थी। रेलों के मदद से भारत के गाँव और कस्बों से अनाज और कच्चा माल बन्दरगाहों तक और वहाँ से विदेश भेजा जाता था तथा विदेश से जो फैन्सी माल आयात किया जाता था उस अनावश्यक समान को गाँवों और कस्बों में ऊँचे मूल्य पर बेचा जाता था। आयात किया गया माल स्वदेशी उद्योग को नष्ट कर रहा था तथा दस्तकारों और छोटे शिल्पकारों को लघु उद्योग से हटाकर कृषि कार्य में धकेल रहा था।

2.5.5.3.मुक्त व्यापार की नीति के प्रति आशंकाएँ एवं विरोध

गोखले ने स्वतंत्र व्यापार की नीति का कड़ा विरोध किया और कहा कि भारत पर लादी गई इस नीति ने देश के सभी उद्योगों का नाश कर दिया है। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि लोग फिर से खेती के लिये विवश होने के कारण दिन-प्रतिदिन और गरीब होते जा रहे थे। विदेशी मशीनों की प्रतियोगिता में भारत के पुराने मशीन टिक नहीं पा रहे थे और इन सभी कारणों से देश की प्रगति रूक गई थी।

2.5.5.4.कृषि में सुधार पर बल

गोखले सभी ग्रामीणों और विशेषतया कृषकों की ऋणग्रस्तता से अत्यधिक चिंतित थे। गोखले जानते थे कि भारतीय कृषि अत्यंत विपरीत परिस्थितियों का सामना कर रही है। अतः वे कृषि के क्षेत्र में उत्पादन की तकनीकों में सुधार, उत्पादन कार्य हेतु बीज-खाद और सिंचाई के रूप में समुचित साधनों की व्यवस्था और उत्पादित माल के विक्रय आदि के संदर्भ में कृषकों के हितों की रक्षा के लिये राजकीय हस्तक्षेप को उचित मानते थे।

2.5.5.5.जनता पर करों के भार को कम करने पर बल

गोखले भारतीय जनता पर ब्रिटिश शासन के अधीन करों के भारी बोझ से बहुत क्षुब्ध थे। इस संबंध में उन्होंने ब्रिटिश शासन की आलोचना करते हुए अपने कुछ सुझाव दिये जिसमें प्रमुख थे- आकाल के समय भू-राजस्व की पूर्णतया माफी, आयकर से मुक्ति की सीमा में वृद्धि, सूती वस्त्र पर उत्पादन शुल्क समाप्त करने, नमक कर में कमी करने और अंत में पूर्णतया समाप्त करना आदि।

2.5.5.6.औद्योगिक विकास पर बल

गोखले ने कृषि के साथ ही औद्योगिक विकास पर बल दिया और कहा कि इस क्षेत्र में की गई अवहेलना भारतीय अर्थव्यवस्था के लिये बड़ी घातक होगी। उन्होंने देश के उद्योगपतियों से अपील की कि उद्योग में लगे श्रम में अधिकाधिक कुशलता लाने का प्रयन किया जाए। उत्पादन बढ़ाया जाए तथा भारतीय मालों का विदेशों में मण्डियाँ खोली जाए। उद्योगों में भारत के मध्यमवर्गीय शिक्षित युवकों की नियुक्ति को प्रोत्साहन दिया जाए जिससे एक ओर तो बेरोजगारी से राहत मिले, दूसरी ओर देश के शिक्षित वर्ग को एक नई दिशा में प्रशिक्षण प्राप्त हो जिससे ओद्योगिकरण के युग में एक नई पीढ़ी तैयार हो सके।

2.5.6. गोखले का सामाजिक विचार

यद्यपि गोखले समाज-सुधार आन्दोलन में तिलक के समान सक्रिय भाग नहीं लिया, किन्तु वे सच्चे समाजसुधारक थे। वे रूढ़िवादिता के प्रबल विरोधी थे एवं दलित जातियों के उत्थान के समर्थक थे। वे सामाजिक सहिष्णुता तथा सद्भावना के प्रतीक थे। उन्होंने हिन्दू में व्याप्त संकीर्णता का विरोध किया। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के मध्य मधुर सामाजिक संबंधों की स्थापना उनका ध्येय था। वे धर्म निरपेक्षता के उपासक थे तथा जाति व्यवस्था को प्रगति की प्रतिगामी विचारधारा मानते थे। वे धार्मिक रूढ़िवाद से उपर उठकर सोचने में सक्षम थे। हम उनके विचारों को निम्नलिखित शीर्षक के माध्यम से समझ सकते हैं।

2.5.6.1. सामाजिक सहिष्णुता और सद्भावना के प्रतीक

गोखले सामाजिक सहिष्णुता, समानता और सद्भाव के प्रबल समर्थक थे इस दृष्टि से समाज में व्याप्त जाति - व्यवस्था और अस्पृश्यता की भावना के वे प्रखर विरोधी थे। भारत में दलित वर्ग के उद्धार के प्रति वे विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। उनकी मान्यता थी कि जबतक हमारे देश में दलितों को उसके सभी अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते, तबतक हम अंग्रेजों से अपने लिये समान अधिकार की मांग नहीं कर सकते। अतः गोखले एक समाज सुधारक के रूप में भारत में व्याप्त जातिय भेदभाव- आधारित अस्पृश्यता की भावना का अंत करना चाहते थे। इस दृष्टि से जातिय समानता के आधार पर किसी भी प्रकार की संकीर्णता को समाप्त करना चाहते थे तथा समाज के हर वर्ग को विशेषरूप से दलित वर्ग के अधिकार के प्रबल समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि जबतक दलितवर्ग का उद्यार नहीं हो जाता और जातिय समानता की स्थिति कायम नहीं हो जाती, तबतक देश स्वशासन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

2.5.6.2. नस्ल या रंगभेद के विरोधी

गोखले जातीय असमानता की तरह नस्ल तथा रंगभेद के भी विरोधी थे। इसी कारण से उन्होंने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में दक्षिणी अफ्रिका में चलनेवाले नस्ल तथा रंगभेद विरोधी आन्दोलन का समर्थन किया तथा उसे उचित ठहराया। उनकी जातिय समानता का यह मत भी एक आवश्यक अंग था। रंग, धर्म, जाति, वर्ण, आदि विभिन्न प्रकार की मानवीय असमानताओं के वे विरोधी और सभी तरह की

मानवीय समानताओं या सम्पूर्ण मानव के समानता के वे एक निष्ठावान समर्थक थे। तथा इस समानता को वे मानव समाज की उन्नति के लिये आवश्यक मानते थे।

2.5.6.3. धार्मिक सहिष्णुता और एकता के समर्थक

गोखले न सिर्फ हिन्दू समाज में व्याप्त जातिए असमानता और असहिष्णुता के विरोधी थे वरन् वे बहुलधर्मवादी, भारतीय समाज की पूर्ण समानता और एकता के भी प्रबल समर्थक थे। इस दृष्टि से वे अपने गुरु महादेव गोविन्द राणाडे के इस कथन में विश्वास करते थे तथा इसे अपना मार्गदर्शक सिद्धांत मानते थे जिसके अनुसार उन्होंने कहा था कि ''भविष्य का भारत केवल हिन्दू और मुस्लिम भारत नहीं होता। इस समय में वे सभी धार्मिक समुदाय सम्मिलित होंगे जो विद्यमान है, चाहे वे हिन्दू-मुसलमान, इसाई या फारसी हों।'' अपनी इसी मान्यता को उन्होंने अपने द्वारा स्थापित 'भारत सेवक संघ' के संविधान में भी उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया। वे इस दृष्टि से सभी तरह की संकीर्ण धार्मिक भावनाओं से उपर उठकर एक ऐसे उच्चतर मानव धर्म की कल्पना करते थे जो उदार मानवीय मुल्यों पर आधारित हो। ऐसे उदार मानव धर्म की कल्पना को धार्मिक समभाव का दृष्टिकोण अपनाकरके ही साकार किया जा सकता है। अतः वे इस दृष्टि से सभी धर्मों को माननेवालों को समान तथा उसमें धार्मिक भावना को प्रबल बनाना चाहते थे। उनके अनुसार इसी में भारत का ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व का उज्ज्वल भविष्य निहित है। उनकी राय में बिना धार्मिक एकता के लक्ष्य को प्राप्त किये भारत के लिये स्वशासन के लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन ही नहीं, असम्भव था।

गोखले अपनी उदारवादी मान्यताओं के कारण धार्मिक तथा सामाजिक उदारता-आधारित, सहिष्णुता, सद्भाव और एकता के प्रबल पक्षधर थे और चाहते थे कि भविष्य के भारत का इन्हीं आदर्शों के आधार पर निर्माण किया जाए। वे एक राजनीतिज्ञ ही नहीं सामाजिक उदारवादी भी थे तथा उदार और सहिष्णु मानवता के परम विश्वासी थे।

2.5.7.गोपाल कृष्ण गोखले का योगदान

गोखले राजनीति के क्षेत्र में नैतिकता के मार्ग पर चलने के पक्षधर थे। सार्वजनिक नेता के रूप में उनका ध्येय राजनीति को अध्यात्मिक रूप देना था। स्वभाव से वे अध्यात्मवादी थे, आदर्शवाद में उनका विचार था और वे उच्च नैतिक मापदण्डों पर चला करते थे। आलोचकों के अनुसार गोखले के विचारों की आलोचना भी की गई है। आज की परिस्थिति में गोखले के विचारों की भले ही आलोचना की जाए पर तत्कालीन परिस्थिति में उनका चिंतन और कार्य नितांत औचित्यपूर्ण और व्यवहारिक थे। प्रत्येक परिस्थिति में शांतिपूर्ण आचरण उनके स्वभाव का अनिवार्य अंग थे। राजनीति में कमी भी उन्होंने उग्र उपायों का समर्थन नहीं किया। भारतीय राजनीति में उनके चिंतन और योगदान बहुत अधिक महत्वपूर्ण है जिसका उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है-

2.5.7.1.ब्रिटिश शासन के दोष प्रगट करना

गोखले उदारवादी थे लेकिन ब्रिटिश शासन की आलोचना करने में उन्होंने सदैव ही आत्मनिर्भरता का परिचय दिया है। उन्होंने ब्रिटिश शासन के साम्राज्यवादी रवैये और नौकरशाही के हाथों में शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रबल आलोचना की। अत्यधिक सैनिक व्यय, भारी कर भार, उच्च नौकरशाही के अभारतीय स्वरूप, विधान सभाओं के दोषपूर्ण गठन और अपर्याप्त अधिकारों पर उन्होंने सदैव ही भारी विरोध प्रकट किया। उन्होंने जिस प्रकार से ब्रिटिश शासन के दोष को स्पष्ट किया उससे ब्रिटिश सरकार का विरोध करने की प्रेरणा मिली।

2.5.7.2.भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा

गोखले की एक अन्य महत्वपूर्ण देन भारतीय जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना है। उन्होंने भारतीय जनता की व्यक्तिगत स्वाधीनता, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना, आर्थिक और सामाजिक सुधार और अंत में स्वशासन की मांग करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने भारतीय जनता में राजनीतिक प्रश्नों के प्रति जागृति उत्पन्न की।

2.5.7.3.भारतीय राष्ट्रीयता के जनक

जिन व्यक्तिओं को भारतीय राष्ट्रीयता का जनक कहा जा सकता है उसमें गोखले का नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने देशवासियों को शिक्षा दिया कि वे साम्प्रदायिक और प्रान्तीय धरातलों से उपर उठकर सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को अपने हृदय में विकसित करें।

2.5.7.4.उपयोगी आर्थिक चिंतन

गोखले भारतीय स्वशासन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं आर्थिक दृष्टि से भी आवश्यक मानते थे। क्योंकि तभी सार्वजनिक वित्त का अधिकांश भाग प्रशासनिक तथा सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यय किये जाने के बजाए जनकल्याणकारी कार्यों पर किये जाने की व्यवस्था संभव थी। अतः उन्होंने ब्रिटिश शासन की शोषणकारी कर नीति, भारी भरकम प्रशासनिक तथा सैन्य व्यवस्था पर सार्वजनिक राजस्व की व्यय नीति पर जमकर प्रहार किया तथा उसकी कड़ी आलोचना करते हुए उसमें कमी करने की मांग की ताकि उसका बड़ा भाग जन कष्ट निवारण हेतु जन-कल्याणकारी कार्यों के आयोजन पर व्यय किये जाने की व्यवस्था की जा सके। गोखले के मस्तिष्क में भारतीय शासन का स्वरूप जनकल्याणकारी राज्य का था जिसे वे प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से धीरे-धीरे उसे साकार करने के लिए प्रयत्नशील थे।

गोखले न केवल राजनीति बल्कि इतिहास और अर्थशास्त्र के भी बहुत बड़े पण्डित थे। उनका आर्थिक चिंतन इस बात का परिचायक है कि उन्हें आर्थिक मामलों में स्पष्ट और गहरी दृष्टि प्राप्त थी।

2.5.7.5.राजनीति का अध्यात्मिकीकरण

भारतीय राजनीति चिंतन को गोखले की सबसे बड़ी और स्थायी देन राजनीति का अध्यात्मिकीकरण है। साध्य ही साधनों का औचित्य है। सी0वाई0 चिन्तामणि जो गोखले को अपना गुरु मानते थे। उनके अनुसार, ''गोखले बौद्धिक रूप से इतने इमानदार थे कि वे पहले अपने आप से अच्छी तरह जिरह किये बिना कभी कोई राय प्रकट नहीं करते थे। राजनीति में नैतिक शुद्धता के सिद्धांत का उन्होंने न केवल प्रतिपादन किया वरन् स्वयं अपने सार्वजनिक जीवन में सम्पूर्ण अंशों में अपनाया था। उनकी इस अवधारणा ने ही महात्मा गाँधी को उन्हे ं अपना राजनीतिक गुरू मानने हेतु प्रेरित किया।

2.5.7.6.भारत सेवक समाज की स्थापना-

गोखले की एक अन्य महत्वपूर्ण देन ''भारत सेवक समाज'' की स्थापना है। भारत के विभिन्न प्रान्तों के योग्य तथा शिक्षित व्यक्ति इस संस्था में शामिल किये गये तथा उन्हें देश के लिये समर्पण भाव को अपनाने हेतु प्रेरित किया गया। समाजसुधार के कार्य में उनकी तीव्र रूचि थी। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध समाज सुधारक आगरकर के समाज सुधार कार्य में उन्होंने पूर्ण सहयोग दिया।

2.5.7.7. एक सफल विधायक

गोखले सिर्फ एक महान उदारवादी नेता ही नहीं वरन् एक सफल विधायक भी थे तथा इस रूप में उन्होंने बहुत ही सार्थक भूमिका का निर्वाह भी किया। इस दृष्टि से उनके चरित्र के तीन आधारभूत गुण थे-

पहला, सुक्ष्मपरीक्षण दूसरा, सबल अभिव्यक्ति और तीसरा, आडम्बररहित शिष्टाचार। इन्हीं गुणों के आधार पर इम्पीरियल लेजिस्लेटिंव काँसिल में उनके द्वारा किये गये भाषण महत्वपूर्ण और सभी प्रशसा के पात्र होते थे। उनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य तर्क और आँकड़े विशेषकर आर्थिक विषयों, शिक्षा संबंधित विषयों की दृष्टि से प्रमाणिक माने जाते थे तथा उन्हें बिना किसी संदेह के स्वीकार किया जाता था। जनता के हितों को वे जिस प्रभाव पूर्ण ढंग से अभिव्यक्ति करते थे उनका शासकों के पास कोई उत्तर नहीं होता था। भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन उनके प्रहारों से आहत होकर आनन्द का अनुभव करते थे।

ब्रिटेन तथा भारत सभी स्थानों पर कार्यरत अंग्रेज अधिकारी भी गोखले की प्रभावपूर्ण तर्कशक्ति और विषय के प्रस्तुतीकरण के कायल थे। डॉ0 रमेशदत्त के शब्दों में- ''आखिर काँसिल में हमारा भी एक ऐसा पक्ष लेनेवाला शूरवीर है जो अपने देश तथा उनके निवासियों के पक्ष को जोरदार ढंग से प्रस्तुत कर अपने विरोधियों को निरूत्तर कर देता है।''

2.5.7.8. जन कल्याण कार्यों पर बल

गोखले भारतीय स्वशासन के लक्ष्य की प्राप्ति सिर्फ राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं आर्थिक दृष्टि से भी आवश्यक समझते थे क्योंकि तभी सार्वजनिक वित्त का अधिकांश भाग प्रशासनिक तथा सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यय किये जाने के बजाए जनकल्याणकारी कार्यों पर किये जाने की व्यवस्था सम्भव थी। अतः उन्होंने ब्रिटिश शासन की शोषणकारी कर नीति भारी भरकम प्रशासनिक तथा सैन्य व्यवस्था पर सार्वजनिक राजस्व की व्यय नीति पर जमकर प्रहार किया तथा उसकी कड़ी आलोचना करते हुए उसमें कमी किये जाने की मांग की ताकि उसका बड़ा भाग जन-कष्ट निवारण हेतु जन कल्याणकारी कार्यों के आयोजन पर व्यय किये जाने की व्यवस्था किये जा सके। गोखले के मन में जो प्रशासनिक सुधारों का स्वरूप था वह अनिवार्य रूप से जनकल्याणकारी राज्य का रूप था। अतः उसे वे प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से धीरे-धीरे उस रूप को प्राप्त करना चाहते थे।

2.5.7.9. सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के समर्थक

गोखले सत्ता के केन्द्रीयकरण में नहीं विकेन्द्रीयकरण में विश्वास रखते थे। वे केन्द्रीकृत ब्रिटिश शासन को अधिकृत सीमा तक केन्द्रीयकृत कर सत्ता को ग्राम, जिला तथा प्रान्तीय स्तर तक ले जाना चाहते थे ताकि शासन संचालन में लोगों की अधिक से अधिक भागीदारी हो सके। केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त एक विकेन्द्रित शासन व्यवस्था की उनकी दृष्टि में एक आदर्श व्यवस्था थी। इसके लिये वे जीवन पर्यन्त प्रयासरत रहे। इस प्रकार निश्चय ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विकासक्रम में गोपाल कृष्ण गोखले का योगदान महान ही नही अविस्मरणीय है।

2.5.8.मूल्यांकन

एक ओर गोखले को अपने जीवनकाल में भारत और इंगलैण्ड में भारी सम्मान प्राप्त हुआ लेकिन दूसरी ओर अनेक अवसरों पर तथा विविध पक्षों द्वारा उन्हें बहुत गलत भी समझा गया। गोखले के उदारवादी विचारधारा के कारण भारत के गरमदलीय उन्हें ''एक दुर्बल हृदय उदारवादी'' कहते थे जो ब्रिटिश सरकार के हाथ में जान बुझकर हथियार बनाने के लिये तैयार थे। दूसरी तरफ उनकी देशभक्ति के कारण ब्रिटिश सरकार तथा प्रतिक्रियावादी तत्व ''एक छिपा हुआ राजद्रोही'' समझते थे। वास्तव में वे न तो एक छिपे हुए राजद्रोही थे और न ही एक दुर्बल हृदय उदारवादी। ब्रिटिश शासन की समर्थन-नीति

उनकी दुर्बलता का नहीं वरन् उस समय के राजनीतिक यथार्थवाद तथा देशहित की भावना पर आधारित था। अतः उनके संबंध में कहा गया है कि वे शासक और शासित दोनों के मित्र थे। अपनी उदारवादी निष्ठाओं तथा ब्रिटिश शासकों को उनका समर्थक मानकर उनके प्रति प्रशंसात्मक दृष्टिकोण रखने के बावजूद वे उनके द्वारा किये जाने वाले जनहित विरोधी शोषक और दमनात्मक कार्याें की सख्त से सख्त आलोचना करने से पीछे नहीं रहते थे।

गोखले वस्तुतः एक सच्चे मानववादी और मनुष्य जाति के हितैषी थे। उनके मन में किसी के प्रति कोई विद्वेष की भावना नहीं थी। उनका दृष्टिकोण विस्तृत और समन्वयवादी था और यही उनके चरित्र की विलक्षणता थी। उनकी देशभक्ति सभी संदेहों से परे थी और इसी कारण उनके अनुयायी ही नहीं उनके विरोधी भी उन्हें सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वे विवेक, ज्ञान और त्याग की मूर्ति थे। बौद्धिक प्रखरता, देश और समाज सेवा की भावना का उनमें अद्भूत संगम था। इसीलिए वे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में सदैव संविधानवाद, नैतिकतावादी आग्रहों और जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति असंदिग्ध आस्था रखने वाले शिखर पुरूष के रूप में याद किये जायेंगे।

गोखले एक रचनात्मक नेता थे जो भारतीय जनता के अधिकारों और स्वतंत्रता के लिये लड़ते थे किन्तु उनमें प्रशासनिक उत्तरदायित्व की भावना भी थी और वे भारत सरकार की कठिनाइयों को भी नजरअंदाज करने को तैयार नहीं थे। डा0 पट्टाभि ने गोखले के संबंध में लिखा है, ''वास्तव में न तो वे दुर्बल हृदय उदारवादी थे और नहीं छिपे हुए राजद्रोही। वे तो जनता और सरकार के बीच एक सच्चे मध्यस्थ थे। वे जनता की इच्छाएँ, आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ सरकार को बताते थे और सरकार की कठिनाइयाँ जनता तथा कांग्रेस के सम्मुख रखते थे।'' तिलक के अनुसार वे 'भारतरत्न' थे।

2.5.9. कठिन शब्दावली

मूलाधार - मूल आधार
स्वशासन - अपना शासन, स्वयं का शासन
रूढ़िवादी - पुराने विचारों को पकड़े रहना
निरंकुश - क्रूर, बिना अंकुश का
अध्यात्मिकीकरण - धार्मिक प्रवृति को जगाना

2.5.10. अभ्यास प्रश्न

बहु विकल्पीय प्रश्न

1. गोखले ने अपना राजनीतिक जीवन किस व्यक्ति के शिष्य के रूप में आरम्भ किया-
   (अ) महादेव गोविन्द रानाडे (ब) दादा भाई नौरेजी
   (स) फिरोज शाह मेहता (द) बाल गंगाधर तिलक
2. भारतीय राजनीति में गोखले के सबसे प्रमुख शिष्य थे-
   (अ) जवाहरलाल नेहरू (ब) मोतीलाल नेहरू
   (स) महात्मा गाँधी (द) श्रीमती सरोजनी नायडू
3. गोखले ने काँग्रेस अध्यक्ष पद को सुशोभित किया-
   (अ) 1904 ई0 में (ब) 1905 ई0 में

(स) 1906 ई0 में (द) 1907 ई0 में

4. 'सर्वेण्टस ऑफ इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना के माध्यम से गोखले ने प्रतिष्ठित किया -
(अ) सामाजिक सुधारों की आवश्यकता को
(ब) आर्थिक सुधारों की गम्भीर आवश्यकता को
(स) भारतीयों में उनके सांस्कृतिक गौरव को
(द) राजनीति के अध्यात्मिकीकरण को

5. गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचारों का प्रमुख स्वर है-
(अ) राष्ट्रवाद
(ब) सामाजिक न्याय
(स) भारतीयों में आत्मनिर्णय के अधिकार की उद्घोषणा
(द) उदारवाद

6. गोखले की राजनीतिक विचारधारा का लक्ष्य था-
(अ) भारत की ब्रिटिश शासन से तत्काल मुक्ति
(ब) भारत के शासन में, भारतीयों के वास्तविक नियंत्रण के लिये राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधार
(स) ब्रिटिश संसद में भारतीयों को प्रभावी प्रतिनिधित्व
(द) भारत में पूर्ण सम्प्रभुता को ब्रिटिश सरकार की मान्यता।

उत्तर- (1) (अ), (2) (स), (3) (ब), (4) (द), (5) (द), (6) (ब)

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. स्वदेशी के संबंध में गोखले और तिलक के विचारधारा में क्या अंतर है?
2. भारत में गरमदलीय गोखले की आलोचना करते हुए उन्हें क्या कहते थे?
3. गोखले ने किस संस्था की स्थापना की?
4. गोखले के राजनीतिक वसीयतनामा का आशय क्या है?
5. गोखले की देन के प्रसंग में कुछ प्रमुख बातें लिखिए।
6. भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में गोखले को किस रूप में जाना जाता है?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. गोखले के राजनीतिक चिंतन और कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. गोखले के राजनीतिक वसीयतनामा पर टिप्पणी लिखिए।
3. एक उदारवादी नेता के रूप में गोखले का मुल्यांकन कीजिए और भारतीय राजनीति में उनकी देन बताइए।
4. ''गोखले एक अर्थशास्त्री थे।'' इस कथन पर प्रकाश डालते हुए गोखले के चिंतन और कार्यों का वर्णन करें।
5. इस कथन को स्पष्ट कीजिए कि ''वे सबसे प्रमुख उदारवादी थे।''

2.5.11. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. फाड़िया डॉ० बी० एल०, 2008, राजनीति चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा पृष्ठ संख्या 108-114
2. वर्मा, डॉ० वी० पी०, 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, पृष्ठ संख्या- 216-225
3. जैन डॉ० पुखराज एवं मेहता प्रो0 जीवन, 2008, राजनीति विज्ञान, एस बी पी डी पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ठ सं0 112-116 ISBN-978-93-5767-176-3
4. डा0 पुरुषोत्तम नागर: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
5. प्रो0 ज्योति प्रसाद सूद: आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएं, जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ
6. अवधेश कुमार चतुर्वेदी, गोपाल कृष्ण गोखले, नई दिल्ली, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, 1999
7. डी0 बी0 माथुर, गोखले, ए पॉलिटिकल बायोग्राफी, बाम्बे, पी0 सी0 मानकताला एण्ड सन्स, 1966
8. डॉ0 रामजी लाल एण्ड एस. बी. दीक्षित इण्डियन पॉलिटिकल थॉट करनाल, नटराज पब्लिशिंग हाउस, 1998
9. डॉ0 एस0एस0 नन्दा एण्ड वी0 के0 पुरी, भारतीय राजनीतिक चिन्तन, मॉडर्न पब्लिशर्ज, जालन्धर, 2000

खण्ड-3 : आदर्शवादीउग्र राष्ट्रवादी चिंतन/
इकाई-1: भारत में आदर्शवादीउग्र राष्ट्रवादी चिंतन का स्वरूप/ : बाल गंगाधर तिलक

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. जीवन परिचय
3.1.3. तिलक की रचनाएँ
3.1.4. तिलक की तत्वशास्त्रीय तथा धार्मिक विचार
3.1.5. तिलक के शैक्षणिक विचार तथा कार्यकलाप-
3.1.6. तिलक के समाज सुधार संबंधी विचार
3.1.6.1. समाज सुधार के स्वाभाविक विकास का समर्थन
3.1.6.2. सामाजिक सुधार से पूर्व राष्ट्रीय जागरण और राजनीतिक स्वतंत्रता का समर्थन
3.1.6.3. सामाजिक-धार्मिक मामलों में नौकरशाही के हस्तक्षेप का विरोध
3.1.6.4. राजनीतिक आंदोलन तथा समाजसुधार की पृथकता का दृष्टिकोण-
3.1.6.5. जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, बालविवाह-, विधवा विवाह संबंधी-विचार
3.1.7. तिलक का राजनीतिक दर्शन
3.1.7.1 .तिलक का राष्ट्रवाद और पुनरूत्थान
3.1.7.2 .तिलक का राजनीतिक उग्रवाद या आक्रामक राष्ट्रवाद
3.1.7.3 .शांति सम्मेलन को ज्ञापन
3.1.7.4कां .ग्रेस डेमोक्रेसी पार्टी का घोषणा पत्र
3.1.7.5 .तिलक का स्वराज्य
3.1.8. तिलक का आर्थिक विचार
3.1.9. तिलक का क्रांतिकारी विचार
3.1.10. तिलक का स्वराज्य दर्शन
3.1.11. तिलक तथा गांधी के राजनीतिक चिंतन में अंतर
3.1.12. तिलक का योगदान
3.1.12.1. व्यक्तित्व और चरित्र का आदर्श उदाहरण
3.1.12.2. भारतीय राष्ट्रवाद के जनक
3.1.12.3. स्वराज्य के मौलिक अवधारणा का प्रतिपादन
3.1.12.4. महान लोकतंत्रवादी
3.1.12.5. कांग्रेस का कायाकल्प-
3.1.12.6. गीता का प्रवृतिमार्गी भाष्य
3.1.13. सारांश
3.1.14. पारिभाषिक शब्दावली

3.1.15. बोध प्रश्न

3.1.16. संदर्भ ग्रंथ सूची

3.1.0. उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप

- तिलक के जीवन के बारे में जान सकेंगे।
- तिलक के रचनाओं के बारे में जान सकेंगे।
- तिलक के तत्वशास्त्रीय तथा धार्मिक विचार के बारे में जान सकेंगे।
- तिलक के शैक्षिक विचार तथा क्रियाकलाप के बारे में जान सकेंगे।
- तिलक के समाज सुधार संबंधी विचार समझ सकेंगे।
- तिलक के राजनीति दर्शन को समझ सकेंगे।
- क्या तिलक एक क्रांतिकारी थे? इस बात की पुष्टि हो सकेगी।
- तिलक के आर्थिक विचार को समझ सकेंगे।
- तिलक के स्वराज्य दर्शन को समझ सकेंगे।
- तिलक और गांधी जी के विचारों में अंतर को समझ सकेंगे।

3.1.1. प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन का उदय एक ऐतिहासिक संदर्भ में हुआ थाजो काफी , चलता रहा। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन सभ्यता के गंभीर संकट की उपज है। लंबे समय तक भारतीय सभ्यता की सृजनात्मक प्रतिभा कुंठित हो गई थी। इसीलिए देश का राजनीतिक विघटन हुआ। उसका उद्देश्य तात्कालिक प्रत्यक्ष सामाजिक तथा राजनीतिक क्रियाकलाप को प्रभावित करना था। - प्रयोजन नैतिक निश्चितता की खोज करना था। यद्यपि जो बुनियादी समस्याएँ भारतीय उसका मुख्य राजनीतिक चिंतन का विषय है उनकी उत्पत्ति समकालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से हुई है, तथापि भारतीय राजनीतिक चिंतन का प्रमुख विषय राष्ट्रवाद रहा है। राष्ट्रवाद के कारणों तथा उसके अंगों का सांगोपांग विवेचना की गई है। राष्ट्र, राज्य, जनता, राष्ट्रजाति तथा राष्ट्रवाद के बीच भेद को समझने का भी कुछ प्रयत्न किया गया है।

भारत में 19 वीं शताब्दी के मध्य तथा उत्तरार्द्ध को जागृति का युग कहा जाता है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात हुआ और भारत को विदेशी सत्ता से स्वतंत्रता मिली। यह राजनीतिक जागरूकता भारतीय जागरण का एक अंग थी। डॉजकारिया का विचार है कि . भारत कीपुनर्जागृति मुख्यतया आध्यात्मिक थी। इसने राष्ट्र के राजनीतिक उद्धार के आंदोलन का रूप धारण करने से बहुत पहले अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधारों का सूत्रपात किया। अर्थात् धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में भारतीय राष्ट्रीय जागरण का प्रादुर्भाव हुआ। इसीलिए एनी

बेसेंट ने कहा था कि ''इस विराट आंदोलन के पीछे शताब्दियों का इतिहास है।'' भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रथम चरण को उदारवादी आंदोलन कहते हैं, जिसकी अवधि 1885 ई से .1905 ई. तक मानी जाती है। इस काल में कांग्रेस की स्थापना हुई और भारतीयों ने शासन में क्रमिक सुधार की माँग की।

कांग्रेस का शैशव काल 1885-1905उदारवाद का युग था। इसपर नरम या उदार विचार के व्यक्तियों का नियंत्रण था। जबकि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दूसरे चरण की शुरूआत उग्रवादी राजनीति के उदय के साथ होती है। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20 वीं शताब्दी के प्रारंभ में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी जिनसे नरम दल के सुधारवादी और शांतिवादी कार्यों के प्रति भारतीय नवयुवकों में एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई। उनके दृष्टिकोण तथा मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन होने लगे। अंग्रेजों की न्यायप्रियता से उनका विश्वास उठ गया और वे वैधानिक साधनों तथा कांग्रेस की भिक्षावृत्ति की नीति से ऊब गए। इसीलिए उन्होंने उग्र साधनों को अपनाए जाने का समर्थन किया। उन्होंने क्रमिक सुधारों के स्थान पर पूर्ण स्वराज्य (स्वराज) की माँग की तथा उसको अपना जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया। लाल-बाल-पाल के नेतृत्व में उग्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को नया मोड़ दिया। यह केवल मध्यम तथा शिक्षित वर्ग तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसने जन-आंदोलन का रूप धारण कर लिया। अतः 1906-1919 की इस अवधि को उग्रवादी आंदोलन का युग कहा जाता है।

उग्रवादी राष्ट्रवादी चिंतन का उद्देश्य स्वराज्य की प्राप्ति थी। इसके अग्रणी नेता तिलक कहा करते थे कि अरविन्द घोष ने भी " अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध" कहा था कि स्वतंत्रता हमारे जीवन का लक्ष्य है और हिंदू धर्म के माध्यम से ही इस आकांक्षा की पूर्ति हो सकती है। वे भारतवर्ष में एक पूर्णतः स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना चाहते हैं। यद्यपि उदारवादियों की भाँति वे भी स्वशासन ही चाहते थे, किंतु उनसे भिन्न वे भारतीय संस्कृति एवं परंपराओं के अनुसार संस्थाओं की रचना तथा ब्रिटेन से पूर्ण संबंधविच-्छेद भी चाहते थे। उग्रवादी राष्ट्रवादियों के लिए स्वराज्य केवल राजनीतिक ही नहीं बल्कि नैतिक और धार्मिक आवश्यकता भी थी, जिसकी प्राप्ति ही उनका परम पवित्र लक्ष्य था।

उग्रवादी राष्ट्रवादी संवैधानिक तरीके में विश्वास नहीं करते थे। उदारवादियों के तरीके को वे राजनीतिक भिक्षावृत्ति कहते थे। उनका विश्वास था कि राजनीतिक सत्ता प्रार्थना करने अथवा राजनीतिक सुधारों की भीख माँगने से नहीं मिल सकती। तिलक ने कहा भी था कि "हमारा उद्देश्य आत्मनिर्भरता है, भिक्षावृत्ति नहीं। "इसी प्रकार विपिनचन्द्र पाल का कहना था कि "अगर सरकार स्वतः स्वराज्य का दान देती है तो मैं धन्यवाद दूँगा। लेकिन, मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा जबतक कि मैं उसे स्वयं हासिल न कर पाऊँ। "इसके लिए जनता को जागरित कर और राजनीतिक आंदोलन चलाकर सरकार पर अधिक से अधिक दबाब देना होगा तथा देशवासियों को मातृभूमि के लिए और त्याग करना पड़ेगा। उनका विश्वास सक्रिय विरोध अथवा सत्याग्रह में था। लाला लाजपत राय ने सक्रिय विरोध के दो लक्षण बताए थे। प्रथम- भारतीयों के मन में घर की हुई ब्रिटिश शासकों की सर्वशक्तिमानता और परोपकारिता की भावना को दूर करना, द्वितीय-देशवासियों में स्वतंत्रता के लिए भावपूर्ण प्रेम और त्याग एवं कष्टसहन - के सक्रिय कार्यक्रम में बहिष्कार के लिए तत्पर रहने की भावना को जगाना। उग्रवादी राष्ट्रवादियों, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा सम्मिलित थी। 'बहिष्कार' से तात्पर्य विदेशी वस्तुओं, विदेशी सरकार तथा विदेशी सरकार की नौकरी का बहिष्कार था। 'स्वदेशी' से तात्पर्य स्वदेशी वस्तुओं, स्वदेशी सरकार एवं

स्वदेशी व्यवस्था की स्थापना से था। 'राष्ट्रीय शिक्षा' से तात्पर्य देशवासियों को राष्ट्रीय हित की शिक्षा देना था। उग्रवादी ईश्वर, देश एवं आत्मनिर्भरता में विश्वास करते थे।

सन् 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उदारवादी नेताओं का प्रभुत्व स्थापित था। ये उदारवादी नेता अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूर्ण निष्ठा रखते थे। ब्रिटिश शासन को एक वरदान मानने के कारण उसके विरूद्ध किसी आंदोलन के पक्षधर नहीं थे। यही कारण था कि उदारवादी नेताओं ने ब्रिटिश शासन के सामने अपनी जो नाममात्र की माँगे अनुरोध के रूप में रखीं उस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गयाजिससे कांग्रेस के कुछ क्रुध युवा लोगों की नीतियों और कार्यक्रम से असंतुष्ट हो गए। उनका कहना , था कि बदली हुई परिस्थिति में हमें नए ढंग से सोचना चाहिए और समयानुकूल परिवर्तन में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। परिवर्तन की माँग करने वाले इन्हीं लोगों को उग्र राष्ट्रवादी कहा गयाजो , स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत त्याग, संघर्ष और जनांदोलन को आवश्यक मानते थे। इनमें बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल एवं अरविन्द घोष प्रमुख थे। गरम दल के ये नेता यथाशीघ्र बिटिश शासन से मुक्ति पाने हेतु अधीर थे। भारतीय रंगमंच पर उग्रवादियों का उदय एक महत्वपूर्ण घटना थी। कांग्रेस में बाल, पाल एवं लाल की नीतियों एवं अभिलाषाओं ने उदारवादियों को उनके विरूद्ध कर दियानरम दल और गरम दल। गरम दल -जिससे कांग्रेस में विभाजन दो गुटों में हो गया , वादी नेता उदारवादियों की तरह हाथ पर हाथ रखकर बैठने के पक्षधर नहीं थे बल्कि वे वाले उग्र राष्ट्र अंग्रेजों से हर हाल में स्वतंत्र होना चाहते थे। दृढ़ आत्मविश्वास उनकी सबसे बड़ी पूँजी थी। उग्रवादियों के लिए सौ तालों की एक चाबी थी 'स्वराज'। तिलक ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था कि ''स्वराज या स्वशासन स्वधर्म के लिए आवश्यक है। स्वराज के बिना कोई सामाजिक सुधार नहीं हो सकते, न कोई औद्योगिक प्रगति, न कोई उपयोगी शिक्षा और न ही राष्ट्रीय जीवन की परिपूर्णता। यही हम चाहते हैं और इसी के लिए ईश्वर ने मुझे इस संसार में भेजा है।'' उग्र राष्ट्रवादी उदारवादियों की तरह न ही क्रमिक सुधारों में विश्वास करते थे और न ही वे यह मानते थे कि उच्च सरकारी पद और संस्थाओं में स्थान मिलने से भारतीयों की स्थिति सुधर जाएगी। विपिनचन्द्र पाल ने स्पष्ट कहा था कि ''यदि सभी अफसर भारतीय हो जाए तो भी वे नीति निर्धारित नहीं करते, शासन नहीं चला सकते; वे तो सिर्फ हुक्म बजा सकते हैं। उन्हें केवल कानून और नीति का पालन करना होता है और जबतक परंपराएँ न तोड़ी जाए, सिद्धांत न बदले जाए, नीति न बदली जाए एवं गोरे अधिकारियों की जगह काले अधिकारियों की नियुक्ति कर देने से स्वराज नहीं आ जाएगा।'' ये उग्र राष्ट्रवादी नेता उदारवादियों की तरह अंग्रेजों से न्याय की उम्मीद लगाए बैठे रहना नहीं चाहते थे, वे अपनी स्वतंत्रता लड़कर लेना चाहते थे। अरविन्द घोष ने 1907 में 'वन्दे मातरम्' में निष्क्रिय प्रतिरोध को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि ''सक्रिय विरोध का अर्थ ऐसा कार्य करना है जिससे सरकार की कुछ निश्चित हानि होती है जबकि निष्क्रिय विरोध का अर्थ है कि ऐसा कोई कार्य न किया जाए जिससे सरकार की किसी प्रकार की सहायता होती हो। दोनों का लक्ष्य एक है कि सरकार को अपना लक्ष्य मनवाने के लिए बाध्य किया जाए परंतु दोनों का साधन उसके लिए भिन्न है।''

उग्र राष्ट्रवादियों ने मूलतः राजनीतिक स्वतंत्रता को ही महत्वपूर्ण माना किंतु इसे पाने के लिए उन्होंने स्वदेशी बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा को माध्यम बनाया। इससे उन्हें दोहरा लाभ हुआ। एक तो अंग्रेजों के व्यापारिक हितों को नुकसान हुआ, दूसरा इससे जनता संगठित हुई। उग्र राष्ट्रवादी नेता राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के समर्थक थे, जिसके फलस्वरूप लोकमान्य तिलक ने 'दक्षिण शिक्षा समाज' की स्थापना की। सन् 1906 में 'बंगाल नेशनल कॉलेज' की स्थापना हुईजिसके प्राचार्य अरविन्द घोष बने। ,

तीयों की एकता को भंग करने हेतु लॉर्ड कर्जन द्वाराभार19 जुलाई ,1905 को बंगालविभाजन की -घोषणा क ी गई। परिणामस्वरूप यह भारत के लिए छिपे रूप से वरदान सिद्ध हुआ। इससे भारतीयों में घोर असंतोष तथा प्रबल विरोध की भावनाएँ जाग उठीं। फलतः देश एकता के सूत्र में बँध गया और बंगाली भावुकता के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की वह प्रगति हुई जो वर्षों में जाकर होती। स्वदेशी-आंदोलन और वंदे मातरम् के नारे ने जनता में नई जान डाल दी। देशभक्ति तथा राष्ट्रीय एकता की प्रबल भंग के विरूद्ध कई वर्षों तक -बंग प्राप्ति की आकांक्षा को दृढ़ बना दिया।-भावना ने उसकी स्वतंत्रता आंदोलन चलता रहा और साथ में सरकार का दमनचक्र भी चलता रहा। अ ंत में सरकार ने झुककर 1911 ई॰ में बंगालआंदोलन को -विभाजन को रद्द कर दिया। आगे चलकर महात्मा गांधी ने स्वदेशी-कसित किया।भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के एक प्रमुख अस्त्र के रूप में वि

अतः यद्यपि पिछली दो शताब्दियों के भारतीय राजनीतिक चिंतन में मौलिकता तथा सृजनात्मकता का अभाव है, तथापि निराशा का कोई कारण नहीं है। स्वतंत्रता के आगमन से राष्ट्र की शक्तियाँ उन्मुक्त हुई हैं। जब देश पराधीन था उस समय उसे किसी न किसी प्रकार विदेशी शासकों के फौलादी शिकंजे से मुक्त करना ही एकमात्र काम था। इसलिए राष्ट्रवाद भारतीय राजनीतिक चिंतन की मुख्य समस्या थी किंतु स्वाधीनता की प्राप्ति से और नए राजनीतिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक प्रयोगों के आरंभ किए जाने से हमें आशा होने लगी है कि भारतीय राजनीतिक चिंतन का सृजनात्मक युग शीघ्र ही आने वाला है।

3.1.2. जीवन परिचय

एक महान देशभक्त, राष्ट्र निर्माता, वेदवेत्ता-, महान गणितज्ञ, कर्मयोगी, भागवतगीता के विशाल भाष्यप्रणेता बाल गंगाधर तिलक का हमारे देश के इतिहास में अनुठा स्थान है। महाराष्ट्र के कुछ स्थानों पर वे देवता के रूप में पूजे जाते हैं। निष्कलंक, विगतकल्मष, गार्हस्थ्य का चित्र प्रस्तुत कर वे प्राचीन ऋषियों की कोटि में गिने जाते थे। इनका भारत के राजनीतिक इतिहास में ही नहीं अपितु इस देश के पुनर्जागरण के इतिहास में भी चिरस्थायी स्थान है। वैदिक तथा दार्शनिक शोध के क्षेत्र में चिरस्थायी रचनाओं द्वारा उन्होंने भारत के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में अपूर्व यश तथा कीर्ति प्राप्त कर ली।

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 ई॰ को रत्नागिरि शहर में एक धार्मिक विद्याभिमुख महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री गंगाधर पंत शिक्षा विभाग में कार्यरत थे। गणित और संस्कृत के प्रति अनुराग एवं स्वाभिमान की भावना तिलक को अपने पिता से विरासत में प्राप्त हुई थी। 10 वर्ष की अवस्था में माता और 16 वर्ष की अवस्था में उनके पिता का देहांत हो गया। इस प्रकार जीवन की अल्पावस्था में ही उनको महान कष्टों का सामना करना पड़ा, किंतु धैर्य, अनवरत अध्यवसाय और कष्ट सहिष्णुता की अत्यधिक मात्रा का विकास भी उनके चरित्र में इन प्रारंभिक आपदाओं के साथ संघर्ष करने में ही हुआ। बीस वर्ष की अवस्था में बी. ए. और तेईस वर्ष की अवस्था में कानून की परीक्षा भी उन्होंने उत्तीर्ण की।

छात्र जीवन में ही उनका हृदय देशभक्ति से भर चुका था। उनके जन्म के एक वर्ष बाद ही 1857 का स्वतंत्रतासंग्राम हुआ था। बाल्यकाल से ही उन्होंने देशभक्तों की वीरता और सरकार के भीषण -तिलक उसी दमनचक्र के बारे में सुना होगा। स्वयंऐतिहासिक चितपावन कुल में जन्म लिए थे, जिसने

पेशवाओं को जन्म दिया था। अतः जीवन के आरंभिक काल से ही तिलक ने यह भीष्मप्रतिज्ञा की कि वे - सरकारी नौकरी में शामिल नहीं होंगे। अपने सहपाठी गोपाल गणेश आगरकर के साथ उन्होंने अपने करने का निश्चय किया। जीवन को शिक्षण में व्यतीत

पूना में रहकर 1880 में उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन आरंभ किया। 1880 में उन्होंने चपलूणकर के साथ मिलकर पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की। 1881 में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा 'मराठा' और 'केशरी' जैसे समाचार पत्र की स्थापना की। इन पत्रों ने जन-साथ देशी रियासतों का भी पक्ष प्रस्तुत क-जागरण के साथि्या। 1884 में डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना के साथ साथ-1885 में फर्ग्युसन कॉलेज खोला। अपने पवित्र चरित्र, गंभीर पांडित्य और सरलता के कारण आचार्य के रूप में तिलक अत्यंत ही श्रद्धाभाजन सिद्ध हुए। 1888-89 में तिलक ने शराबबंदी, नमक का विरोध, क्राफोर्ड भ्रष्टाचार कांड का पर्दाफाश किया तथा मामलातदारों के संरक्षण का कार्य अपने पत्र के माध्यम से किया। 1889 के अंत में वे पूना के सार्वजनिक सभा द्वारा बम्बई कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने गए। 1991 में सरकार द्वारा विवाह के बारे में स्वीकृत आयु विधेयक पेश किया गया , जिसका उद्देश्य बाल विवाह को रोकना तथा विवाह की आयु 10 वर्ष से बढ़ाकर 12 वर्ष करना थाकिंतु , तिलक ने इसे जनता के सामाजिक अधिकारों में हस्तक्षेप माना और इसका विरोध किया। दीवान के अन्यायों का भंडाफोड़ करने के कारण तिलक मराठी जनता के हृदय के अधिक समीप आ गए। डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी से अलग होकर 1890 से तिलक दोनों समाचार पत्रों द्वारा (मराठा और केशरी) महाराष्ट्र की जनता में एक उग्र देशभक्ति की भावना भरने लगे।

1893 में उन्होंने 'गणपति उत्सव' आरंभ किया। इस उत्सव का मुख्य उद्देश्य हिंदुओं में निर्भयता और संघर्ष शक्ति की भावना को भरना था। 1895 में तिलक ने 'शिवाजी उत्सव' आरंभ किया। मराठा स्वराज्य के जनक शिवाजी की स्मृतियों को ताजा कर निष्प्राण जनसमुदाय में शक्ति का संचार करना तिलक का उद्देश्य था। वस्तुतः गणपति और शिवाजी के उत्सवों के द्वारा देश की धार्मिक और ऐतिहासिक परंपरा एवं आदर्शों में राष्ट्रीय आंदोलन के अंश को सम्मलित करना तिलक का उद्देश्य था।

1897 के दुर्भिक्ष के समय तिलक ने महाराष्ट्र की जनता का तन-मन-धन से सेवा की। महाराष्ट्र के अकाल और पूना प्लेग के समय जनता के कष्टों के प्रति सरकार के उपेक्षापूर्ण रवैए से क्षुब्ध होकर दो नवयुवकों ने पूना के प्लेग कमिश्नर तथा एक अंग्रेज अधिकारी आर्येस्ट की हत्या कर दी। तिलक का इस हत्याकांड से कोई संबंध नहीं था, किंतु ब्रिटिश सरकार ने उनपर हिंसा और राजद्रोह भड़काने का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया और 18 वर्ष के कठोर कारावास का दंड दे दिया। तिलक की गिरफ्तारी ने केवल महाराष्ट्र ही नहीं वरन् संपूर्ण भारत को उग्र बना दिया। 1905 के बंग-भंग के समय तिलक का राजनीति कार्य-क्षेत्र महाराष्ट्र से बढ़कर संपूर्ण भारत में हो गया। 'केशरी' के माध्यम से उन्होंने स्वदेशी बहिष्कार और स्वराज्य का संदेश जन-जन तक पहुँचाया। 1905 से 1908 तक तिलक ने जो कार्य किया, उससे नौकरशाही थर्रा गई थी। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सिडेनहम ने मोर्ले (तत्कालीन भारत-मंत्री) से कहा था कि जून 1908 में बम्बई सरकार के सामने एक ही प्रश्न था- दक्षिण भारत में तिलक का शासन चलेगा या अंग्रेजी सरकार का। इससे स्पष्ट है कि कितना प्रचंड प्रभाव तिलक ने कायम कर लिया था और अंग्रेजी सरकार उनसे कितना भय खाती थी। तिलक केशरी के माध्यम से क्रांतिकारी आंदोलन का समर्थन करते रहे थे। अतः मुजफ्फरपुर बम कांड, जिसमें खुदीराम बोस ने जिला मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर बम फेंका, इसके बाद तिलक को गिरफ्तार कर 6 वर्ष के लिए कालापानी की सजा दे दी गई

और उन्हें माण्डले जेल भेज दिया गया। हालाँकि इस बम कांड की निंदा की थी किंतु उनकी क्रांतिकारी आंदोलन में रूचि छिपी नहीं थी।

माण्डले के दीर्घ कारावास ने तिलक को असमय ही बुढ़ा बना दिया। इसी समय इनकी पत्नी का देहांत हो गया। इसी कारावास के दौरान उन्होंने अपना जगत प्रसिद्ध दार्शनिक और नीतिशास्त्रात्मक ग्रंथ 900 पृष्ठों वाली 'गीता रहस्य' लिखा, जो उनके छुटने पर 1915 में प्रकाशित हुआ। 1914 में करावास से मुक्त होने पर तिलक पुनः राजनीति में सक्रिय हुए। वे श्रीमती एनी वेसेंट के होमरूल आंदोलन में सम्मिलित हो गए। तिलक ने 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में पुरे 9 वर्ष के बाद हिस्सा लिया। इसी अवसर पर उन्होंने यह संदेश दिया कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" जो भारतीय इतिहास में सदा अमर रहेगा। तिलक के प्रयत्नों से ही कांग्रेस और मुस्लिम लीग का अधिवेशन एक ही पंडाल में संपन्न हुआ। लखनऊ पैक्ट तैयार हुआ जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने मिलकर स्वराज्य की माँग प्रस्तुत की। 1918 में वे सर्वसम्मति से काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गए, लेकिन शिरोल केस के सिलसिले में इंग्लैण्ड चले जाने से वे इस गौरवशाली पद को स्वीकार नहीं कर सके। 1920 में उन्होंने कांग्रेस प्रजातांत्रिक दल की स्थापना की। 1 अगस्त 1920 को बम्बई में आकस्मिक बीमारी से उनका निधन हो गया।

इस प्रकार तिलक निर्भय देशभक्त थे, जिन्हें किसी प्रकार का प्रलोभन या भीषण भय अपने पथ से विमुख नहीं कर सका। तिलक के जीवन का सार निरंतर साधना, अटूट अध्यवसाय एवं दीर्घकालीन देशहित में कर्मयोग ही था। चारित्रिक विशुद्धता ही उनका महान अस्त्र था। राजनीतिक नेतृत्व और राष्ट्र निर्माण के साथसाथ उनका विद्या के क्षेत्र में भी विशिष्ट स्थान है। इसीलिए भारतवर्ष के आधुनिक - इतिहास में उनका एक विलक्षण स्थान है।

3.1.3. तिलक की रचनाएँ

बाल गंगाधर तिलक न केवल एक आंदोलनकारी थे अपितु प्रकांड पंडित तथा मराठी साहित्य की विभूति के रूप में भी उनकी कीर्ति अमर है। उन्होंने मराठी में एक ओजपूर्ण तथा सशक्त गद्य शैली का निर्माण किया। उनकी कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ 'केशरी' के अंकों में प्रकाशित हुई है। केशरी के माध्यम से उन्होंने लगभग 40 वर्षों तक प्राकृतिक अधिकारों, राजनीतिक स्वतंत्रता तथा न्याय का संदेश घरघर पहुँचाया। स्पेंसर-, महाभारत तथा शिवाजी की जन्मतिथि पर उनके निबंधों का आज भी महत्व है। भारत विद्या विशारद के रूप में उन्होंने तीन प्रसिद्ध ग्रंथों का प्रणयन किया -'द ओरियन' 'द आर्कटिक होम इन द वेदाज' और 'वैदिक क्रोनोलॉजी एण्ड वेदांग ज्योतिष।'

इन ग्रंथों में तिलक की विद्वता, ऐतिहासिक शोधवृत्ति, विस्तृत ज्ञान और उत्कृष्ट विचारों का परिचय मिलता है। उनके द्वारा रचित 'गीता रहस्य' शंकराचार्य के बाद सबसे सुंदर तर्कपूर्ण गीता का भाष्य है। इसी प्रकार उन्होंने 'द ओरियन' की रचना की, जिसने यूरोप में उनकी योग्यता और विद्वता की धाक जमा दी। उनकी रचना 'गीता रहस्य' गीता की व्याख्या मात्र नहीं है, बल्कि इसमें प्राच्य और पाश्चात्य नीतिशास्त्रीय तथा तत्वशास्त्रीय सिद्धातों का निर्भीकतापूर्वक समन्वय भी देखने को मिलता है। इसमें शंकर के संन्यासवादी दृष्टिकोण का खंडन किया गया है। तिलक के अनुसार गीता का उपदेश है कि व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक और निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। अपने कर्मयोग के इस संदेश में तिलक ने यजुर्वेद तथा गद्य उपनिषदों में प्रतिपादित कर्म के सिद्धांत का सामाजिक आदर्शवाद,

लोकतांत्रिक नैतिकता तथा गतिशील मानववाद की आधुनिक भावना के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है। तिलक की दृष्टि में कर्मयोग जीवन, नैतिकता तथा धर्म का सांगोपांग और समुचित दर्शन है। कर्मयोग का संदेश हमें सामाजिक तथा राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करने का शूरत्वपूर्ण साहस प्रदान करता है। निष्काम कर्म करने से हमें आत्म निग्रह की इतनी शक्ति आ जाती है कि हम अहं की अनुभूति से भी ऊपर उठ सकते हैं और इस प्रकार हमारे लिए परमात्मा के साथ आध्यात्मिक एकात्म्य करना संभव हो सकता है। उन्होंने आधुनिक जगत को स्वराज्य तथा कर्मयोग के दो गूढ़, उत्प्रेरक तथा उदात्त करने वाले मंत्र दिया है।

3.1.4. तिलक की तत्वशास्त्रीय तथा धार्मिक विचार

तिलक अद्वैत दर्शन के समर्थक थे, किंतु वह संसार को भ्रम नहीं मानते थे। वह वस्तुगत यथार्थ को स्वीकार करते थे। उनके अनुसार मानवता का उच्चत्तम तात्विक आदर्श यह जानना था कि सभी जीवित प्राणियों में एक ही आत्मा विद्यमान है। उन्होंने कहा कि ”वेदांत जीवन से भागकर अंतर्दर्शन की शरण लेने और सक्रिय जीवन से अलग हो जाने का रास्ता नहीं दिखाता, वह मनुष्य को सुदृढ़ क्रियाशीलता के जीवन की ओर अग्रसर करता है। यह जीवन ज्ञान शक्ति के कारण और भी परिपुष्ट हो जाता है। इस संसार में निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य को पुरा करना चाहिए। इस कर्तव्य को पुरा करने में उन्हें अपनी श्रेष्ठतम शक्तियाँ लगा देनी चाहिए। अपने कर्तव्य को पूरा करने में यदि आवश्यक हो तो अपने प्राण भी अर्पित कर देने चाहिए। किसी भी स्थिति में अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए, इसी को लोक संग्रह कहते हैं। यही सच्चा कर्मयोग है।“

तिलक एक महान दार्शनिक थे किंतु धार्मिक जीवन में भक्ति के महत्त्व को स्वीकार करते थे। उन्होंने धार्मिक कर्मकांड का विरोध नहीं किया। उनका कहना था कि जबतक यह औपचारिक रूप में बदला नहीं जाता तबतक इसका पालन करना चाहिए। वे सनातनी हिंदू थे और अपने धर्म पर उन्हें गर्व था। वे ऋषियों और योगियों द्वारा साक्षात्कृत रहस्यात्मक अनुभूतियों को भी स्वीकार करते थे। परंतु उनकी धारणा थी कि गृहस्थ जीवन को धारण करने वाला मोक्षदायी भी परम ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। तिलक के मन में हिंदुत्व की बड़ी विशद धारणा थी। एक भाषण में उन्होंने कहा था -‘‘सनातन धर्म शब्द इस बात का द्योतक है कि हमारा धर्म अति प्राचीन हैना ही प्राचीन जितना स्वयं मानव जाति। वैदिक उत - धर्मप्रारंभ से ही आर्यजाति का धर्म था -हिंदू धर्म अनेक अंगों के सहयोग से बना है, वे अंग एक ही धर्म के बेटों और बेटियों की भाँति परस्पर आबद्ध और संयुक्त हैं। यदि हम इस विचार को ध्यान में रखें और सब वर्गों को एकीकृत करने का प्रयास करें तो हम उनको एक महान शक्ति के रूप में संगठित कर सकते हैं।’’

तिलक के अनुसार धर्म राष्ट्रीयता का एक तत्व है। धर्म का अभिप्राय ईश्वर तथा मनुष्य के प्रति हमारा कर्तव्य से है। आत्मा को ईश्वर से और मनुष्य को मनुष्य से बाँधकर रखना ही धर्म का हेतु है। हिंदू धर्म में नैतिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के बंधन की व्यवस्था है। वैदिक युग में भारत देश एक महान राष्ट्र के रूप में संगठित था पर आज उसकी एकता छिन्नभिन्न हो चुकी है और यही हमारे - अधोगति का कारण है। अतः उस एकता की पुनः स्थापना करना राष्ट्रीय नेताओं का पुनीत कर्तव्य है। उन्होंने कहा कि बनारस का हिंदू भी उतना ही हिंदू है जितना मद्रास तथा बम्बई का। गीता, रामायण और महाभारत का पठन पाठन से-संपूर्ण देश में एक ही विचार उत्पन्न होते हैं। यदि हम विभिन्न संप्रदायों के

साधारण भेदों को भूल जाए और अपनी समान विरासत को मूल्यवान समझें तो ईश्वर की कृपा से हम शीघ्र ही विभिन्न संप्रदायों को शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संगठित करने में सफल हो जाएँगे। यही हर हिंदू की महत्वाकांक्षा होनी चाहिए।

तिलक का कहना था कि आधुनिक विज्ञान प्राचीन हिंदुओं के ज्ञान को प्रमाणित कर रहा है। उन्हीं के शब्दों में -''आधुनिक विज्ञान पुनर्जन्म के सिद्धांत को भले ही न मानता हो किंतु कर्म के सिद्धांत को अवश्य ही स्वीकार करता है। वेदांत और योग की आधुनिक विज्ञान द्वारा पूर्णतः पुष्टि हो चुकी है और इन दोनों का उद्देश्य आध्यात्मिक एकता प्रदान करना है।'' भागवत् गीता के इस विचार का उल्लेख करते हुए कि मानव इतिहास की संकटापन्न परिस्थितियों में ईश्वर अवतार लेता है। तिलक के शब्दों में -''विश्व में हिंदू धर्म को छोड़कर अन्य किसी भी धर्म में ऐसा कल्याणकारी वचन नहीं कहा गया है कि ईश्वर जितनी बार हमें आवश्यकता होती है उतनी ही बार हमारे पास आता है।''

तिलक परंपरावादी थे। ईश्वर के अवतार में उनका विश्वास था। उन्होंने अपनी अमर कृति गीता-रहस्य कृष्ण को ही अर्पित कर दिया। तिलक की प्रबल इच्छा थी कि हिंदुओं के विभिन्न संप्रदाय एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संगठित हों, जिसके लिए उन्होंने एकता पर बल दिया और कहा ''ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे हिंदू धर्म की सरिता एक प्रचंड, एकीकृत तथा केंद्रित शक्ति के रूप में एक ही धारा में बहे।'' तिलक ने हिंदू की बड़ी ही व्यापक परिभाषा की है। उनकी इच्छा थी कि हिंदू उपदेशक संपूर्ण विश्व को सनातन धर्म का उपदेश दें।

3.1.5. तिलक के शैक्षणिक विचार तथा कार्य-कलाप

तिलक एक महान शिक्षाशास्त्री थे। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की पूरजोर वकालत की। तिलक ने आगरकर तथा चिपलूणकर के साथ मिलकर राष्ट्रीय शिक्षा की एक रूपरेखा बना ली। इसी के फलस्वरूप पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल तथा फर्ग्युसन कॉलेज की स्थापना हुई एवं दक्षिण शिक्षा समाज का निर्माण किया गया। उनका कहना था कि राष्ट्रीय शिक्षा से ही राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हो सकता है। जनता की बौद्धिक जागृति किसी राष्ट्र के उत्थान के लिए सबसे महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रीय शिक्षा के संबंध में तिलक के मुख्य विचार यह है कि ''पढ़नालिखना सीख लेना ही शिक्षा नहीं है। शिक्षा वही है, जो हमें जीविकोपार्जन के योग्य बनाए, देश का सच्चा नागरिक बनाए, हमें हमारे पूर्वजों का ज्ञान और अनुभव दे।'' तिलक के अनुसार स्कूलों और कॉलेजों में चलने वाली किताबी शिक्षा से छात्रों के व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि नहीं हो पाती। उन्होंने इस बात का आग्रह किया कि शिक्षा के पाठ्यक्रम में औद्योगिक और प्राविधिक शिक्षा को स्थान दिया जाना चाहिए। तिलक धार्मिक शिक्षा पर बहुत जोर देते थे। यदि हिंदू को सच्चे हिंदू धर्म और मुसलमानों को सच्चे इस्लाम की शिक्षा दी जाए तो दोनों में एक दूसरे के लिए सम्मान और सहिष्णुता का प्रसार होगा।

तिलक ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता पर बल दिया। उनका विश्वास था कि राष्ट्रभाषा राष्ट्रीयता का मूल और अनिवार्य शर्त है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाए। तिलक पहले कांग्रेसी नेता थे, जिन्होंने देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का सुझाव दिया। राष्ट्रीय शिक्षा के पक्ष पोषक होते हुए भी उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया लेकिन साथ ही वे मातृभाषा को भी प्रधानता देने के पक्ष में थे। तिलक का मानना था कि देश में राजनीतिक जागरण एवं प्रगति के लिए शैक्षणिक सुविधाओं का प्रचार

आवश्यक है। इसलिए उनकी दृष्टि में शिक्षा का प्रसार सबसे अधिक आवश्यक था। इस प्रकार लोकमान्य तिलक को आधुनिक भारत का कौटिल्य कहा गया है। उनका विचार था कि लक्ष्य के श्रेष्ठ होने पर सभी साधन श्रेष्ठ होते हैं और भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए भी सभी साधन अपनाए जा सकते हैं। तिलक का कथन था कि ''महापुरूष सामान्य नैतिक सिद्धांतों से ऊपर होते हैं।'' गीता का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि'' .....हम स्वार्थ की भावनाओं से प्रेरित नहीं, तो अपने गुरूजनों और संबंधियों की हत्या में भी कोई पाप नहीं होगा'' वे एक यथार्थवादी और निष्काम कर्म के उपासक थे। चरित्र निर्माण के लिए उन्होंने धार्मिक शिक्षा को सर्वाधिक महत्व दिया।

3.1.6. तिलक के समाज सुधार-संबंधी विचार

तिलक सामाजिक विचारों में सुधारवादी न होकर पुनः अभ्यूदयवादी थे। उनके द्वारा सामाजिक सुधारों के संदर्भ में भारत की प्राचीन मान्यताओं का समर्थन रूढ़िवाद से ग्रस्त नहीं था। प्राचीन मान्यता में कालांतर में प्रक्षिप्त भ्रांति, विचारों एवं मान्यताओं को वे समाप्त करने के पक्ष में थे, किंतु भारत की प्राचीन धरोहर को एक ओर हटाकर पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के अनुकूल भारत की नवीन सामाजिक संस्थाएँ स्थापित करना उन्हें मान्य न था। वे भारत के उदारवादियों के सुधार की पाश्चात्य परंपरा का अनुसरण नहीं करना चाहते थे। समाज सुधार संबंधी तिलक के प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं-

3.1.6.1. समाज सुधार के स्वाभाविक विकास का समर्थन

तिलक समाज सुधार के विरूद्ध नहीं थे। उनका कहना था कि सामाजिक परिवर्तन धीरे रधीरे औ- स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। उनके अनुसार, प्रगतिशील शिक्षा और बढ़ती हुई जागृति के साथसाथ - सुधार कार्य भी चलते रहना चाहिए, यही देश के हित में है। थोपे गए सुधार कार्य.....दंड के भय पर आधारित होते हैं, इसमें सामाजिक एकता छिन्न-। इसलिए परिवर्तन धीरेभिन्न होने का डर बना रहता है- धीरे और शांतिमय तरीके से होने चाहिए, क्रांति मार्ग से कदापि नहीं।

3.1.6.2. सामाजिक सुधार से पूर्व राष्ट्रीय जागरण और राजनीतिक स्वतंत्रता का समर्थन

तिलक के अनुसार समाज सुधार के कार्य में शक्ति व्यय न करके संपूर्ण शक्ति राजनीति सत्ता प्राप्त करने के अधिक महत्वपूर्ण कार्य में लगा दिया जाए। राष्ट्रीय जागरण पहला काम है। राजनीतिक स्वतंत्रता से हमें स्वराज्य प्राप्त होगा और तब समाज सुधार कार्य करना सरल होगा।

सामाजिक सुधार से पहले राष्ट्रीय जागरण की बात करना तिलक की दूरदर्शिता का परिचायक है। उन्होंने सही कहा कि विदेशी शासन के रहते यदि सामाजिक सुधार को प्राथमिकता दी जाती है तो यह समाज सुधार की आदर्श परंपराओं एवं महान संस्कृति के अनुकूल न होकर पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति एवं चकाचौध से प्रभावित होंगे। तिलक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को एक साथ मिलाने के विरूद्ध थे, उनका कहना था कि राजनीतिक प्रगति तात्कालिक आवश्यकता की चीज है, जबकि सामाजिक सुधार धीरे धीरे लाए जा सकते हैं।-

3.1.6.3. सामाजिक-धार्मिक मामलों में नौकरशाही के हस्तक्षेप का विरोध

तिलक सामाजिक और धार्मिक मामलों में नौकरशाही के हस्तक्षेप के विरोधी थे। नौकरशाही के समक्ष जाकर कानून बनाने की याचना करना तिलक के नजर में अपमानजनक था। उनका कहना था कि इस प्रकार की याचक प्रवृत्ति से नैतिक एवं बौद्धिक नींव कमजोर होगी। उनका विश्वास था कि भारतवासियों में राजनीतिक योग्यता और अतीत में उन्होंने महान संगठनात्मक और प्रशासकीय सफलताएँ प्राप्त की थी, इसलिए समाज सुधार को ऊपर से लादने का कोई औचित्य नहीं है।

3.1.6.4. राजनीतिक आंदोलन तथा समाज-सुधार की पृथकता का दृष्टिकोण

तिलक राजनीतिक आंदोलन और समाजसुधार को एक साथ मिलाने के पक्ष में नहीं थे। वे - कार चाहते थे क्योंकि वे समझते थे कि उनको प्राप्त करके ही राष्ट्र के बहुमुखी राजनीतिक अधि कार्यकलाप के विकास के लिए समुचित वातावरण का निर्माण किया जा सकता है। इसके लिए जनता को धीरेधीरे प्रबुद्ध किया जाय ताकि उसमें सुधारों को अंगीकार करने की सामाजिक चेतना का विकास - । इसीलिए वे देश की आधारभूत आवश्यकता विदेशी नौकरशाही के दबाब में उन्मूलन को मानते हो सके थे।

3.1.6.5. जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, विधवा-विवाह संबंधी विचार

तिलक जाति-पाति के भेद-भाव और अस्पृश्यता में विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार अस्पृश्यता का अंत होना चाहिए। अस्पृश्यता को किसी भी नैतिक या आध्यात्मिक आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने बाल-विवाह का भी विरोध किया। उन्होंने बहुपत्नी प्रथा का विरोध किया तथा 60 वर्ष की आयु में विवाह पर प्रतिबंध लगाने का समर्थन किया। उन्होंने शराब पर प्रतिबंध तथा महिला शिक्षा-विस्तार का भी समर्थन किया। उनका मत था कि विधवा-विवाह शास्त्रीय विधान के विरूद्ध है, किंतु वे पुनर्विवाह करने वाली विधवाओं को जाति से च्युत नहीं मानते थे।

संक्षेप में तिलक समाज सुधार को कानून के माध्यम से क्रियान्वित करने के पक्ष में नहीं थे। वे सामाजिक सुधारों को उचित सामाजिक शिक्षण के माध्यम से क्रियान्वित करना चाहते थे। वे भारत के प्राचीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरोहर को विच्छिन्न नहीं करना चाहते थे। यह धारणा गलत है कि तिलक पुरातनवादी और रुढ़िवादी थे जिनमें धार्मिक और सामाजिक सुधारों के प्रति कोई रूचि नहीं थी। सच तो यह है कि तिलक पाश्चात्य आधार पर सामाजिक परिवर्तन लाने के विरूद्ध थे। वे राष्ट्रवादी थे इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति को प्राथमिकता दी। वस्तुतः उन्होंने समाज के प्राचीन आदर्शों और मूल्यों का पक्ष लिया और भारतीयों को पश्चिम का अंध-भक्त न बनने की प्रेरणा दी। तिलक के सामाजिक दर्शन का निचोड़ यही है कि वे सामाजिक परिवर्तन क्रमिक सावयवी रूप से पसंद करते थे तथा पश्चिमीकरण की प्रवृत्ति के विरोधी थे।

3.1.7. तिलक का राजनीतिक दर्शन

तिलक ने राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण समाज का कोई चित्र हमारे समक्ष नहीं रखा है। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू और सिसरो की भाँति सर्वोत्तम राज्य के लक्षणों और संभावनाओं का विवेचन नहीं किया है। उन्होंने हीगल, ग्रीन और बोसांके की भाँति किसी आदर्श राज्य का मॉडेल भी प्रस्तुत नहीं किया है। भारत की राजनीतिक मुक्ति उनके जीवन की मुख्य समस्या थी। इसलिए उनके विचारों और दृष्टिकोण में महान यथार्थवाद देखने को मिलता है। किंतु वे हॉब्स और मैकियावेली की तरह यथार्थवादी नहीं थे। वे प्राचीन

संस्कृत दर्शन के अच्छे पंडित थे। इसलिए उनके राजनीतिक चिंतन में हमें राजनीतिक दर्शन के कुछ प्रमुख धारणाओं और आधुनिक यूरोप के राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक विचारों का समन्वय देखने को मिलता है।

तिलक के राजनीतिक विचारों पर उनकी प्रमुख तत्वशास्त्रीय मान्यताओं का प्रभाव है। वे वेदांती थे। उनके अनुसार वेदांत के अद्वैतीय तत्वशास्त्र में प्राकृतिक अधिकारों की राजनीतिक धारणा नीहित है। चूँकि परमात्मा परम सत्य है और सभी मनुष्य उसी परमात्मा का अंश है, इसलिए उन सबमें वही स्वतंत्रता की शक्ति अंतर्निहित है जो परमात्मा में पाई जाती है। इसलिए तिलक के अद्वैतवाद में स्वतंत्रता की धारणा की सर्वोच्चता का सिद्धांत अंतर्निहित है जो परमात्मा में पाई जाती है। स्वराज्य की प्राप्ति आत्मा की स्वतंत्रता के आधार पर ही हो सकती है। तिलक के राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं-

3.1.7.1. तिलक का राष्ट्रवाद और पुनरूत्थानवाद

तिलक का राष्ट्रवाद कुछ अंशों में पुनरूत्थानवादी है। वे राष्ट्र में आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक उत्साह उत्पन्न करने के लिए वेदों तथा गीता के संदेश को जनजन के समक्ष रखना चाहते थे। उनके - अनुसार प्राचीन भारतीय संस्कृति के लोक कल्याणकारी और जीवनदायिनीपरंपराओं की पुनः स्थापना करना परम आवश्यक है। 3 दिसंबर 1914 को 'मराठा' के अंक में उन्होंने लिखा" -सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है। उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता, हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजीयत के ढाँचे में नहीं ढालना चाहते, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते।''

तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। राष्ट्रीयता के आदेश को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने गणपति उत्सव को फिर से जाग्रत किया और साथ ही शिवाजी की उपासना का पंथ भी शुरू किया। गणपति उत्सव द्वारा उन्होंने एक ओर धार्मिक उत्सव को सामाजिक और राजनीतिक रंग दिया तथा दूसरी ओर शिवाजी उत्सव द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने और संगठित करने का कार्य किया। उनका कहना था कि उत्सवों का दोहरा महत्व हैएक ओर तो इनके - म से एकता की भावना अभिव्यक्त होती हमाध्यः, तो दूसरी ओर उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि उनके संगठन और एकता को किसी श्रेष्ठत्तर कार्य में लगाया जाए। राष्ट्रीय उत्सव, राष्ट्रगान, राष्ट्रध्वज आदि देशवासियों के संवेगों और भावों में तीव्रता लाते हैं तथा उनकी राष्ट्रवादी भावना को विलुप्त नहीं होने देते।

तिलक के अनुसार राष्ट्रवाद कोई स्थूल वस्तु नहीं है, वह तो एक भावना, एक प्रत्यय है और इस भावना को जाग्रत करने में देश के महापुरूषों की ऐतिहासिक स्मृतियाँ महत्वपूर्ण योग देती है। राष्ट्रवाद की धारणा के संबंध में तिलक ने मनोवैज्ञानिक तत्व को अधिक महत्व दिया है और कहा कि" -कोई जनसमूह तभी राष्ट्र बन सकता है जब उसके सदस्यों में परस्पर संबद्ध होने की चेतना व्यक्त हो।" तिलक के राष्ट्रवाद पर पाश्चात्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के सिद्धांतों का प्रभाव भी पड़ा है। 1918 में उन्होंने अपने राजद्रोह के मुकदमों के संबंध में न्यायालय में जो प्रसिद्ध भाषण किया उसमें उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल की राष्ट्र की परिभाषा को स्वीकारते हुए उद्धृत किया। 1919 में उन्होंने विल्सन के राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए माँग की कि उनको भारत के संबंध में भी क्रियान्वित किया जाए। अतः तिलक का राष्ट्रवाद दर्शन आत्मा की परम स्वतंत्रता के वेदांती आदर्श और मत्सीनी, बर्क, मिल और विल्सन की पाश्चात्य धारणा का समन्वय था। इस समन्वय को उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द

द्वारा व्यक्त किया। 'स्वराज्य' एक वैदिक शब्द है जिसका प्रयोग महाराष्ट्र में शिवाजी के राजतंत्र के लिए किया जाता था।

तिलक हिंदू गौरव को डुबते हुए देखना नहीं चाहते थे। व्यक्तिगत रूप से उन्हें हिंदू धर्म और संस्कृति पर भारी गर्व था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे मुस्लिम विरोधी थे। अनेक विद्वानों ने उन्हें मुस्लिम विरोधी सिद्ध करने की चेष्टा की है और तिलक के राजनीतिक विचारों तथा कार्यों की गलत व्याख्या की है। जिन्ना, एम. ए. अंसारी, हसन इमाम ने तिलक की राष्ट्रवादी भावनाओं और समझौते की प्रवृत्ति की सराहना की है, क्योंकि उनकी बुद्धिमता पूर्ण सलाह और नरम नीति के कारण 1916 का लखनऊ समझौता सफल हो सका। मुसलमान के खिलाफत आंदोलन में भी उन्होंने सहयोग का प्रस्ताव पास किया था। वस्तुतः पुनरूत्थानवादी होते हुए भी तिलक को मुसलमानों और इसाइयों से कोई द्वेषभाव नहीं था। तिलक स्वराज्य में विश्वास करते थे।

3.1.7.2. तिलक का राजनीतिक उग्रवाद या आक्रामक राष्ट्रवाद

तिलक का राष्ट्रवाद आक्रामक था और भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें उग्र राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना जाता है। 1905 में बंगाल विभाजन के अवसर पर तिलक को उग्र राष्ट्रवाद का बिगुल फूँकने का सुअवसर मिला। यह उनकी महान सुझबुझ का ही परिणाम था कि एक प्रादेशिक पुनर्वितरण - के विरूद्धआंदोलन शीघ्र ही राष्ट्रीय एकता का अखिल भारतीय आंदोलन बन गया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप बंगाल, महाराष्ट्र अंशतः पंजाब राष्ट्रीय एकता के बंधन में बंध गए। लालपाल और -लबा- भंग विरोधी-अरविन्द घोष आदि नेताओं के व्यक्तित्व तथा कार्यकलापों ने बंगआंदोलन को एक गिरे हुए राष्ट्र के पुनरूद्धार के धर्म युद्ध में परिवर्तित कर दिया। तिलक के राजनीतिक प्रतिभा के परिणामस्वरूप ही बंग भंग विरोधी-आंदोलन स्वराज्य आंदोलन में परिवर्तित होने लगा।

स्वधीनता संग्राम के दो हथियार स्वदेशी और बहिष्कार को लोकप्रिय बनाने के लिए तिलक ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने स्वदेशी के संदेश को महाराष्ट्र और बंगाल के कोनेकोने तक पहुँचा - दिया तथा राष्ट्रीय स्तर पर इसकी व्यापकता और सफलता की संभावनाओं का अनुमान लगाकर अपने सहयोगियों द्वारा इसका संदेश गाँवनगर तक पहुँचाने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त किया। -गाँव तथा नगर- पश्चिम भारत में स्वदेशी और बहिष्कार काआंदोलन तिलक के साथ ही पहुँचा। उनके नेतृत्व में पूना में बड़े पैमाने पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। तिलक स्वदेशी का व्यापक अर्थ लेते हुए इसका प्रयोग शिक्षा, विचारों और जीवन पद्धति के रूप में किया। उन्होंने जनता को समझाया कि ब्रिटिश सरकार की व्यावसायिक नीति भारत के आर्थिक विनाश के लिए उत्तरदायी है। इससे जहाँ एक ओर स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा मिलेगा वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार भारतीयों की माँगें मानने के लिए विवश होंगी। तिलक ने केसरी में लिखा" -हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है जिसका मूल तना स्वराज्य है और विदेशी एवं बहिष्कार उसकी शाखाएँ हैं।" तिलक का बहिष्कार आंदोलन गांधी जी के असहयोग आंदोलन की स्पष्टतः पूर्व सूचना थी। स्वदेशी आंदोलन के दिनों में वे शिक्षा के राष्ट्रवादी पहलू पर बल देने लगे थे। तिलक छात्रों को स्वदेशी आंदोलन में शामिल करना चाहते थे। चरित्र निर्माण के लिए धार्मिक शिक्षा को उन्होंने आवश्यक माना।

3.1.7.3. शांति सम्मेलन को ज्ञापन

तिलक ने राजनीतिक यथार्थवाद का अवलंबन लेकर पेरिस के शांति सम्मेलन के अध्यक्ष क्लीमैंशो को स्मरण पत्र प्रेषित करते हुए भारत की भावी-अंतरराष्ट्रीय महत्ता का चित्र प्रस्तुत किया।

तिलक का ऐतिहासिक ज्ञापन भारत की परराष्ट्र नीति का महत्वपूर्ण प्रलेख है। कहा जाता है कि यहीं से भारत की परराष्ट्र नीति का प्रारंभ हुआ। इस ज्ञापन में कहा गया है कि-

(1) एशिया की शांति और संपूर्ण विश्व में शांति की दृष्टि से यह नितांत आवश्यक है कि भारत को आतंरिक रूप में स्वशासन प्राप्त होना चाहिए और उसे पूरब में स्वतंत्रता का गढ़ बनाया जाना चाहिए।

(2) किसी भी सभ्य राष्ट्र के ऊपर उसकी सहमति के बिना किसी अन्य राष्ट्र का शासन नहीं होना चाहिए।

(3) भारत अपने जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में अपने लिए आत्म निर्णय के अधिकार की माँग करता है।

(4) भारत अपने विशाल क्षेत्रफल, अतुल साधनों और असाधारण जनसंख्या के बल पर एशिया - प्रमुख शक्ति बनने की न्यायोचित रूप में आकांक्षा कर सकता है। के

(5) राष्ट्र संघ में भारत को प्रतिनिधित्व का वही अधिकार दिया जाए जो अन्य ब्रिटिश अधिराज्यों को प्राप्त है।

3.1.7.4. कांग्रेस डेमोक्रेसी पार्टी का घोषणा पत्र

तिलक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे और इसी कारण से समय और परिस्थिति की माँग को देखकर उनका स्वशासन संबंधी दृष्टिकोण भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति असहयोग में परिवर्तित हो गया। लार्ड माउण्ट फोर्ड सुधारों की योजना को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने जिस कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की, उसके चुनाव घोषणा पत्र में वर्णित शब्दावली उसके परिपक्व राजनीतिक चिंतन का प्रतीक था।

घोषणा पत्र में तिलक ने अपने कांग्रेस और लोकतंत्र दोनों के प्रति अपनी अविरल भक्ति का उल्लेख किया है। उन्होंने भारत की समस्याओं का समाधान के लिए लोकतांत्रिक सिद्धांतों को ही उपयुक्त मानते हुए भारत में शिक्षा तथा राजनीतिक मताधिकार के विस्तार को इस कार्य के दो प्रमुख शस्त्रों के रूप में माना है। वे जाति अथवा रीतिरिवाजों पर आधारित समस्त नागरिक-, धर्मनिरपेक्ष और सामाजिक - अयोग्यता को दूर करने के पक्ष में थे।

घोषणा पत्र में सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के सिद्धांतों को भी स्वीकार किया गया। उसमें कहा गया कि मजदूरों के लिए उचित मजदूरी और उचित काम के घंटों की व्यवस्था की जाएगी और पूँजीपतियों तथा मजदूरों के बीच न्यायोचित संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाएगा। डॉ. वी. पी. वर्मा के शब्दों मेंकां" -ग्रेस लोकतांत्रिक दल के घोषणा पत्र से स्पष्ट है कि तिलक में राजनीतिक यथार्थता की गहरी सुझ बुझ थी और वे कोरे आदर्शवादी-और स्वप्नदर्शी नहीं थे। लखनऊ का समझौता, स्वराज्य से संबंधित कांग्रेस लोकतांत्रिक दल की घोषणा पत्र, इन सबसे प्रमाणित होता है कि तिलक में अपने समय की समस्याओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने"समझने की प्रतिभा थी।-

3.1.7.5. तिलक का स्वराज्य

तिलक ने स्वराज्य को एक राजनीतिक आवश्यकता ही नहीं बताया अपितु नैतिक आधार पर भी इसका समर्थन किया। तिलक के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में एक दैविक तत्व विद्यमान है जिसकी अनुभूति के लिए आवश्यक है कि स्वधर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो। यह सच्ची स्वतंत्रता कोई स्वेच्छाचारिता नहीं है वरन् विनियमित और संयमित स्वतंत्रता है जिसकी प्राप्ति तभी संभव

है जब ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना हो जिसमें लोग धर्मानुकूल आचरण कर सके और जो जनता के नैतिक मनोभावना के अनुकूल हो। तिलक के अनुसार इस प्रकार की उत्तरदायी राजनीतिक व्यवस्था का ही दूसरा नाम स्वराज्य है। तिलक के अनुसार राष्ट्र की प्रगति का मूल स्वराज्य में नीहित है। स्वराज्य के अभाव में औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक सुधार आदि कुछ भी संभव नहीं है।

3.1.8. तिलक का आर्थिक विचार

तिलक ने भारत की गिरती हुई आर्थिक स्थिति पर विचार व्यक्त करते हुए भारत के आर्थिक निर्भरता के ह्रास पर दुख प्रगट किया। उनके अनुसार रेल, डाकतार एवं सड़कों के विकास के नाम पर - ड़ों रूपये विदेशी जेबों में जा रहे थे। विदेशी ऋण का भुगतान तथा तत्संबंधीकरोब्याज भारत की आर्थिक स्थिति के खोखलेपन का कारण बना। कुटीर उद्योग तथा अन्य प्राचीन उद्योगों का पतन प्रारंभ हुआ। इस स्थिति का सामना करने के लिए तिलक ने स्वदेशी का उपदेश दिया। स्वदेशी आंदोलन को तिलक ने विदेशी दासता से मुक्ति का मार्ग बताया। 1881 में केसरी में भारत की श्रमजीवी जनता के भारत के आर्थिक पिछड़ेपन का चित्रण प्रस्तुत किया। भारत के राष्ट्रीय उद्योगों का विस्तार करने तथा भारतीय उद्योगपतियों के संरक्षण देने की नीति को तिलक ने जीवनपर्यंत समथर्न किया। उनका सुझाव था कि किसानों पर ऋण का भार कम किया जाए। भारत में स्थायी बंदोबस्त किया जाए ताकि सरकारी जमींदारों के द्वारा शोषण का अंत हो सके। वे भारत के कुटीर उद्योगों तथा अन्य आर्थिक क्रियाकलापों के लिए - चाहते थे कि भारत में औद्योगीकरण की गति तीव्र की जाए शासन का प्रोत्साहन आवश्यक मानते थे। वे ताकि भारत के आर्थिक निर्गम एवं दरिद्रता से बचा जा सके।

तिलक के अनुसार भारत में ब्रिटिश शासन ने 'दरिद्र', 'दुष्काल', द्रव्यशोष इन तीनों -'द' को जनता के बलात दबाब के लिए प्रयुक्त किया था। उन्होंने भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना किया। वे समाज के सैद्धांतिक प्रवक्ता नहीं थे, किंतु उन्होंने सहकारिता के माध्यम से कार्य करने की प्रेरणा दी।

3.1.9. तिलक का क्रांतिकारी विचार

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में तिलक की भूमिका एक विद्रोही की भूमिका है। तिलक का उग्र राजनीतिक दृष्टिकोण प्रारंभ में विदेशी दासता से मुक्ति के लिए सभी प्राप्त उपायों का समर्थक था। उनकी लेखनी से जो शब्द निकला उससे महाराष्ट्र में राजनीतिक हिंसा का वातावरण बना। श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा सावरकर जैसे क्रांतिकारी से उनका सीधा संबंध था। इसी कारण शिरोल ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में लिखा है -'तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हत्याओं को जन्म देनेवाले वातावरण का समर्थन किया।'

तिलक ने निरपेक्ष अहिंसा का कभी समर्थन नहीं किया। उन्होंने शिवाजी द्वारा अफजल खाँ की हत्या को उचित ठहराया। उन्होंने चापेकर के साहस और चतुराई की तथा बंगाल के क्रांतिकारियों की प्रचंड देशभक्ति की प्रशंसा की। उनके अनुसार कोई उत्साही देशभक्त ऊँच लोक संग्रह की भावना से प्रेरित होकर हिंसात्मक कार्य कर बैठता है, तो तिलक ऐसे व्यक्तियों की कमी भर्त्सना नहीं करते थे किंतु तत्वशास्त्रीय दृष्टि से परोपकारार्थ की गई हिंसा के समर्थक होते हुए भी तिलक ने राजनीतिक हत्या का उपदेश नहीं दिया और न उन्होंने कभी किसी को राजनीतिक साधन के रूप में हत्या करने का निमंत्रण दिया। तिलक का कहना था कि हम न तो चाहते हैं और न हममें इतनी शक्ति है कि हम सरकार के विरूद्ध

सशस्त्र क्रांति के लिए उठ सकें। इतिहास साक्षी है कि गुलाम जनता कितनी भी असहाय क्यों न हो वह एकता, साहस और दृढ़ निश्चय के बल पर बिना हथियार उठाए ही अपने मदोन्मत शासकों को परास्त कर सकती है। उनके विचारों में उग्रता कालांतर में अहिंसक संवैधानिक क्रांति में परिवर्तित होती हुई दिखाई दी। डॉ. पुरूषोत्तम नागर के अनुसार" -1906 में संवैधानिक आंदोलन को हास्यपद मानते थे किंतु 1917 में वे संवैधानिक पद्धति की ओर झूक गए थे।"

3.1.10. तिलक का स्वराज्य दर्शन

तिलक द्वारा प्रतिपादित स्वराज्य की अवधारणा अतिव्यापक मौलिक और सकारात्मक है। उसकी व्याख्या उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर की है तथा उसकी माँग को उन्होंने नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी आधारों पर न्यायोचित ठहराया। "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा" का उद्घोष उन्होंने किया और यह सिद्ध किया कि यह एक व्यक्ति के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् अपने सर्वोच्च नैतिक विकास के लिए भी आवश्यक तत्व है। इससे विभूषित होकर ही व्यक्ति अपना नैतिक और भौतिक सर्वांगीण विकास करने का लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

तिलक ने स्वराज्य को एक नैतिक ही नहीं सामाजिक आवश्यकता भी सिद्ध किया क्योंकि मनुष्य के नैतिक उत्थान के लिए उसके अनुरूप एक ऐसी स्वराज्य आधारित सामाजिक व्यवस्था की भी नितांत आवश्यकता है, जो उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। उनके अनुसार स्वराज्य के अभाव में नहीं व्यक्ति और नहीं उस सामाजिक व्यवस्था जिसमें वह रहता है, विकास संभव है क्योंकि स्वराज्य ही उसे वह साधन और अवसर प्रदान करता है, जिससे वह अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार औद्योगिक प्रगति कर सकता है तथा आर्थिक संपन्नता प्राप्त कर इच्छित और आवश्यक समाज सुधार करके अपने सर्वांगिण विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अतः वह चाहते थे कि अन्य सभी कार्यों की तुलना में स्वराज्य प्राप्ति भारतीयों की प्राथमिकता होनी चाहिए।

तिलक ने श्रीमती एनी बेसेंट के साथ मिलकर स्वराज्य (रूलहोम)आंदोलन शुरू किया। 31 मार्च 1906 को अहमदनगर में स्वराज्य पर भाषण में उन्होंने कहा -'स्वराज्य का अर्थ सम्राट के शासन का उन्मूलन करना और किसी देशी रियासत का शासन कायम करना नहीं है, हमें मंदिर के देवताओं को हटाना नहीं है, केवल पुजारियों को बदलना है। स्वराज्य का अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेज के स्थान पर जर्मन शासक को स्थापित कर दिया जाए, स्वराज्य का अभिप्राय यह है कि भारत के आतंरिक मामलों का संचालन और प्रबंधन भारतवासियों के हाथ में हो। हम ब्रिटेन के राजा को सम्राट बनाए रखने में विश्वास करते हैं।'

इस प्रकार तिलक ने तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए स्वराज्य की समयानुकूल एवं व्यावहारिक व्याख्या किया। वस्तुतः तिलक की होमरूल लीग ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वराज्य चाहती थी। तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वराज्य का व्यावहारिक सुझाव दिया। होमरूल उनका तत्कालिक राजनीतिक लक्ष्य था क्योंकि पूर्ण स्वधीनता को वे उस समय व्यावहारिक राजनीतिक क्षेत्र से परे मानने के विचार से संभवतः सहमत हो सके थे।

तिलक की कल्पना थी कि 'स्वराज' के अंतर्गत देश का राजनीतिक ढाँचा संघात्मक होगा। वे लोकतांत्रिक साम्राज्य के पक्षधर थे क्योंकि वे तत्कालीन संपूर्ण शासन प्रणाली को ही बदल देना चाहते

थे। उनके अनुसार 'स्वराज्य' का अर्थ एक ऐसी शासन व्यवस्था से है जिसमें शासन के सभी अधिकारी एवं कर्मचारी जनता के प्रति सचेत रहे तथा कार्यपालिका के अधिकारी एवं कर्मचारी स्वयं को जनता के प्रति उत्तरदायी समझे। तिलक के लिए 'स्वराज्य' का आशय था कि अंतिम सत्ता जनता के हाथ में हो। टी. वी. पर्वते ने लिखा है कि ''तिलक भारतीय स्वराज को लोकतांत्रिक स्वराज के रूप में देखते थे और भारतीय 'स्वराज' के युगद्रष्टा की तरह, उनकी यह धारणा बहुत अमूल्य थी। उनका विश्वास था कि यह लोकतांत्रिक स्वराज केवल जनजागृति-, जनता की आत्म अभिव्यक्ति की शक्ति और उसके आत्मविश्वास से ही निर्मित हो सकेगा।'' उनके अंतिम शब्द थे" -यदि स्वराज न मिला तो भारत समृद्ध नहीं हो सकता। स्वराज हमारे अस्तित्व के लिए आवश्यक है।"

3.1.11. तिलक और गांधी के राजनीतिक चिंतन में अंतर

तिलक और गांधी भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रणी नेता थे। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में लगभग साढ़ेपाँच वर्षों तक साथसाथ काम किया और इस अवधि में भी तेरह माह तक तिलक देश से - बाहरइंग्लैण्ड में रहे। तिलक और गांधी में राजनीतिक पद्धतियों के संबंध में मतभेद था। तिलक को विधि का सुक्ष्म ज्ञान था इसलिए वे कहा करते थे कि मैं विधि की मर्यादा के भीतर स्वराज का आंदोलन चला सकता हूँ। उन्होंने कभी अवैध अनुमति नहीं दी। 1907 और 1908 में निष्क्रिय प्रतिरोध के जिस सिद्धांत का प्रचार किया गया उससे भी तिलक का अभिप्राय केवल स्वदेशी बहिष्कार से था। किंतु गांधी जी ने कहा था कि यदि कानून किसी व्यक्ति के अंतःकरण के प्रतिकूल हो तो उसका विरोध करना उसका पवित्र अधिकार है। सत्याग्रह का संपूर्ण सिद्धांत ही इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य को स्थापित विधि और शासन के मुकाबले में नैतिकता, अंतःकरण अथवा ईश्वर के कानून का यत्नपूर्वक समर्थन और पोषण करना चाहिए। दक्षिण अफ्रिका में गांधी जी ने भारतवासियों को उन कानूनों को तोड़ने की सलाह दी थी जो उनके नागरिक अधिकारों को जोखिम में डालने के लिए बनाए गए थे। भारत में भी सत्याग्रह की कार्यप्रणाली को पूर्ण रूप से विकसित किया गया और विभिन्न अवसरों पर सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाया गया।

तिलक के अनुसार अहिंसा अधिक से अधिक नीति के रूप में अंगीकार की जा सकती है जबकि गांधी जी के अनुसार यह निरपेक्ष आस्था की वस्तु है। तिलक के अनुसार इस संपूर्ण जगत में ऐसे अवसर आते हैं जब मनुष्य को अहिंसा और विनम्रता के सिद्धांत से विचलित होना पड़ता है। गांधी जी का विश्वास था कि अहिंसा का सिद्धांत सार्वभौम और अपरिवर्तनशील है।

भारतीय संस्कृति में तिलक और गांधी दोनों की अगाध श्रद्धा थी, लेकिन जहाँ तिलक कठोर हिंदू थे और उनका हिंदू धर्म अक्रामक हिंदू धर्म था वहाँ गांधी जी सर्वधर्म समन्वय में विश्वास करते थे और धार्मिक विश्वासों में उन्हें पुराणप्रियता कतई पसंद न थी। तिलक को प्रतिनिधि लोकतंत्र के रूपों में तथा कार्यप्रणालियों में उत्कट अनुराग था। महात्मा जी को पश्चिमी लोकतंत्र से कोई मोह नहीं था।

स्पष्टतः तिलक और गांधी की विचारधारा में बहुत भिन्नता थी। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ बातों में तिलक के विचारों और कार्यों को गांधी जी ने आगे बढ़ाया। तिलक ने गांधी जी से वर्षों पूर्व ही स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे कार्यक्रम को देश के सामने रख दिया और गांधी जी ने इसे अपने ढंग से आगे बढ़ाया। गांधी जी ने तिलक के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया और राष्ट्रीय आंदोलन को एक जबरदस्त जन-आंदोलन में बदल दिया।

3.1.12. तिलक का योगदान

तिलक अपने समय के सर्वोच्च राष्ट्रवादी और उनके प्रमुख प्रवक्ता थे। उनका राष्ट्रवाद उनकी अगाध देशभक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन देश पर न्यौछावर कर दिया। राष्ट्रहित और उसकी स्वतंत्रता उनके जीवन का मूलमंत्र और परम उद्देश्य था और यही उनके चिंतन का संपूर्ण केंद्र-बिंदु है। वे दासता के अंधकार में एक जाज्वल्यमान सितारे के समरूप थे। निराशा के गहन तिमिर में वे आशा की एक ध्रुतिमान किरण के समान थे, जो देशवासियों के हृदय में देशाभिमान की भावना का संचार करते थे। ऐसे महान व्यक्तित्व के धनी लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का जीवन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक स्वर्णिम पृष्ठ का निर्माण करता है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और राजनीतिक चिंतन में तिलक का योगदान अविस्मरणीय ही नहीं अद्वितीय भी है। उनके इस महान योगदान का अध्ययन इस प्रकार है-

3.1.12.1. व्यक्तित्व और चरित्र का आदर्श उदाहरण

भारतीय जनता को तिलक का सबसे बड़ा योगदान है, उनका व्यक्तित्व और चरित्र। उनमें उद्देश्य की दृढ़ता, इच्छा शक्ति की प्रबलता और कमजोर शरीर में बज्र के समान कठोर आत्मा आदि सबकुछ था और इन सबके मूल में था देश की स्वतंत्रता के प्रति अडिग भक्ति। सरकार ने प्रतिशोध की भावना से उन्हें कठोर दंड दिए और उन्होंने इन सभी कष्टों को शांत भाव से और रोज की मामूली चीज समझते हुए ग्रहण किया। तिलक को अपने धर्म, अपने देश और उसके इतिहास एवं उसकी संस्कृति पर गर्व था, इस मनोस्थिति ने उन्हें भारी आत्मसम्मान और आत्मविश्वास से भर दिया था।

वे महान पंडित और महान ऋषि थे। व्यावहारिक राजनीतिक और दार्शनिक दृष्टि दोनों का उनमें समन्वय था। भारत में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने और देश की मुक्ति में तिलक के व्यक्तित्व और चरित्र का भारी योगदान है।

3.1.12.2. भारतीय राष्ट्रवाद के जनक

तिलक अपने समय के राष्ट्रवादियों से भिन्न स्वरूप के राष्ट्रवादी थे। उनके राष्ट्रवादी चिंतन का प्रेरणा श्रोत अन्य राष्ट्रवादियों की तरह पश्चिमी राष्ट्रवादी चिंतन में निहित नहीं था। उनका राष्ट्रवादी चिंतन शुद्ध प्राचीन भारतीय संस्कृति की गरिमामय छवि और उसके द्वारा प्रदत्त लोक कल्याणकारी जीवन मूल्यों पर आधारित था। अर्थात् उनके राष्ट्रवाद का स्वरूप शुद्ध भारतीय स्वरूप था।

तिलक ने यद्यपि प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक गौरव को नवोत्थानवादी भारतीय राष्ट्रवाद का आधार तो बनाया लेकिन उनका यह राष्ट्रवाद किसी प्रकार की संकीर्ण सांप्रदायिकत्व मनोधारणा पर आधारित नहीं था। उनकी यह सुविचारित मान्यता थी कि भारतीय राष्ट्रवाद का विकास सभी धर्मों, जातियों और संप्रदायों के मध्य पारस्परिक सौहार्द और विश्वास के आधार पर उनमें विकसित सहयोग भाव से संभव है। इस कारण उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का कड़ा विरोध किया तथा सामान्य रूप से सभी संप्रदायों तथा विशेष रूप से देश के दो बड़े धर्म के अनुयायियों हिंदू और मुसलमानों के मध्य पारस्परिक सुझअस्तित्व की भावना का समर्थन -बुझ और सह-किया।

3.1.12.3. स्वराज्य के मौलिक अवधारणा का प्रतिपादन

तिलक स्वराज्य को प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। उन्होंने इसलिए एक लोकप्रिय नारे के रूप में उद्घोषित करते हुए कहा, 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे प्राप्त

करके रहूँगा।' तिलक के लिए स्वराज्य सिर्फ ब्रिटिश दासता से मुक्ति का प्रतीक नहीं था बल्कि वास्तविक स्वराज्य आधारित शासन या राज्य स्थापित करने की दृष्टि से पहला कदम मात्र था। तिलक का स्वराज्य या स्वशासन मूल रूप से लोकतांत्रिक चरित्र तथा उत्तरदायी शासन का मूर्तरूप था। वे स्वराज्य की अवधारणा के माध्यम से सिर्फ ब्रिटिश राज्य से भारत की मुक्ति की कल्पना नहीं करते थे वरन् एक ऐसी राज्य या शासन की स्थापना की कल्पना करते थे जो प्राचीन भारत के धर्मराज्य -आधारित राज्य या धर्म-के स्वरूप से प्रेरित था, अर्थात् एक ऐसे राज्य की स्थापना जिसमें शासक और शासित दोनों अपनेअपने -धर्म के अनुसार अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हुए, सर्वोच्च नैतिक मूल्यों और जनकल्याण के आदर्शों के अनुसार राज्य संचालन के कार्य में सार्थक और सकारात्मक रूप से अपनी भूमिका का निर्वाह करें।

तिलक के स्वराज्य की अवधारणा में प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का मर्म निहित था। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आचार्यों ने धर्म को शासन की मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया उसी प्रकार तिलक भी स्वराज्य के माध्यम से देश में धर्मराज्य की स्थापना करना चाहते थे। इस प्रकार तिलक द्वारा प्रस्तावित स्वराज्य की धारणा में नकारात्मक दृष्टि से ब्रिटिश शासन से पूर्ण मुक्ति और सकारात्मक दृष्टि से एक लोकतंत्रवादी, लोक कल्याणकारी शासनव्यवस्था की स्थापना के दोनों पक्ष सम्मिलित थे।-

3.1.12.4. महान लोकतंत्रवादी

तिलक महान लोकतंत्रवादी थे। तिलक सन् 1919 ई. के भारतीय शासन अधिनियम के आधार पर परिषदों में प्रवेश करने के कार्यक्रम को स्वीकार कर चुके थे। उनका कहना था कि सुधार अधिनियम अनेक दृष्टि से अपर्याप्त होने पर भी देश के राजनीतिक आंदोलन की सफलता का द्योत्तक है चाहे यह सफलता कितनी भी सीमित क्यों न हो। तिलक द्वारा अपनाया गया शांतिपूर्ण आंदोलन का मार्ग भी लोकतांत्रिक सीमाओं के अंदर ही था।

3.1.12.5. कांग्रेस का कायाकल्प

तिलक ने जिस समय कांग्रेस में प्रवेश किया, वह उदारपंथी बुद्धिजीवियों की एक संस्था थी जो अनुनयविनय और विनम्र आलोचनाओं के द्वारा भारत के लि-ए ब्रिटिश शासकों से स्वशासन की माँग करने में विश्वास रखती थी। ब्रिटिश शासकों की न्यायप्रियता में उनका पूरा विश्वास था। वे ब्रिटिश -शासकों के सर्वविधि शोषण करने के इरादों को समझने में असमर्थ रहे। तिलक ने उनके इन इरादों को समझा तथा इस हेतु तदनुरूप उन्होंनेकांग्रेस के रूप में परिवर्तन कर, उसे जनाधारविहिन उदारवादी बुद्धिजीवियों की एक संस्था से जाग्रत जन शक्ति आधारित उग्र राष्ट्रवादी-आंदोलनात्मक संगठन का रूप देने का प्रयास किया। तिलक द्वारा प्रारंभ किया गया रूप बाद में महात्मा गांधी के नेतृत्व में और अधिक प्रबलता के साथ उभरा और भारतीय स्वधीनता संग्राम का नेतृत्व करने वाले संगठन के रूप में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार तिलक ने अपने अद्भूत संगठन क्षमता एवं अदम्य संघर्षशीलता के बल पर कांग्रेस का कायाकल्प कर दिया तथा उसे भारतीय स्वधीनता संघर्ष का एक प्रमुख एवं अग्रणी संगठ-न बना दिया।

3.1.12.6. गीता का प्रवृत्तिमार्गी भाष्य

तिलक ने राजद्रोह के कथित अपराध में माण्डले जेल में छह वर्ष की कठोर कारावास का दंड भुगतते हुए 'गीता रहस्य' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना कर, उसकी प्रवृत्तिमार्गी टीका की और उसके माध्यम से मोक्ष प्राप्ति हेतु सन्यास की आवश्यकता का खंडन करते हुए निःस्वार्थ भाव से सांसारिक

कर्म निर्वाह को ही मुक्ति का सच्चा मार्ग घोषित किया। गीता द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग की यह नई व्याख्या थी जो पूर्णतः मौलिक नहीं प्रमाणिक भी थी।

3.1.13. सारांश

तिलक एक सुदृढ़ चरित्र के धनी और महान व्यक्तित्व के स्वामी होने के कारण अपने युग के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता साबित हुए। उनका संपूर्ण कृतित्व प्रेरणास्पद और जनता में निःस्वार्थ देशसेवा - का भाव जगाने वाला था। उनकी वाणी ओजस्वी, चिंतन स्पष्ट तथा पैनी धारवाली थी। वे अद्वितीय संगठन क्षमता के मूर्त रूप थे। उनमें संघर्ष करने और कष्ट सहने की अद्भूत क्षमता था। रंगस्वामी के अनुसार -''वे कठिन से कठिन समय में भी शांत और चट्टान की भाँति निश्चल बने रहते थे। कारागार की लंबी सजा भी उनके साहस को तोड़ने में असफल रही। उनका उद्घोषणा 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर ही रहूँगा' चारों दिशाओं में गूँजने लगा। जनता के सर्वप्रिय नेता होने के कारण उसने उन्हें लोकमान्य की जन उपाधि से विभूषित ही नहीं किया, वरन् 'तिलक भगवान' कहकर पुकारा। दुर्भाग्य और विपत्तियाँ कभी उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकी।'' वे साहस और संघर्ष की जिवंत मूर्ति थे।

वास्तव में तिलक महात्मा गांधी के पूर्ववर्ती थे। रामगोपाल के अनुसार 'महात्मा गांधी ने तिलक की मृत्यु के बाद जितने आंदोलन किए वे सब तिलक ने पहले ही किए थे। लगान न देने का आंदोलन, सरकारी नौकरियों का बहिष्कार, शराबंदी और स्वदेशी, इन सबका सर्वप्रथम प्रचार तिलक ने ही किया। उन्होंने आगे कहा किवे चारों ओर के अंधेरे में प्रकाश ज्योति की तरह आ -ए। वैलेन्टाइन शिरोल ने उन्हें 'स्वभाविक राष्ट्रवादी और भारतीय अशांति का जनक' कहकर उन्हें गौरवान्वित किया है। राष्ट्रीय स्वधीनता आंदोलन में उनके उत्तराधिकारी गांधी जी ने उनके दुर्दमनीय संकल्प, देशभक्ति और उनके वैयक्तिक जीवन की पवित्रता तथा महान त्याग की भूरिभूरि प्रशंसा की है तो पंडित जवाहरलाल नेहरू ने - उन्हें'भारतीय राष्ट्रवाद का जनक' कहकर पुकारा है।

लोकमान्य तिलक भारतीय इतिहास के विभूति थे। उनका भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में ही नहीं अपितु इसे देश के पुनर्जागरण में भी चिरस्थायी स्थान रहेगा। भारत की राजनीतिक माँगों के लिए उन्होंने निरंतर संघर्ष किया और कष्ट सहे। उन्होंने भारतवासियों को स्वराज्य का पहला पाठ पढ़ाया। उन्होंने जनता को दासता से घृणा करना सिखाया। राजनीतिक दार्शनिक के रूप में उन्होंने हमें राष्ट्रवाद का पाठ पढ़ाया। गीता रहस्य उनकी चिरस्थायी रचना है। राजनीतिक कार्यकर्ताओं को इससे त्याग, सेवा, कष्ट क्षमता और संघर्ष की शिक्षा मिलती है। शिरोल के शब्दों में -''यदि कोई व्यक्ति भारतीय चेतना का जनक होने का दावा कर सकता है तो वह बाल गंगाधर तिलक है।'' एक राजनीतिक नेता के रूप में तिलक ने 'केसरी' तथा 'मराठा' के द्वारा अपने संदेश का प्रसार किया।

संक्षेप में लोकमान्य तिलक ने भारतीय जनता को अवज्ञा का दर्शन प्रदान किया और इस दृष्टि से उसे भारतीय जागृति का अग्रदूत कहा जा सकता है। अंत में डॉ. के. एल. कमल के अनुसार" -तिलक पहले स्वतंत्रता सेनानी थे, जिन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन को जन-आंदोलन बना दिया था। वह उस उभरते हुए राष्ट्रवाद के जनक थे जिसकी ओजस्विता के समक्ष ब्रिटिश शासन भयभीत होने लगा था।'' अतः उनके विचारधारा को हम लोकतांत्रिक यथार्थवाद पर आधारित राष्ट्रवाद का नाम दे सकते हैं। सच तो यह है कि दुर्दांत तिलक को केवल अपने व्यक्तित्व की शक्ति के कारण विजय और सफलता प्राप्त हुई।

3.1.14. पारिभाषिक शब्दावली

अवधारणा	-	धारणा या विचार,
मदोन्यत	-	नशा में चूर,
स्वराज्य	-	अपना राज्य,
उद्घोष	-	घोषणा करना,
चिरस्थायी	-	स्थिर

3.1.15. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. तिलक को भारतीय अशांति का पिता निम्न द्वारा कहा गया था।
   (अ) वैलेन्टाइन शिरोल (ब) लार्ड कर्जन
   (स) वायसराय मिंटो (द) पावेल प्राइस
2. बाल गंगाधर तिलक का जन्म कब हुआ था?
   (अ) 21 जूलाई 1855 (ब) 23 जूलाई 1857
   (स) 23 जूलाई 1856 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
3. समाचार पत्र 'केसरी' के संपादक थे।
   (अ) लाला लाजपत राय (ब) बाल गंगाधर तिलक
   (स) विपिन चन्द्रपाल (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
4. गीता रहस्य के रचयिता है।
   (अ) बाल गंगाधर तिलक (ब) स्वामी विवेकानन्द
   (स) अरबिन्द घोष (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
5. गणपति और शिवाजी उत्सवों की तैयारी की गई।
   (अ) स्वामी विवेकानन्द द्वारा (ब) स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा
   (स) बाल गंगाधर तिलक द्वारा (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
6. बाल गंगाधर तिलक कब सर्वसम्मति से कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए?
   (अ) 1917 में (ब) 1918 में
   (स) 1916 में (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

   उत्तर- 1- (अ) 2- (स) 3- (ब) 4- (अ) 5- (स)6- (स)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. तिलक के स्वराज्य प्राप्ति के चार साधन बताइए।
2. स्वदेशी के संबंध में बाल गंगाधर तिलक के धारणा की व्याख्या कीजिए।
3. राष्ट्रवाद के संबंध में तिलक के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
4. राष्ट्रीय शिक्षा पर तिलक के क्या विचार है?
5. तिलक और होमरूल आंदोलन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
6. लोकमान्य तिलक के योगदान की कुछ प्रमुख बातें लिखिए।

7. पुनरूत्थानवादी राष्ट्रवाद का आशय क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'तिलक का राष्ट्रवाद समग्र था' इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. बाल गंगाधर तिलक की स्वराज्य की अवधारणा का परीक्षण कीजिए।
3. एक उग्रवादी राजनीतिक नेता के रूप में तिलक की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
4. तिलक के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन कीजिए।
5. तिलक के सामाजिक सुधारों की क्या योजना थी?
6. आधुनिक भारत के राजनीतिक चिंतन में तिलक के योगदान का वर्णन कीजिए।
7. तिलक और गांधी के राजनीतिक चिंतन और दृष्टिकोण का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

1.16. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. जैन, डॉ0 पुखराज एवं फाड़िया, बी॰ एल॰, 2008, 'राजनीतिक चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ठ संख्या 126-140.
2. Tilak, B.G.– "Karmayoga and Swraj" Speaches and writing of Tilak – Page - 276 – 80.
3. मजूमदार, रमेश चन्द्र-हिस्ट्री आॅफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इंडिया भाग : 2 कलकत्ता-1963, पृ0सं0-15-16
4. तिलक : कर्मयोग और स्वराज स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आॅफ तिलक, पृ0सं0-276
5. इन्द्र, विद्या वाचस्पति लोकमान्य तिलक और उनका युग सस्ता : साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली-1960, पृ0सं0-183
6. जोग, एन0जी0 : लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली-1969, पृ0सं0-44
7. केलकर, नरसिंह चिंतामणि-एक अरूणोदय प्रेस पुणे-लोकमान्य तिलक चरित्र खण्ड : 1927, पृ0सं0-505
8. सिंह, लक्ष्मण : आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, कालेज बुक डिपों, जयपुर-1970, पृ0सं0-244

इकाई-2 : लाला लाजपत राय

इकाई की रूपरेखा

3.2.1. उद्देश्य
3.2.2. जीवन परिचय
3.2.3. लाला लाजपत राय की रचनाएँ
3.2.4. लाला लाजपत राय के विचार को प्रभावित करने वाले तत्व
3.2.5. लाला लाजपत राय के राजनीतिक विचार
3.2.5.1. राष्ट्रवाद संबंधी विचार
3.2.5.2. स्वराज्य संबंधी विचार
3.2.5.3. स्वतंत्रता संबंधी विचार
3.2.5.4. स्वदेशी की धारणा
3.2.5.5. संवैधानिक शांतिपूर्ण साधनों में विश्वास
3.2.5.6. लोकतंत्र संबंधी विचार
3.2.5.7. हिंदुत्व की विचारधारा
3.2.5.8. हिंदू-मुस्लिम एकता पर बल
3.2.6. लाला लाजपत राय के समाजवाद एवं सामाजिक विचार
3.2.6.1. समाजवाद संबंधी विचार
3.2.6.2. सामाजिक विचार
3.2.7. लाला लाजपत राय के आर्थिक विचार
3.2.8. लाला लाजपत राय के शिक्षा संबंधी विचार
3.2.9. लाला लाजपत राय का योगदान
3.2.9.1. जनसेवा के क्षेत्र में योगदान
3.2.9.2. राजनीति क्षेत्र में योगदान
3.2.9.3. स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण योगदान
3.2.10. सारांश
3.2.11. पारिभाषिक शब्दावली
3.2.12. बोध प्रश्न
3.2.13. संदर्भ-ग्रंथ सूची

3.2.1. उद्देश्य

- लाला लाजपत राय के जीवन परिचय को समझ सकेंगे।
- लाला लाजपत राय को प्रभावित करने वाले तत्व को समझ सकेंगे।
- लाला लाजपत राय के आर्थिक विचार को समझ सकेंगे।
- लाला लाजपत राय के शिक्षा संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
- राष्ट्रीय आंदोलन में लाला लाजपत राय के योगदान को समझ सकेंगे।

- लाला लाजपत राय के लोकतंत्र संबंधी विचार को जान सकेंगे।
- लाला लाजपत राय के हिंदुत्व संबंधी विचारधारा को समझ सकेंगे।
- लाला लाजपत राय के राष्ट्रवाद एवं स्वराज्य संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
- लाला लाजपत राय के स्वदेशी धारणा को समझ सकेंगे।

3.2.2. जीवन परिचय

लाला लाजपत राय एक महान राष्ट्रवादी और आधुनिक भारत के अग्रणी नेता थे। उनकी गणना रंजीता सिंह के बाद पंजाब में उत्पन्न होने वाले एक महानतम पुरुष के रूप में की जाती है। स्वतंत्रता संग्राम के योद्धाओं में उनका प्रमुख स्थान है। लोकमान्य तिलक और विपिनचन्द्र पाल के साथ भारत में उग्र राष्ट्रवाद के प्रवक्ताओं में लाला लाजपत राय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उनका संपूर्ण जीवन त्याग, बलिदान और राष्ट्रभक्ति से भरा हुआ है। एक समाज-सुधारक, सच्चे राष्ट्रवादी, स्वाधीनता के निर्भीक योद्धा के रूप में उन्हें संपूर्ण देश में स्मरण किया जाता है। उन्होंने अपने देशवासियों को आत्मनिर्भरता और स्वावलंबन की शिक्षा देकर ऊपर उठने की प्रेरणा दी। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने उग्रवादी साधनों को अपनाने पर बल दिया और तिलक एवं विपिनचन्द्र पाल के साथ कंधे से कंधा मिलाकर उग्र राष्ट्रीयता का प्रचार किया, लेकिन हिंसा एवं क्रांति का उन्होंने सदा विरोध किया। उन्होंने आर्य समाज तथा सर्वेण्ट्स ऑफ पीपुल्स सोसाइटी के माध्यम से समाज-सुधार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सेवा की। दीर्घकाल तक संयुक्त राज्य अमेरिका में रहने के कारण उन्हें अंतरराष्ट्रीय राजनीति एवं आर्थिक व्यवस्था की प्रमुख प्रवृतियों को समझने का मौका मिला था। अतः पक्के राष्ट्रवादी, समाजसुधारक तथा स्वाधीनता के निर्भिक योद्धा के रूप में वे संपूर्ण देश में प्रशंसा तथा प्रेम के पात्र बन गए थे।

लाला लाजपत राय का जन्म 28 फरवरी, 1865 ई. को लुधियाना जिले में स्थित जगराँव में हुआ था और 17 नवंबर, 1928 को उनका शरीरांत हो गया। 1883 में उन्होंने जगराँव में वकालत आरंभ की और बाद में वे हिसार में जाकर वकालत करने लगे। 1892 में वे लाहौर में जाकर वही कार्य करने लगे। अपने कठिन परिश्रम के बदौलत उन्होंने पंजाब में वकालत के पेशे में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। आर्य समाज के लिए कार्य करने से उनमें निःस्वार्थता, निर्भिकता और सेवा के गुणों का विकास हुआ। लाला साईदास तथा पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी के संपर्क में आने से उनमें देशभक्ति की भावना का उदय हुआ और वह दिन प्रतिदिन गहरी होती गई। डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर की विभूतियों में उनका प्रमुख स्थान था। 1880 अथवा 1881 में उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के एक भाषण में मत्सीनी के जीवन के संबंध में पढ़ा, जिसका उनके मन-मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव पड़ा। आगे चलकर उन्होंने 'लाइफ एण्ड टीचिंग्ज आफ मत्सीनी' नामक एक बड़ी पुस्तक पढ़ी। बाद में उन्होंने मत्सीनी की 'ड्यूटीज ऑफ मैन' नामक पुस्तक का उर्दू में अनुवाद भी किया और उनकी जीवनी लिखी।

1888 ई. में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित होकर सर्वप्रथम कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया और उर्दू में भाषण दिया। 1889 में कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में उनका परिचय लोकमान्य तिलक, गोखले और विपिनचन्द्र पाल से हुआ। पंजाब के आर्य समाजियों की यह धारणा थी कि कांग्रेस की स्थापना भारत में ब्रिटिश शासन को मजबूत बनाने की दृष्टि से की गई थी, इस कारण अपने प्रारंभिक

काल में लाला जी ने कांग्रेस में कोई रूचि नहीं दिखाई। 1892 में वे आर्य समाज के कार्यों में पूरी रूचि लेने लगे। 1886 में उन्होंने डी.ए. वी. कॉलेज की स्थापना लाहौर में की। 1897-98 तथा 1899-1900 के भयंकर अकाल में लाला जी ने आर्य समाज की ओर से हजारों लोगों को ईसाइयों तथा अकाल पीड़ित क्षेत्र में अन्न, धन और अन्य आवश्यक वस्तुएँ वितरित करवाई। 1895 में उन्होंने पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना में सहयोग दिया। 1900 के लाहौर अधिवेशन में उन्होंने शिक्षा तथा औद्योगिक विषयों पर विचार-विमर्श करने का आह्वान किया। उन्होंने संवैधानिक पद्धति की आलोचना करते हुए राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया। 1905 में कांग्रेस की तरफ से, ब्रिटिश लोकमत के समक्ष भारतीयों की माँगों और शिकायतों को प्रस्तुत करने के लिए गोखले के साथ प्रतिनिधिमंडल के सदस्य बन कर गए। उसी समय उनकी मुलाकात प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्याम जी कृष्णवर्मा तथा ख्यातिप्राप्त उग्र समाजवादी हाइडमैन से हुई। हाइडमैन के अतिरिक्त इंग्लैंड के अन्य समाजवादी विचारक जैसे- कीरहार्डी, ब्रेडलां तथा रैमजे मैकडोनाल्ड से भी उनका परिचय हुआ और यहीं से लाला लाजपत राय के समाजवादी विचारों का शुभारंभ हुआ। यहाँ से लाजपत राय कुछ दिनों की संक्षिप्त यात्रा पर अमेरिका चले गए एवं वहाँ अपने भाषण में भारत की गिरती आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए ब्रिटिश सरकार को उत्तरदायी ठहराया। 1905 से भारत लौटने के पश्चात् उन्होंने देश की राजनीति में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना शुरू किया। लाला जी ने बंग-भंग आंदोलन के समय बाल और पाल के साथ मिलकर जनता में अद्भूत राजनीति चेतना का संचार किया।

1905 ई. में बनारस में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के समय कांग्रेस दो गुटों में बँट गई। एक गुट के अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले तथा दूसरे गुट के अध्यक्ष बाल गंगाधर तिलक हुए। लाला जी ने इन दोनों गुटों के बीच सफलतापूर्वक मध्यस्थता की। बनारस अधिवेशन में उन्होंने कहा कि ''भारतीयों की शिकायतों पर अँग्रेज तभी ध्यान देंगे जब उनकी जेब पर सीधा खतरा आएगा।'' 1907 में उन्होंने सरदार अजीत सिंह के साथ मिलकर कालोनाइजेशन बिल के विरूद्ध आंदोलन चलाया, जिससे भयभीत होकर सरकार ने दोनों देशभक्तों पर बिना मुकदमा चलाए ही छह मास के लिए निर्वासित कर माण्डले जेल भेज दिया। इसने लाला जी को एक शहीद का गौरव प्रदान किया और वे एक राष्ट्रीय वीर के रूप में विख्यात हो गए। वहाँ से लौटने के बाद राष्ट्रवादियों के नए दल ने उन्हें सूरत अधिवेशन में कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना चाहा। पर गोखले के विरोध के कारण लाजपत राय ने अपना नाम वापस ले लिया क्योंकि वे छोटी सी बात के लिए कांग्रेस में विरोध पैदा नहीं करना चाहते थे।

1911 से 1913 का समय उन्होंने अछूतोद्धार तथा हिंदुओं को संगठित करने में लगा दिया। 1913 में कराँची अधिवेशन में उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में प्रवासी भारतीयों की समस्या पर अत्यंत ही ओजस्वी भाषण दिया। सी.वाई. चिंतामणि ने इस संबंध में लिखा है कि ''मैं सार्वजनिक वक्ता के रूप में लॉयड जार्ज और लाला लाजपत राय का एक साथ स्मरण करता हूँ। जनता के शेष को जाग्रत कर देने की दोनों में समान क्षमता थी।'' 1914 में लाजपत राय कांग्रेस के प्रतिनिधिमंडल के सदस्य के रूप में भूपेन्द्र नाथ बसु तथा जिन्ना साहब के साथ इंग्लैंड गए। वहीं से वे अमेरिका चले गए। 1916 में उन्होंने अमेरिका में 'इंडियन होमरूल लीग' की स्थापना की। वहीं पर उन्होंने भारतीय मजदूर संघ की भी स्थापना की। 1919 में भारत लौटने पर पंजाब में मार्शल लॉ और जलियाँवाला बाग की घटना से उनका हृदय आक्रोश से भर उठा।

1920 में उन्हें कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन का सभापति नियुक्त किया गया। इसी अधिवेशन में गांधीजी के असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ। 1921 में वे असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हुए और उन्हें 18 माह का कठोर कारावास दिया गया। उन्होंने असहयोग आंदोलन में पूरे जोर-शोर से भाग लिया। 1922 में गोखले का अनुसरण करते हुए 'सर्वेन्ट्स ऑफ पीपुल सोसाइटी' की स्थापना लाहौर में की। 1922 के बाद गांधीजी के दर्शन से उनकी आस्था जाती रही। अपने पत्र 'द पीपुल' के प्रथम अंक में उन्होंने लिखा- ''राजनीति में अतिशय भावुकता और नाटकीय आचरण के लिए स्थान नहीं है। कुछ समय से हम ऐसी योजनाओं का प्रयोग करते आए हैं जिन्हें मानव स्वभाव में तत्काल और उग्र परिवर्तन किए बिना कार्यान्वित करना सम्भव नहीं है। राजनीति का संबंध प्रथमतः और तत्वतः राष्ट्र के जीवन के तथ्यों से है और उसमें यह देखना पड़ता है कि उन तथ्यों के आधार पर उसकी प्रगति की क्या सम्भावनाएँ हैं। मानव स्वभाव को महीनों और वर्षों में नहीं बदला जा सकता। उसको बदलने के लिए दशकों बल्कि शताब्दियों की आवश्यकता हो सकती है। पैगंबर, स्वप्नदृष्टा तथा कल्पनाबिहारी पृथ्वी का लावण्य होते हैं। उनके बिना संसार फीका पड़ जायेगा। किंतु किसी राष्ट्र की मुक्ति का आंदोलन मनुष्य स्वभाव को शीघ्र बदलने के प्रयत्न पर आधारित नहीं किया जा सकता विशेषकर जब वह शासन तलवार के बल पर थोपा गया हो और तलवार के ही बल पर कायम हो।''

खिलाफत के प्रश्न पर भी उन्होंने गांधीजी का समर्थन नहीं किया। उनका कहना था कि राजनीति में धर्म का प्रयोग सही नहीं हैं। 1925 में वे स्वराज्य दल का समर्थन किया एवं केंद्रीय धारा सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। किंतु जब उन्होंने देखा कि स्वराज्य दल मुसलमानों के अनुचित माँग को मानने और हिंदुओं की उचित माँगों की उपेक्षा कर रहा है तो वे स्वराज्य दल से अलग हो गए और पं. मदनमोहन मालवीय के साथ मिलकर हिंदू महासभा के संगठन का कार्य किया। 1926 में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में आठवें अंतरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भाग लेने जेनेवा गए। लाजपत राय ने भारतीय विधानसभा में साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा। उन्होंने सरकार के लोक सुरक्षा विधेयक के विरूद्ध ओजस्वी भाषण दिया। 30 अक्टूबर, 1928 को साइमन कमीशन का बहिष्कार करने के लिए लाहौर में एक विशाल जुलूस निकाला। ब्रिटिश सर्जेन्ट ने उनपर लाठी से आक्रमण कर दिया। कुछ सप्ताह के उपरांत 17 नवंबर, 1928 को इस महान देशभक्त का स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार निम्नलिखित वाक्यांशों में लाला जी का जीवन-दर्शन व्यक्त हुआ है-

''मेरा धर्म - हकपरस्ती
मेरा विश्वास - कौमपरस्ती
मेरा न्यायालय - मेरा अंतःकरण
मेरी संपत्ति - मेरी कलम
मेरा मंदिर - मेरा हृदय
मेरी उमंगें - सादा जीवन
मेरी माता - आर्य समाज
मेरे धर्मपिता - स्वामी दयानन्द''

3.2.3. लाला लाजपत राय की रचनाएँ

लाला लाजपत राय ओजस्वी लेखक तथा उत्कृष्ट वक्ता थे। उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' लिखी है जो हिंदी में प्रकाशित हुई। उन्होंने उर्दू में मत्सीनी की जीवनी लिखी, जिसने पंजाब के युवकों पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने कृष्ण की शिक्षाओं पर भी एक पुस्तक लिखी। उन्होंने 'पंजाबी', उर्दू में 'वन्देमातरम्' और 'द पीपुल' इन तीन समाचार पत्रों की स्थापना की, जिसके माध्यम से उन्होंने स्वराज्य का संदेश फैलाया। उन्होंने 'नेशनल एजुकेशन' नामक पुस्तक भी लिखी, जिसमें उन्होंने प्रचलित शिक्षा प्रणाली में सुधार करने का सुझाव दिया। उन्होंने मिस कैथराइन मेयो की पुस्तक 'मदर इंडिया' के उत्तर में 'अनहैपी इंडिया' नामक पुस्तक लिखकर उसको मुँहतोड़ जबाब दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीकृष्ण, अशोक, शिवाजी, स्वामी दयानन्द, गुरूदत्त, मत्सीनी तथा गैरीबाल्डी की संक्षिप्त जीवनियाँ भी लिखीं, जिससे उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति तथा प्रभावकारी शैली का परिचय मिलता है। 1908 में उन्होंने 'द स्टोरी ऑफ माइ डिपोर्टेशन' लिखी, जिससे ब्रह्मा की जनता के रीति-रीवाज तथा तौर-तरीकों का विश्लेषण स्पष्ट होता है।

अमेरिका में रहकर उन्होंने 'यंग इंडिया' तथा 'इंगलैण्ड्स डैट टू इंडिया' नामक दो पुस्तकें लिखी। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने 'द फाइट फॉर क्रंब्ज', 'ए कॉल टु यंग इंडिया', 'एन ओपिन लेटर टु लॉयड जार्ज', 'सेल्फ डिटरमिनेशन फार इंडिया' आदि कई पुस्तकें भी लिखी। अपनी निरंतर यात्राओं तथा पत्रकारिता संबंधी कार्यवाहियों द्वारा लाला जी ने अमेरिका में भारत के लिए तीव्र प्रचार जारी रखा। उन्होंने 'द यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका : ए हिंदूज इम्प्रैशन्स एण्ड ए स्टडी' नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें उन्होंने नीग्रो लोगों की दशा, अमेरिकी शिक्षा-प्रणाली तथा अमेरिका में भारतीयों की स्थिति आदि समस्याओं का विवेचन किया तथा अमेरिकी जनता के हृदय में भारत के लिए सहानुभूति उत्पन्न किया।

इस प्रकार शायद भारत के राजनीतिक नेताओं में लाला जी ने ही सबसे अधिक लिखा है। वैसे विपिन चन्द्र पाल, लाजपत राय और मानवेन्द्रनाथ राय, ये तीन राजनीतिक नेता ऐसे हुए हैं जिन्हें सबसे अधिक पुस्तकें लिखने का श्रेय प्राप्त है।

3.2.4. लाला लाजपत राय के विचार को प्रभावित करने वाले तत्व

लाला लाजपत राय के चिंतन पर स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज का गहरा प्रभाव पड़ा। आर्य समाज की सदस्यता ने उनके विचारों में आमूल-चूल परिवर्तन किया। आर्यसमाज ने ही उनमें राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति की भावना का संचार किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जब लाला जी पश्चिम दौरे पर थे तब वहीं उन्होंने 'द आर्य समाज' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। उन्होंने पंजाब आर्य समाज में सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपना जीवन आरंभ किया। आर्य समाजी होने के नाते वे जाति-प्रथा के अन्यायों के विरूद्ध थे और ऐसे सद्धर्म का विकास करना चाहते थे जो मनुष्य को सच्चे अर्थ में उदात्त बनाने में सहायक हो सके। वे चाहते थे कि आर्य समाज पुरातनवादी से मिश्रित गतिशीलता की नीति अपनाए और इस प्रकार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। एक बार उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा इटली के क्रांतिकारी 'मैजिनी' पर एक भाषण सुना। इससे वे इतने प्रभावित हुए कि मैजिनी को अपना गुरू मान लिया। मैजिनी, गेरीबल्डी एवं कैबूर के जीवन तथा कार्यों का उन्होंने विशद अध्ययन किया और उनमें अपने राजनीतिक जीवन का कार्य निर्धारित किया। इंग्लैंड के प्रसिद्ध समाजवादी विचारक हाइडमैन के

संपर्क से ही लाजपत राय के विचारों में समाजवादी झुकाव आया। लोकमान्य तिलक और पं. मदनमोहन मालवीय के विचारों से भी वे काफी प्रभावित थे।

3.2.5. लाला लाजपत राय के राजनीतिक विचार

लाला लाजपत राय एक वीर योद्धा, राष्ट्रभक्त और राजनीतिक चिंतक थे। उग्रवाद के प्रणेताओं में उनका नाम तिलक, पाल और अरबिंद घोष के साथ लिया जाता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने उदारवादियों की याचनावृत्ति में भी अनास्था प्रकट की। उन्होंने कहा कि ''यदि भारत स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है तो उसे अंग्रेजों से याचनावृति का परित्याग कर स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा।'' उनके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं-

3.2.5.1. राष्ट्रवाद संबंधी विचार

डॉ. वी.पी. वर्मा के अनुसार, "वे वीर योद्धा तथा पक्के राष्ट्रवादी थे किंतु अक्रामक क्रांतिकारी राष्ट्रवादी नहीं थे और न ही वे अनिश्चित अस्पष्ट विश्वराज्यवाद के समर्थक थे।'' उनकी राष्ट्रवादी धारणा 19वीं शताब्दी के इटली के राष्ट्रवादियों से मिलती जुलती थी। वे इस सिद्धांत को मानते थे कि हर राष्ट्र को अपने आदेशों को निश्चित और क्रियान्वित करने का मूल अधिकार है। उसके इस अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना अस्वाभाविक तथा अन्यायपूर्ण है। इसलिए उन्होंने कहा कि भारत को शक्तिशाली स्वतंत्र राजनीतिक जीवन का निर्माण करके अपने को सबल बनाना उसका पहला अधिकार है। पी.एन. किरपाल के शब्दों में- ''लाला लाजपत राय का आदर्श भारतीय राष्ट्रवाद था, इसी आदर्श के लिए उन्होंने काम किया, कष्ट झेले और अंततोगत्वा अपने जीवन का बलिदान कर दिया। वे राष्ट्रीय आंदोलन के वीर सिपाही ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने राष्ट्रवादी भावना पर अपनी स्वयं की छाप भी छोड़ी और उसे एक नया अर्थ दिया। उसके विचारों ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया रंग एवं मोड़ दिया।''

लाला लाजपत राय को राष्ट्र के प्रति असीम स्नेह था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेकने के लिए वे भारत में राष्ट्रवाद के उत्थान के समर्थक थे। अपनी रचना 'यंग इंडिया' में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि भारत को अंग्रेजों ने तलवार के बल पर नहीं बल्कि सिद्धांतहीन, कुटिल राजनीतिक चालों के द्वारा विजय किया था। अतः यदि ब्रिटेन के आधिपत्य का अंत करने के लिए अंग्रेजों और भारतीयों के अधिकारों और कर्तव्यों में सामंजस्य करना अति आवश्यक है। उनका मत था कि भारत जैसे पराधीन देश की राजनीति केवल राष्ट्रवाद की राजनीति ही हो सकती है। वे भारतीय राष्ट्रवाद को एक गंभीर तथा बलशाली शक्ति मानते थे। उनका कहना था कि राष्ट्रवाद शहीदों के रक्त से फलता-फूलता है और दमन की नीति से और भी अधिक उतेजना मिलती है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद को लिटन, कर्जन, सिडनहम आदि से विरोध प्रतिक्रिया की प्रक्रिया द्वारा महत्वपूर्ण सहायता मिली है। इस क्रूर तथा स्वेच्छाचारी शासकों ने ही भारतीय राजनीति में हिंसात्मक तथा आतंकवादी कार्यवादियों को उत्तेजित किया है।

लाला जी ने देशभक्ति की भावना को राष्ट्रवाद के सिद्धांत से परिपक्व किया और इसके लिए भारत के गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा ग्रहण की। उनका कहना था कि ब्रिटिश शासन देश के इतिहास में सर्वाधिक नैतिक पतन करने वाला सिद्ध हुआ जबकि भारत अपने सुदूर अतीत में एक आश्चर्यजनक सभ्यता, आश्चर्यजनक साहित्य एवं सुसंगठित सामाजिक व्यवस्था वाला राष्ट्र था। भारतीयों में मुस्लिम शासकों ने भी यहाँ राजस्व का एक-एक पैसा खर्च किया था। हिंदुओं के प्रति उनका द्वेष राजनीतिक न

होकर धार्मिक था। वे हिंदू राज्य के उच्चत्तम पदों पर विराजमान थे। मुस्लिम शासकों ने उन्हें निःशस्त्र करने का भी प्रयत्न नहीं किया। मुस्लिम सरकार पूरी तरह से देशी सरकार थी, लेकिन ब्रिटिश शासन में इतिहास की धारा ही पलट दी। इतिहास में पहली बार विदेश में बने कानून से भारत का शासन चल रहा था एवं पहली बार एक ऐसे सम्राट द्वारा शासन चलाया जा रहा था जो देश में नहीं रहता था। लाला लाजपत राय उन भारतीय राष्ट्रवाद को एक नई शक्ति दी, एक नया बल दिया एवं भारत के गौरवशाली अतीत की ओर झाँकने का संदेश भी दिया। उन्होंने मैजिनी के इस कथन को कि ''दृढ़ एवं एकनिष्ठ स्वदेश प्रेम मानवता के प्रति प्रेम का सहगामी है'', स्वीकार किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ''राष्ट्र राज्य से उच्च है, राष्ट्र ही राज्य के स्वरूप का निर्धारण करता है।''

लाजपत राय संकीर्ण राष्ट्रवाद के समर्थक नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि देशभक्ति और राष्ट्रवाद अंततोगत्वा अंतर्राष्ट्रवाद से जुड़े हुए हैं। उनकी राष्ट्रीय एकता की धारणा केवल हिंदू और मुस्लिम तक सीमित नहीं थी। वे इनके साथ-साथ सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी आदि को भी एकता में शामिल करना चाहते थे। वे सभी संप्रदायों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधकर स्वराज्य की कल्पना की कामना कर रहे थे। इस प्रकार लाला लाजपत राय राष्ट्रवाद के मार्ग पर चलते हुए दासता के बंधनों को काटकर मातृभूमि को स्वतंत्र करना चाहते थे। उनका एकमात्र धर्म देशभक्ति था तथा एक मात्र उपास्य देवी ''मातृभूमि''।

3.2.5.2. स्वराज्य संबंधी विचार

लाला लाजपत राय ने स्वराज्य की व्याख्या बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की है। उनके अनुसार स्वराज्य का अभिप्राय जनता को राष्ट्र के सभी वर्गों और संपूर्ण मानव जाति के हित के लिए स्वयं को एक संप्रभुता संपन्न राष्ट्र के रूप में संगठित करने का अधिकार है। स्वराज्य से अभिप्राय जनता को अपनी इच्छानुसार शासन चलाने का अधिकार होना चाहिए। उनका मानना था कि केवल सरकार के परिवर्तन से ही सच्चा स्वराज्य नहीं आ सकता, यदि ब्रिटिश नौकरशाही के स्थान पर भारतीय नौकरशाही स्थापित हो जाए और वह जन इच्छा का सम्मान नहीं करे एवं अपने को जनता के प्रति उत्तरदायी न समझे तो उसे हम स्वराज्य नहीं कह सकते। सच्चे अर्थों में स्वराज्य तभी है जब शासन जनता के लिए तथा जनता के प्रति उत्तरदायी हो।

लाला लाजपत राय संप्रदायिकता की भावना से कोसों दूर थे। इसलिए उन्होंने जिस स्वराज्य की कल्पना की उसमें सभी जातियों और वर्गों के कल्याण की कामना थी। वे सभी संप्रदायों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। उनके अनुसार भारत की एकता विभिन्नता पर आधारित है न कि शक्ति अथवा नियंत्रण द्वारा स्थापित कृत्रिम एकता की भावना पर। लाला लाजपत राय तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हुए ब्रिटेन से पूर्ण संबंध विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थे तथा स्वशासन और औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार करने के पक्ष में थे। यद्यपि वे भारत को पूर्ण स्वाधीन और पूर्ण प्रभुत्व संपन्न राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे, लेकिन देश की तत्कालीन परिस्थितियों की माँग यही थी कि प्रारंभिक सीढ़ियों के रूप में गृहशासन तथा औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थिति को भी स्वीकार कर लिया जाए। फिर भी उन्होंने कहा कि ''रेंग-रेंगकर स्वराज्य प्राप्ति की बात करने से जनता का जोश ठंडा हो जाएगा।'' इस प्रकार लाला लाजपत राय के स्वराज्य प्राप्ति की अवधारणा उदारवादियों से भिन्न थी। उदारवादी ब्रिटिश जाति की न्याय की स्वतंत्र भावना को उकसाकर धीरे-धीरे स्वराज्य प्राप्त

करना चाहते थे, जो लाजपत राय को मंजूर नहीं था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि ''यह प्रश्न स्वतंत्रताओं के विस्तार का नहीं था वरन हमारे एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जन्म लेने का था।''

3.2.5.3. स्वतंत्रता संबंधी विचार

लाला जी ने अपनी पुस्तक 'इंग्लैंड डेट टू इंडिया' में बताया कि ''भारत की राजनीतिक मुक्ति स्वराज्य के द्वारा ही हो सकती है जिसका मूल तत्व स्वतंत्रता है, जो माँगने से नहीं बल्कि कुछ करने से प्राप्त हो सकती है।'' उन्होंने स्पष्ट कहा कि ''स्वतंत्रता के अभाव में जीवन का कोई मूल्य नहीं है और स्वराज्य की प्राप्ति के बिना कोई स्वतंत्रता हो ही नहीं सकती, किंतु वे स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रार्थनाओं, याचनाओं और कोरे विरोध प्रदर्शनों में नहीं वरन् देशवासियों के पुरुषार्थ और मनोबल में विश्वास करते थे।'' उनका संदेश था कि ''स्वतंत्र होने के लिए हमें अपने पीछे विनाशकारी शक्ति रखनी चाहिए, उसकी भौतिक शक्ति लेना आवश्यक नहीं है। हमें राष्ट्र के मनोबल का निर्माण, निर्देश और नियंत्रण इस प्रकार करना चाहिए जिससे वह अजेय हो उठे।'' इस प्रकार लाला जी ने अपने राजनीति उद्देश्यों में स्वतंत्रता को सर्वोपरि माना है। उनका यह विश्वास था कि भारत की स्वतंत्रता की माँग इस कारण से भी उचित है कि प्रत्येक राष्ट्र को आत्मनिर्णय का अधिकार है।

3.2.5.4. स्वदेशी की धारणा

लाला लाजपत राय ने कहा कि स्वदेशी का अर्थ है अपने ही देश की वस्तुओं का प्रयोग। वे स्वदेशी के समर्थक थे। स्वदेशी की भावना से देशवासियों में आत्मनिर्भरता, आत्मसहायता तथा आत्मसम्मान की भावना विकसित होगी। स्वदेशी आंदोलन के महत्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा- ''मैं स्वदेशी को अपने देश के लिए उत्थान का उपाय समझता हूँ। स्वदेशी आंदोलन को हमें आत्माभिमानी आत्मविश्वासी, स्वावलंबी और त्यागी बनाना है। स्वदेशी आंदोलन से हमें यह सीखना चाहिए कि हम किस प्रकार अपनी शिक्षा, अपने साधनों, श्रम शक्ति, प्रतिभा का प्रयोग करें। स्वदेशी हमें धर्म और जातियों के बंधन से मुक्ति दिला सकती है।'' उनके अनुसार स्वदेशी वह अस्त्र है जिसके द्वारा दासता के बंधन से छुटकारा पाया जा सकता है। उनकी दृष्टि में स्वदेशी आंदोलन का मूल्यांकन उनके आर्थिक परिणामों से नहीं बल्कि स्वाभिमान और स्वावलंबन की भावना जगाने की क्षमता द्वारा किया जाना चाहिए। स्वदेशी को अंगीकार करने का संदेश देते हुए उन्होंने कभी भी संकीर्णता प्रदर्शित नहीं की। सन् 1907 में सूरत के अखिल भारतीय स्वदेशी सम्मेलन में उन्होंने कहा- ''स्वदेशी की भावना का जीवन के प्रत्येक विभाग में प्रवेश होना चाहिए। केवल शर्त यह है कि जो कुछ भी पाश्चात्य जगत से अपनी समृद्धि और प्रगति के लिए हमें सीखना है उसे सीखने से कोई शर्म या लज्जा हमें महसूस नहीं करनी चाहिए।''

3.2.5.5. संवैधानिक शांतिपूर्ण साधनों में विश्वास

लाला जी उदारवादी साधनों और विचारधारा में विश्वास नहीं करते थे। परंतु उन्होंने कभी भी आतंकवाद और सशस्त्र क्रांति को प्रोत्साहन नहीं दिया। सशस्त्र क्रांति और आंतकवाद का विरोध करते हुए उन्होंने देशवासियों को निर्भीकतापूर्वक ब्रिटिश आत्याचारों का सामना करने की प्रेरणा दी। उनका कहना था कि- ''हमें आवश्यकता हिंसा की नहीं दृढ़ता की है, अवसरवादिता की नहीं सिद्धांतवादिता की है।'' उनके मत में सशस्त्र क्रांति को छोड़कर हमें आत्मनिर्भरता और तुफानी मनोबल की ओर बढ़ना चाहिए। उन्होंने गांधी के सत्याग्रह सिद्धांत का समर्थन किया।

3.2.5.6. लोकतंत्र संबंधी विचार

लाला लाजपत राय लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के समर्थक थे। उनके अनुसार लोकतांत्रिक संस्थाएँ जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप से अपने इच्छाओं को अभिव्यक्त करने का उपाय है। वे ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था चाहते थे, जिसमें लिंग, विश्वास, रंग तथा प्रजाति के भेद रहित समानता पर आधारित शासन प्रणाली में गुण हो। उन्होंने ब्रिटेन और अमेरिका को भी सच्चे अर्थों में लोकतांत्रिक मानने से इनकार कर दिया, क्योंकि इन देशों की पूँजीवादी और साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ शोषण का द्वार खोले हुए थी। लाजपत राय उदारवादियों की लोकतांत्रिक विचारधारा से सहमत नहीं थे। वे विधान परिषदों के विस्तार की माँग करते थे और चाहते थे कि उनमें अधिकाधिक संख्या में भारतीयों को स्थान दिया जाए। इंग्लैंड और भारत में सिविल सर्विस की परीक्षाएँ साथ-साथ ली जाएँ। इस प्रकार उनकी माँगें बुद्धिजीवियों के लिए प्रशासनिक क्षेत्र में उच्च पदों पर नियुक्त की थी। इन माँगों का जनसाधारण के हितों से कोई संबंध नहीं था। लाला जी ने कहा कि ''स्वराज्य'' की माँग जनसाधारण के कल्याण की भावना से ओत प्रोत है और इस माँग की पूर्ति जनशक्ति के बल पर ही संभव है।

लाला लाजपत राय आत्मनिर्णय के अधिकारों के समर्थक थे। उन्होंने पश्चिमी देशों की इस धारणा का खंडन किया कि भारत के लोग लोकतांत्रिक संस्थाओं से अपरिचित थे और उन्हें अभी लोकतंत्र के क्षेत्र में प्रशिक्षित करना है और तभी वे उत्तरदायी शासन के योग्य बन सकेंगे। लाला जी शक्ति के विकेंद्रीकरण के समर्थक थे। वे ब्रिटेन के प्रतिनिध्यात्मक शासन के आदर्श को भारत के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे। वे लोकतंत्र तथा समाजवाद का समन्वय चाहते थे।

3.2.5.7. हिंदुत्व की विचारधारा

लाला लाजपत राय ने अपनी पुस्तक 'द आर्य समाज' में आर्य समाज को अधिक सार्वभौमवादी तथा सहिष्णुतावादी नीति अपनाने पर बल दिया है। वे कट्टरवादी विचार को पसंद नहीं करते थे। उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि हिंदू धर्म को भारतीय राष्ट्रवाद के वृहत्तर धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाए। अतः वे चाहते थे कि आर्य समाज ''पुरातनवाद से मिश्रित गतिशीलता की नीति को अपनाए और इस प्रकार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो।'' आर्य समाजी होने के नाते लाला जी को प्राचीन भारत की परंपराओं तथा ऐतिहासिक भावनाओं से प्रेम था। इसलिए वे अतीत से संबंध नहीं तोड़ना चाहते थे। उन्हीं के शब्दों में- ''धर्म को जीवन से निष्कासित करना बहुत खतरनाक है। वे स्वीकार करते थे कि आधुनिक सभ्यता ने आराम तथा आनंद देने वाली व्यवस्था का निर्माण करने का चमत्कार कर दिखाया है, किंतु वेदों के विश्वशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय आदर्श आधुनिक सभ्यता के आदर्शों की अपेक्षा सत्य से निकट है। लाला के अनुसार धर्म का प्रयोजन केवल नैतिक उन्नति और अध्यात्मिक आनंद की प्राप्ति नहीं है, बल्कि सामाजिक विकास में योगदान देना भी उन्हीं का काम है। 1925 में हिंदू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन में उन्होंने सभा का कार्यक्रम तथा नीति इस प्रकार निश्चित की-

1. संपूर्ण देश में हिंदू सभाओं का संगठन करना,
2. जिन हिंदुओं को सांप्रदायिक दंगों के कारण सहायता की आवश्यकता पड़े उन्हें सहायता देना,
3. जिन हिंदुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना दिया गया है उन्हें पुनः हिंदू धर्म में परिवर्तित करना,
4. हिंदू युवक और युवतियों के लिए अखाड़ों का संगठन करना,
5. हिंदी को लोकप्रिय बनाना

6. हिंदू त्योहार को इस ढंग से मनाना कि हिंदुओं के विभिन्न समुदायों के बीच भाइचारे की भावनाओं का विकास हो सके।
7. मुसलमान तथा ईसाइयों के साथ सद्भावना बढ़ाना,
8. हिंदू युवकों को औद्योगिक कामकाज के लिए प्रोत्साहित करना,
9. हिंदू स्त्रियों की दशा में सुधार
10. सभी राजनीतिक विचारों में हिंदुओं के सांप्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करना
11. सभी युवकों को औद्योगिक कामकाज अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना
12. हिंदू कृषकों और गैर-कृषकों के बीच सद्भावना उत्पन्न करना,

हिंदू महासभा से जुड़ने के बाद भी लाला जी के विचार साम्राज्यवादी नहीं थे। उन्होंने जाति-प्रथा के अन्यायों की निंदा की। वे जाति-प्रथा को हिंदू समाज का कलंक मानते थे।

3.2.5.8. हिंदू-मुस्लिम एकता पर बल

लाला लाजपत राय हिंदू-मुस्लिम एकता के समर्थक हैं। उनका कहना था कि मुसलमान भी इसी देश के वासी और भाई हैं, इसलिए हिंदू-मुस्लिम दंगा के समय हमें हर संभव उसे रोकने की कोशिश करनी चाहिए। लाला जी का कहना था कि मुसलमानों को विदेशी समझना हमारी भूल है। यद्यपि उन्होंने भारत में आकर अपना शासन स्थापित किया किंतु वे भारत के ही होकर रह गए और इसी धरती के पुत्र बनकर रह गए। 1927 के मद्रास कांग्रेस में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता का समर्थन किया, किंतु वे हिंदुओं के हितों को आहत करने के पक्ष में नहीं थे।

हालाँकि 1921 में मोपला लोगों ने हिंदुओं पर जो भयंकर अत्याचार किए उससे लाला जी को भारी चिंता हुई। उनका विचार था कि सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा सांप्रदायिक निर्वाचक समूह मुसलमानों के इस दावे से मेल नहीं खाते कि उन्हें राष्ट्रवाद तथा एकता में विश्वास है। कांग्रेस द्वारा मुस्लिम सांप्रदायिकता को तुष्ट करने के लिए प्रथम प्रतिनिधित्व स्वीकार करने का उन्होंने विरोध किया। उन्होंने ब्रिटिश शासन को भारत में सांप्रदायिक फूट फैलाने के लिए उत्तरदायी ठहराया। वे मुसलमानों के आक्रामक रवैए को देखते हुए हिंदुओं के संगठित होने का समर्थन करने लगे। उन्होंने भारत के लिए अत्यधिक स्वतंत्रता का हमेशा समर्थन किया किंतु साथ ही, धर्म निरपेक्षता को बरकरार रखने की बात कही। वे राजनीति को धार्मिक संकीर्णता से दूर रखना चाहते थे। उन्होंने हिंदू राष्ट्र के समर्थकों को कभी प्रोत्साहित नहीं किया। हिंदू महासभा के नेताओं को भी उन्होंने सुझाव दिया कि महासभा को सामाजिक संगठन का कार्य करना चाहिए और राजनीतिक प्रश्नों से दूर रहना चाहिए।

हिंदू राष्ट्रवाद के बजाए वे भारतीय राष्ट्रवाद के प्रवक्ता थे। गांधी जी ने उनके बारे में लिखा- ''लाजपत राय इस्लाम के शत्रू नहीं थे। उनकी हिंदू धर्म को संगठित तथा शुद्ध करने की अभिलाषा को मुसलमानों अथवा इस्लाम के प्रति घृणा नहीं समझना चाहिए। वे हिंदू-मुसलमान एकता को बढ़ाने तथा प्राप्त करने के सच्चे इच्छुक थे।'' लाला लाजपत राय की बुद्धि कुशाग्र थी। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम समस्या को हल करने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया। उनका कहना था कि ''भारतीय समाज तथा राजनीति की वर्तमान परिस्थितियों में जाति प्रथा एक भयंकर बुराई और हिंदू संगठन के मार्ग में भयंकर बाधा है।''

3.2.6. लाला लाजपत राय के समाजवाद एवं सामाजिक विचार

3.2.6.1. समाजवाद संबंधी विचार

अपने इंगलैंड प्रवास के दौरान लाजपत राय प्रसिद्ध समाजवादी विचारक हाइडमैन, सिडनी वैब, ब्रेडलां आदि के संपर्क में आए। 20 फरवरी, 1920 को अमेरिका से लौटने पर उन्होंने अपना समय समाजवादी विचारों के प्रचार में लगाया। वे पूँजीपतियों तथा जमींदारों के शक्ति में वृद्धि के खिलाफ थे। उन्होंने वर्तमान सामाजिक ढाँचे को अनुचित और अन्यायपूर्ण बताया। लाला लाजपत राय एक ऐसे समाजवादी थे जो श्रम और पूँजी के संघर्ष से बचना चाहते थे। उनका कहना था कि भारतीय श्रम और पूँजी को समान स्तर मिलना चाहिए और भारत की औद्योगिक प्रगति के लिए सहयोग के साथ कार्य करना चाहिए। समाजवाद से उनका अभिप्राय एक ऐसी व्यवस्था से था जिसके द्वारा श्रमिकों को उसकी पराधीनता से उपर उठाया जा सके। वे श्रमिकों के साथ न्याय पूँजीवाद को बलि देकर नहीं करना चाहते थे। उनके अनुसार भारत के विकास के लिए श्रम और पूँजी दोनों का सहयोग आवश्यक है। 1920 में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उन्होंने भारतीय श्रमिकों तथा यूरोपीय सर्वहारा के बीच मैत्री स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया। यूरोप के पूँजीपतियों की भर्त्सना की क्योंकि वे राष्ट्रवाद की आड़ में संसार को विनाश की ओर ले जा रहे थे।

लाला जी को समाजवाद में विश्वास था परंतु वे साम्यवादी नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि ''न तो मैं साम्यवादी हूँ और नहीं मुझे साम्यवाद के सिद्धांतों से अधिक सहानुभूति ही है।'' साम्यवाद की हिंसा, वर्ग-संघर्ष और श्रमिक वर्गीय तानाशाही की मान्यताएँ उन्हें स्वीकार नहीं थी। वस्तुतः वे समाजवादी विचारों के अधिक निकट थे, क्योंकि समाजवाद के मूल सिद्धांतों- शोषण का उन्मूलन, श्रमिकों की दशाओं में सुधार, पूँजी को श्रम के स्तर में लाना, राष्ट्रीयकरण, पूँजीवादी और औपनिवेशिक साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध आदि में उनकी आस्था थी। उनका कहना था कि संसार के असंतुष्ट और शोषित देशों को अधिकार देकर ही उन्हें साम्यवादी रास्ते से रोका जा सकता है। यदि भारत जैसे देश को राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान नहीं की गई तो देश में साम्यवाद को आने से रोका नहीं जा सकता।

लाला लाजपत राय राष्ट्रीय आंदोलन के उन नेताओं में से थे जिन्होंने श्रमिक वर्ग की भलाई के लिए सक्रिय प्रयास किया। वे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य थे। उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस 'अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन' में अपना प्रतिनिधि भेजे। बाद में उन्होंने अखिल भारतीय मजदूर संगठन के प्रतिनिधि के रूप में 'अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन अधिवेशन' में भाग लिया। इस प्रकार लाला जी पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद के कट्टर शत्रु थे। वे पश्चिमी जीवन के अनुभव के आधार पर मानते थे कि जीवन की पूँजीवादी व्याख्या के मुकाबले में समाजवादी व्याख्या अधिक विश्वसनीय और उदार है।

3.2.6.2. सामाजिक विचार

लाला लाजपत राय समाज-सुधार के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किए। वे आर्य समाज से जुड़े हुए थे और आर्य समाज ने सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध विद्रोह किया था। उन्होंने आर्य समाज के महत्वपूर्ण कार्यक्रमों जैसे-म बाल-विवाह की भर्त्सना, विधवाओं की दयनीय स्थिति का प्रतिकार तथा अछूतों के उद्धार आदि को आगे बढ़ाया। उनके नेतृत्व में आर्य समाज को राष्ट्रीय आंदोलन से संयुक्त कर दिया गया। राष्ट्रीय समृद्धि के लिए समाज-सुधार को आवश्यक तत्व मानते थे। उस समय समाज-सुधार के संबंध में

दो दृष्टिकोण प्रचलित थे- एक विवेक पर आधारित समाजवादी दृष्टिकोण और दूसरा पुनरूत्थानवादी दृष्टिकोण। जहाँ सुधारवादी विवेक एवं यूरोपीय समाज से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे, वहीं पुनरूत्थानवादियों की प्रेरणा का श्रोत भूतकालीन ऐतिहासिक धरोहर एवं प्राचीन संस्थाएँ थीं। लाला लाजपत राय ने दोनों ही दृष्टिकोण को समन्वित किया। वे न तो पाश्चात्य प्रभावों के विरूद्ध थे और न प्राचीन हिंदुत्व के सांस्कृतिक मूल्यों के। उनके अनुसार प्राचीन हिंदुओं को किसी भी दृष्टिकोण से विश्व की शेष जनता से हीन नहीं माना जा सकता था। फिर भी वे भारत के समस्त अतीत का पुनर्जागरण असंभव मानते थे।

एक सच्चे और निष्ठावान आर्यसमाजी के रूप में लाला जी ने प्राचीन भारतीय नैतिक मूल्यों, बौद्धिक रीतियों और परंपराओं में विश्वास प्रकट किया। उन्होंने संदेश दिया कि हिंदू धर्म महान है और भारतवासियों का यह कर्तव्य है कि पश्चिम की चकाचौंध में डूबकर अतीत की अपनी महान धरोहर को नष्ट होने से बचाए एवं अपने अमूल्य संस्कृति को खोने से बचाए। भारत के नैतिक मूल्यों और हिंदू धर्म की महानता पर मिथ्या आरोप से लाला जी को मर्मांतक पीड़ा होती थी। जब मिस मेयो ने अपनी पुस्तक 'मदर इंडिया' में हिंदू धर्म पर मिथ्या, अनर्गल और घृणास्पद आरोप लगाए तो लाजपत राय ने अपनी पुस्तक 'अनहैप्पी इंडिया' में इन आरोपों का खंडन किया। इस पुस्तक में लाला जी ने हिंदू धर्म के आधारभूत सिद्धांतों और संस्थाओं का समर्थन किया तथापि हिंदू धर्म में आई बुराइयों की निंदा भी की।

लाला लाजपत राय अश्पृश्यता और जाति-प्रथा के विरोधी थे। अछूतों की दयनीय अवस्था के लिए वे हिंदुओं की जाति-व्यवस्था को दोषी मानते थे। वे दलित वर्ग को सामाजिक प्रतिष्ठा में अन्य वर्गों के समान बनाना चाहते थे ताकि उनके साथ सामाजिक अन्याय तथा भेद-भाव न हो। अश्पृश्यता की समस्या का निवारण के लिए उन्होंने वेदों का उदाहरण देते हुए कहा कि प्राचीन जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील थी। आर्यों के समाज में कोई भी व्यक्ति अपने गुणों के आधार पर उच्च स्थान प्राप्त कर सकता था। शास्त्रों के अनुसार निम्न वर्ग के प्रति दुर्व्यवहार उचित नहीं ठहराया जा सकता था। उन्होंने भारत की राजनीतिक एकता के लिए अछूतोद्धार को आवश्यक माना। उन्होंने हिंदुओं को हिंदूकरण का बोध कराकर हरिजन को समाज का अविभाज्य अंग माना और सैकड़ों हरिजनों को यज्ञोपवीत धारण करवाया तथा उनके साथ बैठकर भोजन-पानी ग्रहण किया। उन्होंने धार्मिक बुराइयों की भी कठोर आलोचना की। धर्म को संकीर्ण अर्थ में लेना उन्हें कभी रूचिकर नहीं लगा। सच्चे धर्म का अनुसरण और धार्मिक सहिष्णुता का विकास, यह लाला जी की दृष्टि में आर्य समाज की आधारशिला थी। सांप्रदायिक दंगों से उन्हें घृणा थी। उनका हिंदू महासभा से संबंध था, किंतु वे कभी संप्रदायवादी नहीं बने। 1927 की मद्रास कांग्रेस में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रस्ताव का समर्थन किया।

3.2.7. लाला लाजपत राय के आर्थिक विचार

लाला लाजपत राय ने दादा भाई नौरोजी के विचारों का समर्थन करते हुए भारत की आर्थिक विपन्नता के लिए ब्रिटिश शासन को उत्तरदायी ठहराया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इंग्लैंड डेट टू इंडिया' में प्रतिपादित किया कि जहाँ मुसलमान बाहर से आकर भी इस देश के अंग बन गए वहाँ अंग्रेज भारत में अंतिम काल तक भी विदेशी बने हुए हैं। जहाँ मुगल शासकों ने भारत के धन को भारत में ही रखा, भारत को अपना वतन स्वीकार किया, वहाँ अंग्रेजी शासक ने भारत का आर्थिक शोषण कर भारत की आर्थिक संपदा को अपने देश के उद्योगों पर नियोजन किया। भारत के उद्योग-धंधों को चैपट कर इंग्लैंड ने अपने यहाँ भारतीय धन से बड़े-बड़े उद्योग एवं महानगर स्थापित किए।

लाजपत राय ने मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए भी प्रयत्न किए। उन्हीं के प्रयत्नों से भारत में पहली बार 'इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना हुई। वे आई.एल.ओ. में भारतीय श्रमिकों के प्रतिनिधि के रूप में जिनेवा गए और वहाँ भारतीय श्रमिकों की दशा सुधारने का तथा ब्रिटेन की शोषण नीति को समाप्त करने का प्रचार किया। उनके अनुसार प्रत्येक श्रमिक को उचित मजदूरी, आवास तथा आजीविका की सुरक्षा का अधिकार मिलना चाहिए।

वे यद्भाव्यम पर आधारित व्यक्तिवादी विचारधारा के विरोधी थे। शोषण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पूँजीवाद एवं पश्चिम की भौतिक संस्कृति का उन्होंने विरोध किया। उनके अनुसार जनता की आर्थिक उन्नति के लिए राज्य को सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए। वे ऐसे लोककल्याणकारी राज्य के समर्थक थे जो व्यक्ति को रोजगार प्रदान कर सके, पौष्टिक आहार एवं स्वास्थ्यवर्द्धक आवास प्रदान कर सके। वे सभी व्यक्तिगत संपत्ति के समर्थक थे जो स्वयं के पसीने की कमाई हो तथा जिससे वह अन्य व्यक्तियों का शोषण न करता हो। वे जमींदारी प्रथा के विरोधी थे। उनका सुझाव था कि भूमि की अधिकार सीमा निर्धारित की जाए और स्वयं अपने हाथों से खेती करने वालों को ही भूमि का स्वामित्व प्रदान किया जाए।

लाला लाजपत राय हिंसा के द्वारा आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे। वे इस दृष्टि से उदारवादी थे और विकास द्वारा आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन लाना चाहते थे। भारतीय उद्योग के विकास द्वारा भारत की धार्मिक स्थिति को सुधारने का उनका विचार समाजवादी होते हुए भी मार्क्सवाद के अनुरूप नहीं था। वे भारतीय परिपेक्ष्य में लोकतांत्रिक समाजवाद को ही अनुरूप मानते थे। वे हिंसा तथा राजकीय पूँजीवाद को भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का कारगर उपाय नहीं मानते थे।

3.2.8. लाला लाजपत राय के शिक्षा संबंधी विचार

भारत में शिक्षा-सुधार की दृष्टि से लाला लाजपत राय के विचार उल्लेखनीय हैं। उन्होंने इंग्लैंड, अमेरिका और जापान की शिक्षा प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन किया और अपने व्यापक अनुभवों के परिपेक्ष्य में 'प्रोब्लम ऑफ नेशनल एज्यूकेशन इन इंडिया' नामक पुस्तक की रचना की। उनके शिक्षा सुधार संबंधी कतिपय विचार निम्नलिखित हैं-

1. वे ऐसी शिक्षा प्रणाली चाहते थे, जो स्वाभिमानी नागरिक तैयार कर सके। उनका विश्वास था कि यदि राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार किया जाए तो राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत नवयुवक पैदा होंगे।
2. वे शिक्षा का राष्ट्रीयकरण चाहते थे ताकि प्राथमिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक सभी उत्तरदायित्व राज्य अपने उपर ले ले। शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का अर्थ यह नहीं है कि इस क्षेत्र में गैर सरकारी प्रयत्न न हो। गैर सरकारी प्रयास शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी प्रयत्नों के पुरक बने।
3. राष्ट्रीय शिक्षा पाठ्यक्रम में राष्ट्रवाद और देशभक्ति की भावना को प्रमुख स्थान दिया जाए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों में अपनी संस्कृति, मूल्यों और आदर्शों के प्रति आदर भाव उत्पन्न हो।
4. सह शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाए। राष्ट्र निर्माण में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। अतः सह-शिक्षा के माध्यम से लड़के-लड़कियों में परस्पर संपर्क बढ़ेगा और उनमें आत्मविश्वास तथा स्पष्टवादिता के गुणों का विकास होगा। लाला लाजपत राय के अनुसार

राष्ट्रीय शिक्षा के लिए प्रथम दस वर्षों में दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करना चाहिए- (क) देश के नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के लिए साक्षरता का प्रसार, (ख) साक्षर कुशल श्रम का उत्पादन। राज्य से उन्होंने यह अपेक्षा की कि वह पर्याप्त संख्या में 'उच्चत्तर प्राविधिक संस्थानों' और 'कृषि संस्थानों' की व्यवस्था करें। डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर तथा स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स लाजपत राय की भारतीय शिक्षा जगत को अनुपम देन है।

3.2.9. लाजपत राय का योगदान

लाला लाजपत राय कुशल तथा अनुभवी राष्ट्रवादी तथा आधुनिक भारत के एक अग्रणी राजनेता थे। पूर्ण निष्ठा तथा साहसपूर्ण संकल्प उनके विशिष्ट गुण थे। उन्हें पाखंड और ढोंग से घृणा थी और वे आचरण में विश्वास करते थे। वे उन प्रारंभिक अग्रगंताओं में थे जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता का मार्ग प्रदिप्त किया। उन्होंने जीवन भर देश के लिए निःस्वार्थ भाव से कष्ट तथा उत्पीड़न सहा और अनेक बार उनपर अभियोग भी चलाया गया। उनके योगदान को निम्न शीर्षकों के अंतर्गत देखा जा सकता है।

3.2.9.1. जन सेवा के क्षेत्र में

लाला जी केवल राजनीतिक नेता और कार्यकर्ता ही नहीं थे बल्कि उन्होंने लोगों को जन-सेवा का भी सच्चा पाठ पढ़ाया। 1896-99 के भयंकर अकाल में लाला लाजपत राय ने अपने साथी लाला हंसराज के सहयोग से अकाल पीड़ितों की सहायता की। हजारों अनाथ बच्चों को लाला जी ने मिशनरियों से बचाकर (जो उनका धर्म परिवर्तन करना चाहते थे) फिरोजपूर तथा आगरा के आर्य अनाथालयों में भेजा। 1907-1908 में उड़ीसा, मध्यप्रदेश में भयानक दुर्भिक्ष के समय वे पीड़ितों की सहायता के लिए आगे आए। 1907 के सूरत अधिवेशन में लाला जी ने अपने सहयोगियों द्वारा राजनीति में गरम दल विचारधारा का सूत्रपात किया और जनता को यह विश्वास दिलाने में सफल हो गए कि केवल प्रस्ताव पास करने और गिड़-गिड़ाने से सफलता हासिल नहीं की जा सकती है। जन समर्थन मिलने के कारण अंग्रेजों को उनके देश-निर्वासन को रद्द करना पड़ा। स्वदेश लौटने पर वे पुनः स्वाधीनता के संघर्ष में जूट गए। प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918) के दौरान वे एक प्रतिनिधिमंडल के सदस्य के रूप में इंग्लैंड गए और वहाँ देश की आजादी के लिए प्रबल जनमत संग्रह किया। वहाँ से वे जापान होते हुए अमेरिका चले गए और स्वाधीनता प्रेमी अमेरिका वासियों के समक्ष भारत की स्वाधीनता का बीज बोया। यहाँ उन्होंने इंडियन होमरूल लीग की स्थापना की तथा कुछ ग्रंथ भी लिखे। फरवरी, 1920 में जब वे स्वदेश लौटे तो सारा राष्ट्र जलियाँवाला बाग कांड के कारण असंतोष तथा क्षोभ की ज्वाला में जल रहा था। इसी बीच महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन में वे पूरी तत्परता के साथ जूट गए। 1920 में कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष बन गए। 1924 में लाला जी कांग्रेस के अंतर्गत ही बनी स्वराज्य पार्टी में शामिल हो गए और केंद्रीय धारा सभा सेंट्रल असेम्बली के सदस्य चुन लिए गए। जब उनका पं. मोतीलाल नेहरू से कतिपय राजनैतिक प्रश्नों पर मतभेद हो गया तो उन्होंने नेशनलिस्ट पार्टी का गठन किया और पुनः एसेम्बली पहुँच गए। अन्य विचारशील नेताओं की भाँति लाला जी भी कांग्रेस के दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाली मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति से अप्रसन्नता अनुभव करते थे, इसलिए पं. मदनमोहन मालवीय तथा स्वामी श्रद्धानन्द के सहयोग से उन्होंने हिंदू महासभा के कार्य को आगे बढ़ाया। 1925 में उन्हें हिंदू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष भी बनाया। ऐसा कहा जाता है कि उन दिनों हिंदू महासभा का कोई स्पष्ट कार्यक्रम नहीं था और वह मुख्य रूप से हिंदू संगठन अछूतोद्धार शुद्धि जैसे सामाजिक कार्यक्रम में ही दिलचस्पी लेती थी, इसी कारण कांग्रेस से उसे कोई विरोध नहीं था।

1928 में जब अंग्रेजों द्वारा नियुक्त साइमन कमीशन भारत आया तो देश के नेताओं ने उसका बहिष्कार करने का निर्णय लिए। अक्टूबर, 1928 में जब साइमन कमीशन लाहौर पहुँचा तो जनता के प्रबल प्रतिशोध को देखते हुए 144 लगा दी गई। लाला जी के नेतृत्व में हजारों लोग कमीशन के सदस्यों को काला झंडा दिखाने रेलवे स्टेशन पहुँचे तथा साइमन वापस जाओ के नारे से आकाश गूँज उठा। उसी समय पुलिस ने लाठी चार्ज का आदेश दिया और अंग्रेज सर्जेंट साण्डर्स ने लाला की छाती पर लाठी का प्रहार किया जिससे उन्हें सख्त चोट लगी उसी दिन सायं लाहौर की एक विशाल जनसभा को संबोधित करते हुए नरकेसरी लाला जी ने कहा- ''मेरे शरीर पर पड़ी लाठी की प्रत्येक चोट अंग्रेजी सरकार के कफन के कील का काम करेगी।'' इस दारूण आघात से आहत लाला जी ने अठारह दिन तक विषम ज्वर-पीड़ा सहते हुए परलोक सिधार गए। अतः उन्होंने आजीवन जनसेवा का कार्य किया।

3.2.9.2. राजनीति क्षेत्र में योगदान

लाला जी के मन में अब स्वतंत्रता की उत्कट भावना पैदा हो चुकी थी और इसीलिए 1883 में 23 वर्ष की अवस्था में समाज सेवा के साथ-साथ राजनीति में भी प्रवेश लिया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बन गए। जब पंजाबी प्रतिनिधिमंडल के साथ उन्होंने इलाहाबाद में कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया तो उनका जोरदार स्वागत हुआ। उनका उर्दू में भाषण ने सबका मन मोह लिया और जल्द ही वे कांग्रेस के लोकप्रिय नेता बन गए।

इसी समय सर सैयद अहमद खाँ ने कांग्रेस से अलग होकर मुस्लिम समुदाय से यह कहना शुरू किया कि उसे कांग्रेस में जाने के बजाए अंग्रेज सरकार का समर्थन करना चाहिए। तब लाला जी ने इसके विरोध में 'कोहिनूर' नामक उर्दू साप्ताहिक में खुले पत्र लिखे जिसे काफी प्रशंसा मिली। लाहौर में वकालत के दौरान उन्होंने लेखन द्वारा अपना प्रेरक कार्य जारी रखा और शिवाजी, स्वामी दयानन्द जैसे प्रसिद्ध लोगों की आत्मकथाएँ अनुवादित और प्रकाशित की जिसे पढ़कर अन्य लोगों को स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु संघर्ष की प्रेरणा मिली।

3.2.9.3. स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण योगदान

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उन्होंने रचनात्मकता, राष्ट्र-निर्माण व आत्मनिर्भरता पर जोर दिया। कांग्रेस में वे बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल के साथ उग्रवादी विचारधारा से सहमत थे और ये तीनों लाल-बाल-पाल के नाम से प्रसिद्ध थे। जहाँ उदारवादी कांग्रेस अंग्रेजों की कृपा चाहते थे, वहीं उग्रवादी कांग्रेस अपना हक चाहती थी। उनका मानना था कि स्वतंत्रता भीख माँगने और प्रार्थना करने से नहीं मिलेगी बल्कि संघर्ष और बलिदान से ही मिलेगी।

बंगाल विभाजन के समय उन्होंने स्वदेशी, स्वराज्य और विरोध के राष्ट्रीय आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। 1906 में जब कांग्रेस के उग्रवादी और उदारवादी घटकों में विवाद हुआ तब उन्होंने मध्यस्थता करने का बहुत प्रयास किया। 1907 में जब तिलक ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद हेतु उनका नाम प्रस्तावित किया तो विवाद की संभावना को देखते हुए उन्होंने अपना नाम वापस ले लिया। लाला जी का मानना था कि राष्ट्रीय हित के लिए विदेशों में भी भारत के समर्थन में प्रचार करने हेतु एक संगठन की जरूरत है ताकि पूरी दुनियाँ के सामने भारत का पक्ष रखा जा सके तथा अंग्रेज सरकार का अन्याय उजागर हो सके। इसलिए 1914 में जब वे इंग्लैंड गए तो वहाँ से अमेरिका चले गए, जहाँ उन्होंने 'इंडियन होम रूल लीग सोसाइटी ऑफ अमेरिका' की स्थापना की और 'यंग इंडिया' नामक पुस्तक लिखी। इसमें

अंग्रेज सरकार का कच्चा चिठ्ठा खोला गया था इसलिए ब्रिटिश सरकार ने इसे प्रकाशित होने से पूर्व ही इंग्लैंड और भारत में प्रतिबंध लगा दिया। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद वे भारत आ गए। उन्होंने गांधीजी के असहयोग आंदोलन में खुलकर हिस्सा लिया। अनेक बार उन्हें जेल जाना पड़ा, पर वे पीछे नहीं हटे। जब चौरा-चौरी घटना के बाद गांधीजी ने असहयोग आंदोलन को स्थगित कर दिया तब लाला जी को बड़ी निराशा हुई। 1920 में उन्हें कांग्रेस के कलकता ऐतिहासिक विशिष्ट अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। 1907 में उनका देश से निर्वासित किया जाना और 1928 में उनकी शहादत दोनों ही आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में एक युग प्रवर्ती घटनाएँ हैं।

3.2.10. निष्कर्ष

राष्ट्रीय मुक्ति के संबंध में लाला जी की धारणा विशद और व्यापक थी। वे महान सामाजिक नेता रह चुके थे। आर्य-समाज से उन्होंने समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व सीखा था। दीर्घ काल तक संयुक्त राज्य अमेरिका में रहने के कारण उन्हें अंतरराष्ट्रीय राजनीति और अर्थतंत्र की प्रमुख प्रवृतियों को समझने का अच्छा अवसर मिला था। संभवतः वे पहले महान नेता थे, जिन्होंने समाजवाद, बौलशेविकवाद, पूँजीवाद और श्रम संगठन की समस्याओं का विवेचना किया।

यद्यपि लाला जी राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के क्षेत्र में कुशल सिद्धांतकार नहीं थे, फिर भी भारतीय राजनीति और अर्थशास्त्र के ज्ञान की दृष्टि से वे एक प्रकार के विश्वकोष थे। उनकी ''यंग इंडिया'', 'इंगलैण्ड्स डैट टू इंडिया' और 'अनहैपी इंडिया' जानकारी से परिपूर्ण है। यह सत्य है कि उनकी अनेक रचनाओं में पत्रकारिता का पुट देखने को मिलता है, किंतु अपनी 'नेशनल एजूकेशन' नामक पुस्तक में उन्होंने दार्शनिकों जैसी गहराई और सुक्ष्म विवेचन का परिचय दिया है। अपनी यंग इंडिया में भी अनेक स्थानों पर वे भारतीय राजनीति का दार्शनिक विवेचन करने में सफल हुए हैं। उनकी रचनाएँ प्रांजलता तथा प्रसाद गुण से संपन्न है। साथ ही साथ उनपर उसके 40 वर्ष के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के अनुभव की छाप देखने को मिलती है।

लाला लाजपत राय के जीवन का प्रधान लक्ष्य था ब्रिटिश शासन से मुक्ति। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अतुलनीय बौद्धिक प्रतिभा और नेतृत्व का परिचय दिया तथा अपने महान त्याग और अदम्य आत्मबल से भारतीय स्वतंत्रता की नींव रखी। अगर यह नींव न होती, तो गांधीजी के लिए स्वाधीनता का भवन खड़ा करना असंभव होता। उस युग में ऐसे एक भी सार्वजनिक आंदोलन का नाम लेना असंभव है, जिसमें लाला जी शामिल नहीं थे। सेवा करने की उनकी भुख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण संस्थाएँ खोली, वे दलितों के मित्र बने और श्रमिकों के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आवाज बुलंद की। उन्हें भारत में राष्ट्रवाद, समाजवाद और श्रम आंदोलन का मुर्धन्य चिंतक कहा जाता है। सुभाषचन्द्र बोस के शब्दों में- ''लाला लाजपत राय कांग्रेस के अग्रणी बौद्धिक दिग्गज थे, संक्षेप में वे देश भक्ति के प्रतीक, राष्ट्रवाद के चिंतक और मानव के मसीहा थे।'' उनके कार्यों का मूल्यांकन करते हुए जनता ने उन्हें 'शेरे पंजाब' की उपाधि से सुशोभित किया।

3.2.11. पारिभाषिक शब्दावली

(क) विवेचन - वर्णन
(ख) विश्वकोष - संसार का भंडार
(ग) नौकरशाही - सरकारी सेवकों की दमन नीति
(घ) दुष्काल - खराब समय
(ङ) मदोन्मत - नशा में चूर
(च) विनियमित - विशेष नियमन

3.2.12. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. लाला लाजपत राय का जन्म कब हुआ था ?
   (क) 28 जनवरी, 1865 (ख) 27 जनवरी, 1865
   (ग) 15 फरवरी, 1865 (घ) 19 फरवरी, 1965
2. लाला लाजपत राय ने सर्वप्रथम कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया।
   (क) 1887 (ख) 1888
   (ग) 1907 (घ) 1908
3. 1926 में लाजपत राय भारतीय प्रतिनिधि के रूप में आठवें अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने गए-
   (क) अमेरिका ((ख) जापान
   (ग) जेनेवा (घ) फ्रांस
4. इनमें से कौन लाला जी की रचना नहीं है?
   (क) इंग्लैंड डेट टु इंडिया (ख) यंग इंडिया
   (ग) अनहैपी इंडिया (घ) वैदिक क्रोनोलोजी एण्ड वेदांग ज्योतिष
5. जालियाँवाला बाग की घटना कब हुई?
   (क) 1920 (ख) 1930 (ग) 1918 (घ) 1919
6. साइमन कमीशन के विरूद्ध लाला जी के नेतृत्व में विशाल जुलूस कब निकला?
   (क) 25 अगस्त, 1927 (ख) 26 अगस्त, 1927
   (ग) 30 अक्टूबर, 1928 (घ) 30 अक्टूबर, 1927
7. निम्नलिखित में से किसे 'शेरे पंजाब' की उपाधि दी गई है?
   (क) लाला लाजपत राय (ख) बाल गंगाधर तिलक
   (ग) विपिनचन्द्र पाल (घ) श्री अरविन्द घोष

1-(क) 2-(ख), 3-(ग), 4-(घ), 5-(घ), 6-(ग), 7-(क)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लाला लाजपत राय का जन्म कब और कहाँ हुआ था?
2. लाला लाजपत राय की प्रारंभिक शिक्षा कहाँ हुई?
3. लाला जी की रचनाओं में से किन्हीं चार का नाम बताइए।
4. शिक्षा में सुधार के लिए लाला जी के किन्हीं तीन विचारों का उल्लेख करें।
5. अमेरिका में लाला जी ने कौन सी संस्था की स्थापना की?
6. पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना कब और किसके सहयोग से हुआ?
7. लाला लाजपत राय की मृत्यु कब और कैसे हुई?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लाला लाजपत राय की जीवनी अपने शब्दों में लिखें।
2. लाला लाजपत राय के राजनीतिक विचारों की व्याख्या करें।
3. लाला लाजपत राय के आर्थिक विचारों की व्याख्या करें।
4. लाला लाजपत राय के सामाजिक एवं शिक्षा संबंधी विचारों की व्याख्या करें।
5. लाला लाजपत राय के राष्ट्रवाद संबंधी विचारों का उल्लेख करें।
6. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में लाला जी के योगदान की व्याख्या करें।

3.2.13. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. फाड़िया डा0 बी0एल0, 2008, राजनीतिक चिंतन: भारतीय एवं पाश्चात्य, साहित्य भवन पब्लिकेशन, पृष्ठ संख्या-141-150
2. वर्मा डा0 बी0पी0, 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, पृष्ठ संख्या 316-326
3. नागर डा0 पुरुषोत्तम, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतक, 1984, पृष्ठ संख्या 240
4. जैन डा0 पुखराज एवं मेहता प्रो0 जीवन, 2008, राजनीति विज्ञान, एल0 बी0 डी0 पब्लिकेशन, आगरा
5. Joshi, Jajay Chandra : Lala Lajpat /rai- writting and Speach, vol. Two (ed) 1966, pp 277-87
6. सूद प्रो0 ज्योति प्रसाद: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार की सुक्ष्म धाराएँ, जय प्रकाश नाथ एंड कम्पनी, मेरठ।

इकाई-3 : विपिनचन्द्र पाल

इकाई की रूपरेखा

3.3.1. उद्देश्य
3.3.2. जीवन परिचय
3.3.3. पाल की रचनाएँ
3.3.4. पाल का इतिहास दर्शन
3.3.5. पाल का राष्ट्रवादी सिद्धांत
3.3.6. पाल का राजनीतिक दर्शन
3.3.7. पाल का आर्थिक आदर्श
3.3.8. पाल का योगदान
3.3.9. निष्कर्ष
3.3.10. पारिभाषिक शब्दावली
3.3.11. अभ्यास प्रश्न
3.3.12. संदर्भ-ग्रंथ सूची

3.3.1. उद्देश्य

- विपिनचन्द्र पाल की जीवनी को समझ सकेंगे।
- विपिनचन्द्र पाल की रचनाओं को जान सकेंगे।
- विपिनचन्द्र पाल के इतिहास दर्शन को समझ सकेंगे।
- विपिनचन्द्र पाल के राष्ट्रवादी सिद्धांत को समझ सकेंगे।
- विपिनचन्द्र पाल के राजनीतिक दर्शन को समझ सकेंगे।
- विपिनचन्द्र पाल के आर्थिक आदर्श को समझ सकेंगे।
- विपिनचन्द्र पाल का भारतीय इतिहास में योगदान को समझ सकेंगे।

3.3.2. जीवन परिचय

श्री विपिनचन्द्र पाल का जन्म 7 नवंबर, 1858 को हुआ था। वे उत्तेजक वक्ता, निर्भीक देशभक्त, अनुप्रेरित शिक्षा शास्त्री, पत्रकार तथा लेखक थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में संपन्न हुई थी। वे भारत में सशक्त, साहसपूर्ण, स्वावलंबी तथा प्रचंड राष्ट्रवाद के पैगंबर के रूप में प्रकट हुए। वे बंगाली राष्ट्रवाद के नेता होने के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रवाद तथा उसके विकास का दार्शनिक विश्लेषण भी किए। उन्होंने कटक के एक हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक के रूप में अपना कार्य आरंभ किया। उन्होंने सिलहट में एक हाई स्कूल स्थापित किया और वहीं प्रधान के रूप में 5 वर्षों तक अपनी सेवा देते रहे। बाद में कुछ समय तक वे बंगलौर में प्रधान अध्यापक के रूप में कार्य किया और फिर कलकता के नगर पुस्तकालय में वे पुस्तकालयाध्यक्ष के पद पर कार्यरत रहे। वे उस युग के युवा थे जब बंगाल में बौद्धिक, साहित्यिक और नैतिक पुनर्जागरण की उथल-पुथल मची हुई थी। बंकिमचन्द्र, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा

विजयकृष्ण गोस्वामी की शिक्षाओं का उनपर प्रभाव पड़ा। 1876 में शिवनाथ शास्त्री ने उन्हें ब्रह्म-समाज की दीक्षा दी। ब्रह्म-समाज ने बौद्धिक मुक्ति के जिस आंदोलन का शुभारंभ किया उससे विपिनचन्द्र पाल अनुप्राणित और आह्लादित हुए थे। आगे चलकर वे हिंदुओं के परंपरागत पंथ, दर्शन तथा धर्म विद्या के अनुयायी बन गए। अपने परवर्ती जीवन में पाल ने वैष्णव धर्म को अंगीकार कर लिया। वैष्णव संप्रदाय में उनकी आस्था कितनी गहरी थी यह उनकी पुस्तक 'श्री कृष्ण' से स्पष्ट हो जाता है। उनका कहना था कि ब्रह्म हमारी बाह्य ब्रह्मांड की अनुभूतियों का समन्वय है, परमात्मा हमारी आंतरिक अनुभूतियों का समन्वय है, किंतु भगवान वह पूर्ण निरपेक्ष तत्व है, जिसमें ब्रह्म तथा परमात्मा दोनों अपनी पूर्णता और सार्थकता को प्राप्त होते हैं। उनका विश्वास था कि हिंदू देवता सृष्टि की उच्चतर कोटि के प्राणी हैं और उन्हें इंद्रियोत्तर शक्तिओं द्वारा देखा जा सकता है। अपने परवर्ती जीवन में पाल ने शाक्त पंथों के आध्यात्मिक महत्व को समझने का भी प्रयत्न किया।

पाल ने प्रथम बार 1887 में मद्रास में कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया और अस्त्र अधिनियम' को रदद करने के प्रस्ताव के समर्थन में अनुप्रेरित भाषण किया। 1900 में उन्होंने इंग्लैंड और अमेरिका की यात्रा की। अगस्त 1901 में उन्होंने अपना 'न्यू इण्डिया' नामक पत्र आरंभ किया। बंगाल के विभाजन ने उनकी संवेदनशील आत्मा को उत्तेजित कर दिया और उस समय से वे शुद्ध एवं स्वाग्रहमूलक राष्ट्रवाद का संदेश देने लगे। स्वदेशी आंदोलन के समय उन्होंने स्वायत्तता का ही नहीं अपितु ब्रिटिश नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन किया। अरविन्द घोष के साथ-साथ पाल ने पुनर्जाग्रत बंगाल के संदेशवाहक का काम किया। वे नव-राष्ट्रवाद के अतिवादी दल के नेता थे। अरविन्द ने 1909 में अपने उत्तरपाड़ा के प्रसिद्ध भाषण में पाल के बारे में कहा था "जब मैं आया तो मैं अकेला नहीं था, राष्ट्रवाद के एक सबसे बड़े संदेशवाहक मेरे पास बैठे हुए थे। मेरे पास पाल विराजमान थे जो कारगार की उस एकांत कोठरी से निकलकर आए थे जहाँ ईश्वर ने उन्हें इसलिए भेजा था कि उसकी निरवता और निस्तब्धता में वे उस संदेश को सुन सकें जो उन्हें इस देश को देना है।" पाल ने संपूर्ण पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की यात्रा की और उत्साह के साथ स्वराज्य तथा स्वदेशी के शक्तिशाली मंत्र का उपदेश दिया। उन्होंने 1907 में मद्रास में 2 से 9 मई तक स्वराज्य तथा निष्क्रिय प्रतिरोध पर ओजस्वी भाषण किए। अरविन्द घोष के सान्निध्य एवं उनके क्रांतिकारी भाषण के लिए उन्हें 10 सितंबर, 1907 को गिरफ्तार करके पहले कलकत्ता की प्रेसीडेंसी जेल में और बाद में बक्सर के केंद्रीय कारागार में बंद कर दिया गया। 9 मार्च, 1908 को पाल मुक्त कर दिए गए। बड़ौदा प्रवास के समय तिलक के क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के विचार से विपिनचन्द्र पाल गहरे रूप से प्रभावित हुए तथा तिलक को अपना आदर्श मानने लगे।

3.3.3. पाल की रचनाएँ

विपिनचन्द्र पाल क्रांतिकारी पत्रकारिता के लिए विख्यात थे। प्रतिष्ठित नेताओं की तिकड़ी लाल, बाल और पाल में एक श्री विपिनचन्द्र पाल सामान्यतः भारत में क्रांतिकारी विचारधारा के जनक माने जाते हैं। उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन 1886 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होकर आरंभ किया तथा साथ ही परिदर्शन नामक पत्रिका का संपादन किया। कालांतर में बंगाली पब्लिक ओपेनियन तथा द ट्रिव्यून के सहायक संपादक एवं हिंदी समाचार-पत्र के प्रतिष्ठित संपादक के रूप में कार्य किया। वे समर्थ लेखक एवं प्रखर वक्ता के रूप में जाने जाते थे। विपिनचन्द्र पाल ने 1902 में न्यू इंडिया नामक अंग्रेजी साप्ताहिक शुरू किया, जिसके वे प्रधान संपादक थे। 1905 में पाल ने सुबोधचन्द्र मल्लिक, चितरंजन दास

और हरिदास लहरी के साथ मिलकर 'वन्दे मातरम्' समाचार पत्र का प्रकाशन आरंभ किया, जिसके संपादकीय समिति के अध्यक्ष श्री अरविन्द घोष थे। वन्दे मातरम् अखबार अपने ढंग का एक नया पत्र था, जो ब्रिटिश सरकार की विभाजनकारी नीतियों का सबसे बड़ा दुश्मन बन गया।

इसके अतिरिक्त अपनी पुस्तक 'द सोल ऑफ इंडिया' एवं 'श्रीकृष्ण' में पाल ने घोषणा की कि कृष्ण भारत की आत्मा है तथा व्यक्तियों की भाँति राष्ट्रों के भी आत्मा होती है। अपनी पुस्तक 'द सोल ऑफ इंडिया' में उन्होंने बताया है 'श्री कृष्ण' भारत की आत्मा है। वे श्री कृष्ण को अध्यात्म-अनुप्रेरित तथा सांस्कृतिक दृष्टि से संयुक्त संघ का प्रवर्तक मानते थे। 'द स्प्रीट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म' एवं 'मेशनकिरी एण्ड एम्पायर' नामक अपनी पुस्तक में हिंदू समाजवाद तथा पाश्चात्य समाजवाद में अंतर स्पष्ट किया है। विपिनचन्द्र पाल ने अपनी पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ हिंदूज्म' में धार्मिक विकास की अवस्थाओं का निरूपण किया है। अगस्त 1908 में वे दूसरी बार जेल गए, वहाँ उन्होंने तीन वर्ष अपना समय बिताया और हिंदू धर्म विद्या एवं भारतीय राष्ट्रवाद पर ग्रंथ लिखा। कुछ समय तक उन्होंने वहाँ स्वराज्य नामक एक पत्र भी प्रकाशित किया, पर वे अपने जीवन के संस्मरण पूरे नहीं कर पाए। उसके केवल दो खंड प्रकाशित हुए हैं। इसके अलावे कई रचनाएँ उन्होंने प्रकाशित कर अपनी सैद्धांतिक सूझ-बूझ का परिचय दिया। इसीलिए वेलेंटाइन शिरोल ने भी विपिनचन्द्र पाल की शक्ति तथा उच्च चरित्र की प्रशंसा किया है। वास्तव में विपिनचन्द्र पाल एक ऐसे राजनीतिक नेता हुए जिन्हें अधिक पुस्तकें लिखने का श्रेय प्राप्त है।

3.3.4. पाल का इतिहास दर्शन

पाल के राजनीतिक दर्शन का आधार यह सिद्धांत था कि इतिहास ईश्वर द्वारा नियंत्रित तथा संचालित होता है। ब्रह्म ''ब्रह्मांड के विकास का नियामक प्रत्यय'' है। पाल के अनुसार इतिहास विभिन्न उद्देश्यहीन और असंबद्ध घटनाओं का जमघट मात्र नहीं है। वस्तुतः यह ज्योतिर्मय ईश्वरीय प्रयोजन की अभिव्यक्ति है। इतिहास में एक व्यापक प्रयोजन और सर्वोच्च उद्देश्य निहित है, जो कोरा बुद्धिवादी अथवा प्राकृतिक धर्मावलंबी है। वह पाल के इस मत से भले ही सहमत न हो, किंतु राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए आस्था की बड़ी आवश्यकता होती हैं। पाल का कहना था कि भारत का इतिहास भी एक श्रेष्ठ उद्देश्य की अपराजेय अभिव्यक्ति है- वह उद्देश्य है-स्वायत्तता की खोज तथा शुभ की प्रतिष्ठा। भारतीय इतिहास के सभी ऐतिहासिक आंदोलनों और रूपांतरों का आंतरिक महत्व और गंभीर प्रयोजन यह रहा है कि ''एक जाति के रूप में हम अपनी विधिविहित होतव्यता का साक्षात्कार करें।'' आर्य जनजातियों से लेकर मुस्लिम विजेताओं तक सभी जातियों और शासकों तथा पाल, सेन प्रतापादित्य, मराठा-मंडल एवं ग्रेटब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन आदि सभी की राजनीतिक कार्यवाहियों के मूल में इसी उद्देश्य की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। पाल ने डार्विन के विकासवाद, स्पैंसर के अज्ञेयवाद और ह्यूम के संशयवाद का खंडन किया और इस वैदिक तथा पौराणिक सिद्धांत का संदेश दिया कि इतिहास ब्रह्म की लीला अथवा निवास स्थान है। अपनी पुस्तक 'द सोल ऑफ इंडिया' तथा 'श्री कृष्ण' में पाल ने घोषणा की कि कृष्ण भारत की आत्मा है। कृष्ण के जीवन में ही हमें इतिहास तथा विकास का प्रयोजन ढूंढना है। वे भारतीय मानवता के आर्दश रूप थे। सर्वोच्च आचार्य तथा दार्शनिक कृष्ण राष्ट्र-निर्माण के रहस्यों तथा सामंजस्यपूर्ण और समन्वयवादी आदर्शवाद के प्रतिनिधि हैं। बोसांक्वे की भाँति पाल का भी कथन है कि सामाजिक तथा नागरिक संस्थाएँ ''मानव के माध्यम से इश्वर की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति और साक्षात्कार''

का साधन मात्र है। दासता मनुष्य की आत्मा के प्रतिकूल है। ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही अनुरूप तत्वतः एवं संभवतः स्वतंत्र और शुद्ध बनाया है। मनुष्य उसे शाश्वत बंधन और पाप में जकड़कर नहीं रख सकता। अतः सामाजिक तथा नागरिक मुक्ति के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा ब्रिटेन के प्रभुत्व की माया पर विजय पाना आवश्यक है।

मध्ययुगीन दार्शनिक आदर्श को वास्तविक से, आध्यात्मिक को भौतिक से और व्यक्ति को उसके वातावरण से पृथक करके चलते या सोचते थे। पाल ने इस प्रवृति का खंडन किया। वे इस पक्ष में थे कि मनोगत और सार्वभौम के साथ-साथ वस्तुगत और विशिष्ट को समान महत्व दिया जाना चाहिए। राजनीतिक दार्शनिक के रूप में पाल ने लेव टॉल्सटॉय के 22 अप्रैल, 1905 को प्रकाशित 'नागरिक स्वाधीनता तथा वैयक्तिक पूर्णता शीर्षक लेख की आलोचना की। उन्होंने उनके व्यक्तिवादी विचारों का विरोध इसलिए किया कि वे व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से उसके देश की सामाजिक तथा नागरिक संस्थाओं से स्वतंत्र मानते थे। पाल ने भारत के पुराने सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन को अंगीकार किया, क्योंकि उस दर्शन के अनुसार व्यक्ति सामाजिक तथा नागरिक दायित्वों का निषेध करके नहीं, बल्कि स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करके ही पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार पाल ने इतिहास में दैवी निर्धारण को स्वीकार किया। उसने भारतीय समाज की बुराईयों का जी खोलकर विरोध किया। उन्हें भारतीय संस्कृति से अतिशय प्यार था। उन्होंने भारतीय रीति-रिवाजों में निहित बुराईयों एवं अंधविश्वासों का पक्ष कभी नहीं लिया। वे राजा राममोहन राय के सामाजिक-आध्यात्मिक विचारों का बड़ा सम्मान करते थे।

3.3.5. पाल का राष्ट्रवादी सिद्धांत

यद्यपि विपिनचन्द्र पाल ने अपने लेख में व्यक्त किया कि भारतीय राष्ट्रवाद का विचार मुगल साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ विकसित हुआ। तथापि समाज तथा राष्ट्र की अवयवी धारणा ने अनेक भारतीय दार्शनिकों तथा विचारकों को प्रभावित किया। पाल भी राष्ट्र के अवयवी सिद्धांत को स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि राष्ट्र यांत्रिक संविदा से उत्पन्न नहीं है। वह पृथक व्यक्तियों का कृत्रिम जमाव नहीं है। वह एक अवयवी है और सर्वव्यापी बुद्धि तथा नैतिक बंधन से अनुप्राणित है। राष्ट्र मनुष्यों का ही आवर्धित तथा विस्तारित स्वरूप है। वह विराट पुरुष का बाह्यकरण है। इसलिए पाल ने माना कि अपने बृहत्तर अहं के लिए त्याग करना व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। आध्यात्मिक और नैतिक अवयवी के रूप में राष्ट्र अपने अटल ऐतिहासिक स्मृतियों तथा भावी उद्देश्यों की चिरस्थायी अविच्छिन्नता में व्यक्त करता है। 6 जुलाई, 1906 को प्रकाशित 'वन्दे मातरम्' शीर्षक लेख में पाल ने कहा कि ''जिन व्यक्तियों के मेल से राष्ट्र बनता है उनका परस्पर तथा जिस समग्र के वे अवयव और अंग हैं उनके साथ उनका संबंध अवयवी होता है। भीड़ व्यक्तियों का पूँजी मात्र है, राष्ट्र एक अवयवी है और व्यक्ति उसके अंग हैं। अंग अपने उद्देश्यों की पूर्णता स्वयं अपने में प्राप्त नहीं कर सकते, जिस अवयवी से उनका संबंध है उसके सामूहिक जीवन में ही उनके उद्देश्यों की पूर्णता निहित होती है। आप अवयवी की हत्या कर दीजिए तो अंग स्वतः नष्ट हो जाएँगे और काम करना बंद कर देंगे। आप अंगों को निष्प्राण कर दीजिए तो अवयवी नष्ट हो जाएगा और काम करना बंद कर देगा। अतः अवयवी अंगों से पहले होता है। अंग विकसित होते हैं, बदलते हैं, किंतु अवयवी फिर भी जो है वही बना रहता है। उसी प्रकार व्यक्ति जन्म लेते हैं, मरते हैं, किंतु राष्ट्र सदैव बना रहता है।''

पाल ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का भी समर्थन किया। उनका मत था कि व्यक्तियों की भाँति राष्ट्रों की भी आत्मा होती है। वे केवल राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के सिद्धांत को मानने वाले नहीं थे। उन्होंने अवयवी सिद्धांत को परिवार, जनजाति तथा राष्ट्र तीनों पर लागू किया। उनका कहना था कि देश में एक प्रकार की आध्यात्मिक जागृति हो रही है, उसको कोरा राजनीतिक अथवा आर्थिक आंदोलन मानना उसे पूर्णतः गलत समझना है। पाल ने कहा कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की आध्यात्मिक व्याख्या का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य दार्शनिकों की भाँति आदर्शवाद तथा चिंतन में तल्लीन रहे। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को अनुदार परंपरावाद के समरूप मान लेना उचित नहीं है। इस प्रकार पाल यथार्थवादी थे। उन्होंने राजनीति की तुलना शतरंज के खेल से की है। यही कारण है कि उन्होंने समस्याओं का कोई सुनिश्चित और बना-बनाया हल प्रस्तुत नहीं किया और स्पष्ट घोषणा की कि राष्ट्रवादियों का कार्यक्रम ब्रिटिश नौकरशाही की चालों और कार्यप्रणाली पर निर्भर करेगा। भारत के नए राष्ट्रवाद की धार्मिक प्रकृति पर बल देकर पाल जानता को दो तात्विक सिद्धांत समझाना चाहते थे। प्रथम, सभी चीजों की मूल्यांकन स्वयं जीवन को ध्यान में रखकर करना चाहिए। वह अर्थव्यवस्था, राजनीति, कला, नैतिकता आदि सबका मूल्यांकन समग्र को ध्यान में रखकर करता है। लौकिक को आध्यात्मिक से पृथक करना हिंदुत्व के प्रतिकूल है। आध्यात्मिकता को सब चीजों का मापदंड मानने से राजनीति राष्ट्रवादी के बृहत्तर धर्म का अंग बन जाती है, मोक्ष विधा का ही एक प्रकरण हो जाती है। अतः राष्ट्रवाद की धार्मिक प्रकृति को स्वीकार करने से भारत की राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण तथा व्यापक प्रसार तथा विस्तार होगा और तब वह सार्वभौम मानव जीवन के विकास में प्रभावकारी योग दे सकेगी। द्वितीय, अपने में नैतिक गुणों का विकास करना। इसका अभिप्राय है कि न्याय तथा उदारता के लिए अंग्रेजों से प्रार्थना करने की अपेक्षा अपने को बलिष्ठ बनाना और अपने मन और आत्मा को ज्ञान से प्रदीप्त करना। पाल का कहना था कि संयम के बिना राष्ट्रवाद की सेवा नहीं की जा सकती। इस प्रकार जो राष्ट्रवाद धर्म की जड़ों से पोषण प्राप्त करता है वह स्थायी सिद्ध होता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ हिंदूज्म' में धार्मिक विकास की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया है- (1) अनुभूत्यात्मक, (2) चिंतनात्मक तथा (3) कल्पनात्मक। उन्होंने बतलाया कि मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धतियों द्वारा अनुशीलन करने से पता चलता है कि धर्म मनुष्य का दूसरों एवं ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न है।

पाल तथा अरविन्द भारत को नया जीवन तथा नई स्फूर्ति प्रदान करना चाहते थे। अपने पत्र 'न्यू इंडिया' में पाल ने यौगिक राष्ट्रवाद की धारणा का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है कि ''यह नया भारत हिंदू नहीं है, यद्यपि हिंदू इसके मूल तथा प्रमुख वंशधर हैं, यह मुस्लिम भी नहीं है, यद्यपि उनकी इसको महत्वपूर्ण देन है और न यह ब्रिटिश है, यद्यपि इस समय वे इसके राजनीतिक स्वामी हैं- बल्कि वह उस मूल्यवान तथा विविध प्रकार की सामग्री से बना है, जो विश्व की तीन बड़ी सभ्यताओं ने उसे उसके विकास की क्रमिक अवस्थाओं में प्रदान की है और जिसका प्रतिनिधित्व वर्तमान भारतीय समाज के तीन बड़े अंग करते हैं।'' पाल का कहना था कि एक संघात्मक राष्ट्र होगा।

स्वदेशी के दिनों में पाल ने देशभक्ति की नई सशक्त भावना का संदेश दिया। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का समर्थन किया। उनके अनुसार प्राकृतिक अधिकार वे मूल मानव अधिकार हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से ही निहित हैं। इन अधिकारों का आज्ञापत्र स्वयं ईश्वर को उपलब्ध हुआ है। ये मूल प्राकृतिक अधिकार संवैधानिक अधिकार नहीं है और न इसकी किसी ने सृष्टि की हैं, बल्कि वे ऐसे अधिकार हैं जिन्होंने सरकारों को जन्म दिया है। पाल ने उस समय देश में प्रचलित विजातीय तथा

मूलविहीन शिक्षा-प्रणाली की भर्त्सना की तथा तिलक और अरविन्द की भाँति राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन किया। उन्होंने 'वन्दे मातरम' नामक समाचार पत्र के माध्यम से स्वराज्य के मंत्र तथा ईश्वरीय भावना का उपदेश दिया। तिलक और अरविन्द की भाँति पाल ने भिक्षा माँगने की प्रवृति की निंदा की और कहा कि ''कोई सुधार, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक ऐसा नहीं हो सकता जो बाहर से प्राप्त किया जा सके। अपना अधिकार आपको शनैः-शनैः स्वयं अर्जित करना है।'' वे भारतीय आत्मा की विजय चाहते थे। उन्होंने बहिष्कार की धारणा को एक व्यापक राजनीतिक अर्थ प्रदान करने का प्रयत्न किया। वे नहीं चाहते थे कि बहिष्कार को कोरी आर्थिक कार्यवाही तक सीमित रखा जाए। उनकी इच्छा थी कि राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी तथा बहिष्कार के इन तरीकों को भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के ज्वार को गति प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाए। ब्रिटिश नौकरशाह तथा साम्राज्यवादी इस राजनीतिक स्वदेशी आंदोलन के कट्टर शत्रु थे। बहिष्कार के अर्थ के संबंध में पाल तथा मदनमोहन मालवीय में गहरा मतभेद था, जो 1906 के ऐतिहासिक कलकत्ता कांग्रेस में प्रकट हो गया। पाल ने दृढ़ता से घोषणा किया कि ''भारत में राजनीति को अर्थतंत्र से, राजनीति को औद्योगिक प्रगति से पृथक करना असंभव है। स्वदेशी का राजनीति से संबंध जोड़ना आवश्यक है और जब स्वदेशी का राजनीति से संबंध जुड़ जाता है तो वह बहिष्कार का रूप ले लेता है और यह बहिष्कार निष्क्रिय प्रतिरोध का आंदोलन है।'' अतिवादी संप्रदाय के नेता तथा विचारक के रूप में पाल ने स्वावलंबन, आत्म-सहाय्य और आत्म-निर्णय का समर्थन किया। 1907 में विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रवादी कार्यक्रम निम्न प्रकार से निरूपित किया-

(क) राष्ट्रीय शिक्षा का परिवर्द्धन
(ख) राष्ट्रीय स्वयं सेवकों की भर्ती
(ग) भारतीय उद्योगों का विकास
(घ) ऐसी राजनीतिक व्यवस्था कायम करना जो समय आने पर शासन की बागडोर अपने हाथों में ले सके।

1918 में पाल तिलक के साथ होमरूल लीग के प्रतिनिधिमंडल के एक सदस्य बनकर इंग्लैंड गए। 1919 की अमृतसर कांग्रेस में उन्होंने तिलक के 'संवादी सहयोग' के नारे का हृदय से समर्थन नहीं किया। उन्होंने गांधी जी के असहयोग आंदोलन का विरोध किया और 1922 में कहा कि भारत को 'संवादी सहयोग' की नीति को अपनाना चाहिए। वे अहिंसात्मक क्रांति के भी विरूद्ध थे क्योंकि यह समाज का निकट अतीत और वर्तमान के साथ संबंध विच्छेद कर देती है। उन्होंने राष्ट्रवाद तथा तात्विक सार्वभौमवाद के समन्वय की कल्पना की थी, उनका कथन है कि राष्ट्र तथा मानवता दोनों ही ईश्वरीय हैं।

3.3.6. पाल का राजनीतिक दर्शन

पाल ने 'दैवी लोकतंत्र' के आदर्श का प्रतिपादन किया। एक बार उन्होंने चैतन्य को इस आर्दश का प्रवर्तक बताया था। उनका कहना था कि स्वराज्य भारतीय जनता का स्वराज्य होना चाहिए। इस आदर्श की पूर्ति के लिए "संयुक्त राज्य भारत" की आवश्यकता आवश्यक है। तभी भारतीय जनता की राष्ट्रीय प्रतिभा को राजनीतिक जीवन के कल्याणकारी मार्ग में प्रवृत किया जा सकेगा। यदि भारतीय स्वतंत्रता का देश के ऐतिहासिक आदर्शों के साथ सामंजस्य स्थापित करना है तो वह दैवी लोकतंत्र को साक्षात्कृत करके ही किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि "स्वराज्य के जिस आदर्श ने अपने को हमारे समक्ष व्यक्त किया है वह वस्तुतः दैवी लोकतंत्र का ही आर्दश है। लोकतंत्र का यह आदर्श इंग्लैंड और

अमेरिका में प्रचलित संघर्षपूर्ण भौतिकवादी, अक्रामक तथा क्रूर लोकतंत्र से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। एक इससे भी ऊँचा संदेश है। मनुष्य देवता है, और भारतीय लोकतंत्र की समानता प्रत्येक व्यक्ति में निहित दैवी प्रकृति, दैवी संभावनाओं और दैवी भवितव्यता की समानता है, वह व्यक्ति चाहे हिंदू हो या मुसलमान, बौद्ध अथवा ईसाई। अतीत में भारतवासियों को, वे हिंदू हों या मुसलमान, इसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा मिली है, और हिंदुओं के चरित्र में तथा सामान्यतः सभी भारतवासियों के चरित्र में आध्यात्मिकता की प्रधानता देखने को मिलती है। इस सबका परिणाम ही है कि हमें ऐसे लोकतांत्रिक आर्दश की अभिव्यक्ति को देखने का श्रेष्ठतम अधिकार प्राप्त हुआ है, जो यूरोपीय मानवता की सामान्य चेतना के समक्ष व्यक्त हुए आदर्श से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। पाल ने कहा कि दैवी लोकतंत्र के आर्दश की जड़ें हमें जीवन की एकता के वेदांती आदर्श में देखने को मिलती है। भगवतगीता के अनुसार सभी प्राणियों में दैवी आत्मा विद्यमान है, इसीलिए निष्कर्ष यही निकलता है सभी मनुष्य समान आदर, प्रतिष्ठा और अधिकारों के अधिकारी हैं। दैवी लोकतंत्र का यह आदर्श 'एक व्यक्ति एक मत' के यांत्रिक सूत्र को आध्यात्मिक तत्व प्रदान करके अधिक शक्तिशाली बना सकता है और इस देश की जनता के हृदय पर इसका प्रमाव भी तत्काल पड़ेगा।

पाल ने 1911 में 'साम्राज्यीय संघ' का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि इस संघीय साम्राज्यवाद में भारत के साथ एक स्वतंत्र तथा समान साझीदार जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, एक पराधीन देश जैसा नहीं। एक अर्थ में संघीय साम्राज्य का रूप राजनीतिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक होगा। ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैण्ड, मिश्र, भारत तथा उपनिवेश इस साम्राज्य के सदस्य होंगे। उनमें से प्रत्येक आंतरिक मामलों में पूर्ण स्वायत्त होगा, केवल प्रगति और रक्षा के लिए सब मिलकर कार्य करेंगे। साम्राज्य अवयवी संबंधों के आधार पर संगठित होगा। उसके अंतर्गत हमारा शासन उतना ही होगा जितना कि ब्रिटेन अथवा कनाडा का। पाल की यह योजना उनकी दूरदर्शिता का परिचायक है। विपिनचन्द्र पाल 'स्वराज्य' में लिखते हैं कि संघवाद का आदर्श प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र का प्रमुख तत्व था। अतः संघ के आदर्श से पाल का गहरा संवेगात्मक अनुराग था। वे कहा करते थे कि हिंदू धर्म अनेक धर्मों का संघ है। विश्व के राजनीतिक विकास में भारत का यह निर्धारित कार्य है कि "मानव जाति के सार्वभौम संघ की स्थापना में नेतृत्व वह करे। उन्होंने इस धारणा को दूर करने का प्रयत्न किया कि भारतीय राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का परस्पर मेल नहीं हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पाल के विचारों में धीरे-धीरे गंभीर परिवर्तन हो गया था। स्वदेशी के दिनों में वे भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र संदेशवाहक थे। किंतु इंग्लैंड से लौटने पर और विशेषकर 1909 के सुधार अधिनियम के लागू होने के उपरांत पाल कहने लगे थे कि पृथक्कृत प्रभुत्वसंपन्न स्वाधीनता 'एक खतरनाक और आत्मघाती आदर्श' होगा। परिवार, जनजाति, नस्ल और राष्ट्र अपना ऐतिहासिक कार्य तथा सामाजिक समन्वय का उद्देश्य पूरा कर चुके हैं। इसलिए मानव जाति के राजनीतिक विकास के लिए राष्ट्र से उपर उठना आवश्यक है। 1910 के उपरांत पाल ने अपनी योजनाओं में उच्चतर साम्राज्यीय समन्वय की आवश्यकता पर बल दिया। यद्यपि पाल ने यह स्वीकार किया कि वर्तमान साम्राज्यीय व्यवस्थाओं में अनेक दोष तथा कमियाँ हैं किंतु वे अवयवी सामाजिक संगठन पर आधारित उच्चतर तथा निरंतर वृद्धिमान समन्वय के आदर्श के उग्र समर्थक और प्रसंशक थे। उनका कहना था कि इस समय मानव जाति की नैतिक एकता सर्वाधिक महत्व की वस्तु है, तभी सार्वभौम मानवता का स्वप्न साकार किया जा सकता है। संघीय साम्राज्य की स्थापना सार्वभौम मानवता के लिए भूमिका का काम करेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मद्रास के अपने भाषणों में पाल ने

राष्ट्रीय शक्ति तथा एकीकरण का उपदेश दिया और कुछ समय के बाद वे साम्राज्यीय संघ के आदर्श का प्रतिपादन करने लगे। यह आदर्श सैद्धांतिक दृष्टि से अधिक ऊँचा ही नहीं था, बल्कि समय की परिस्थितियों को देखते हुए सर्वाधिक उपयुक्त भी था।

चीन का जागना, विश्व की महान शक्ति बनने के लिए जापान का अखाड़े में कुदना और सर्व इस्लामवाद ने भारत के सामने एक नई समस्या उत्पन्न कर दिया था। इन परिस्थितियों में संघ शासन का आदर्श पृथक्कृत तथा प्रभुत्वसंपन्न स्वाधीनता की तुलना में अधिक कल्याणकारी था। पाल ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि उनके पहले के अतिवादी राष्ट्रवाद और साम्राज्यीय संघ के सिद्धांत में कोई अंतर्विरोध नहीं था। उन्होंने बताया कि विकास की पहली अवस्था में राष्ट्र की नींव को सुदृढ़ करना आवश्यक है और दूसरी अवस्था में मेल-मिलाप तथा समन्वय पर बल देना जरूरी है।

विपिनचन्द्र पाल ने 1921 में बरिशाल के बंगाल प्रांतीय सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में पाल ने यह घोषणा की कि भारतीय जनता धीरे-धीरे लोकतांत्रिक स्वराज्य को अंगीकार करने लगी है। उन्होंने खुद को 'सच्चे लोकतांत्रिक स्वराज्य' का प्रवर्तक बताया। जिस समय लाला लाजपत राय, चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे बड़े-बड़े नेता गांधी जी के असहयोग आंदोलन का समर्थन कर रहे थे उस समय पाल ने उनका विरोध किया। उनके विरोध का कारण यह था कि वे धीरे-धीरे राष्ट्रीय आंदोलन के केंद्र से हटकर परिधि की ओर अग्रसर हो रहे थे। हालाँकि उन्होंने 1928 में सर्वदलीय सम्मेलन में भाग लिया किंतु एक नेता के रूप में उनकी प्रभावकारी भूमिका बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी। सार्वजनिक जीवन से अलग होने के उपरांत उन्होंने अपना संस्मरण लिखा। उनकी इस आत्मकथा से उनके जीवन तथा राष्ट्रीय आंदोलन के अनेक पहलुओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सच तो यह है कि पाल मातृभूमि को पवित्र सत्ता मानते थे। उनकी दृष्टि में वह केवल भौतिक सत्ता अथवा भौगोलिक प्रदेश नहीं थी।

3.3.7. पाल का आर्थिक आदर्श

पाल ने यूरोप तथा अमेरिका के अंतर्गत अर्थतंत्र में प्रचलित प्रतियोगिता-मूलक पूँजीवाद की भावना का खंडन किया। वे चाहते थे कि भारत के औद्योगिक आंदोलन को पाश्चात्य पूँजीवाद की भावना तथा पद्धतियों के आक्रमण से बचाया जाए। उन्होंने यह भी चेतावनी दी कि 'क्षुधा-प्रेरित समाजवाद' इस पूँजीवादी अर्थतंत्र का अपरिहार्य परिणाम है। पाल ने प्रथम विश्वयुद्ध के तुरंत बाद 'द न्यू इकॉनोमिक मीनेस टू इण्डिया' (भारत के लिए नया आर्थिक संकट) नामक पुस्तक लिखी। इसमें इन्होंने बताया कि भारत के लिए केवल यही खतरा नही है कि इंग्लैंड द्वारा उसका आर्थिक शोषण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, बल्कि उपनिवेश भी उसका शोषण करने लगे हैं। पाल ने अपनी पुस्तक 'नेशनलिटी एण्ड एम्पायर' में लिखा है कि साम्राज्यीय अधिमान्यता एक प्रकार का आर्थिक परावलंबन है। इसीलिए उन्होंने इसके खोखलेपन का भंडाफोड़ किया और ब्रिटिश पूँजीवादी शोषण के विरूद्ध उन्होंने तीन उपाय बतलाए-

1. भारतीय राष्ट्रवाद की ब्रिटिश मजदूर दल के साथ खुली तथा साहसपूर्ण मैत्री,
2. भारतीय मजदूरों के लिए अधिक से अधिक 48 घंटे का सप्ताह तथा उनकी मजदूरी में वृद्धि और
3. भारत में अर्जित अतिरिक्त लाभ पर कर।

उनका कथन था कि अतिरिक्त लाभ को अनिवार्य रूप से सार्वजनिक कोष में पहुँचाया जाए। इससे भारत के आर्थिक विकास में चल पूँजी तथा औद्योगिक साहस के कारण जो पिछड़ापन था वह आंशिक रूप से

दूर किया जा सकता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य अतिरिक्त लाभ को हड़पने का इच्छुक था, जिसे उन्होंने रोकना चाहा।

3.3.8. पाल का योगदान

विपिनचन्द्र पाल प्रकांड पंडित तथा परिपक्व विचारक थे। उनके राजनीतिक विचारों का आधारभूत सिद्धांत यह था कि इतिहास ईश्वर द्वारा नियंत्रित और संचालित होता है। इतिहास केवल उद्देश्यहीन बिखरी हुई असंबद्ध घटनाओं का जमघट नहीं है, यह तो ईश्वरीय प्रयोजन की अभिव्यक्ति है। इसमें एक व्यापक और उदात्त उद्देश्य निहित है। भारतीय इतिहास में अत्यंत उच्च उद्देश्य की अभिव्यक्ति और मानवकल्याण के महत्वपूर्ण तथ्यों को खोजा जा सकता है। स्वायत्तता तथा शुभ की स्थापना भारतीय इतिहास के सर्वोच्च उद्देश्य रहे हैं। पाल का कहना है कि आर्य युग से लेकर अबतक भारतीय इतिहास में जो भी आंदोलन, परिवर्तन आदि हुए हैं, वे हमारे राष्ट्र के दैव निर्धारित भाग्य की ही अनुमतिस्वरूप है। इस प्रकार पाल ने इतिहास में दैवी निर्धारण को ही स्वीकार किया। विपिनचन्द्र पाल ने भारतीय समाज की बुराईयों का जी खोलकर विरोध किया। उन्हें भारतीय संस्कृति से अतिशय प्रेम था। उन्होंने भारतीय रीति-रिवाजों में निहित बुराईयों और अंधविश्वासों का कभी पक्ष नहीं लिया। ब्रह्म-समाज के प्रति उनके हृदय में गहरी आस्था थी। वे राजा राममोहन राय के सामाजिक आध्यात्यिक विचारों का बड़ा सम्मान करते थे।

विपिनचन्द्र पाल क्रांतिकारी पत्रकारिता के उन्यायकों में से एक थे। प्रतिष्ठित नेताओं की तिगड़ी लाल-बाल-पाल में एक श्री विपिनचन्द्र पाल सामान्यतः भारत में क्रांतिकारी विचारधारा के जनक माने जाते हैं। इन्होंने अपना राजनीतिक जीवन 1886 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होकर आरंभ किया तथा साथ ही 'क्रांति दर्शन' नामक पत्रिका का संपादन किया। पाल ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर भारतीय स्वराज्य के महान व्याख्याता थे। पाल जाति-प्रथा तथा अंतर्जातीय विवाह संबंधी कठोर नियमों के विरोधी थे। बिपिनचन्द्र पाल की संगठनात्मक क्षमता उच्च कोटि की थी तथा वे समर्थ लेखक एवं प्रखर वक्ता के रूप में जाने जाते थे। उन्होंने 1902 में 'न्यू इंडिया' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक शुरू किया। इस पत्र ने नई राजनीतिक विचारधारा को निम्न लिखित शब्दों में परिभाषित किया-

"पुरानी कहावत है कि जो अपनी मदद स्वयं करता है भगवान भी उसी की मदद करता है। हाल ही में इस कहावत को देश के सामने एक नई परीक्षा देनी होगी। हम लोगों ने अपनी समस्याओं को बाहर की समस्या से हल करने को सोचा है। हम हमेशा माँगते ही रहे हैं। इस देश में जो कांग्रेस है और लंदन में जो ब्रिटिश कमेटी है, दोनों भिखारी संस्थाएँ हैं जो भीख माँग रही है।"

बंगाल में अगस्त 1905 को कलकत्ता में एक विराट सभा हुई। उसमें 'वन्दे मातरम्' को राष्ट्रीय आह्वान के रूप में स्वीकार किया गया और विपिनचन्द्र पाल ने ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा जो पास हो गया। उसके बाद ब्रिटिश शक्ति के विरूद्ध 'वन्दे मातरम्' के नारे से बंगाल गूँज उठा। इसी वर्ष विपिनचन्द्र पाल ने सुभाषचन्द्र बोस, चितरंजन दास और हरिदास लहरी के साथ मिलकर वन्दे मातरम् समाचार का प्रकाशन आरंभ किया। वन्दे मातरम् अपने ढंग का एक नया पत्र था जो ब्रिटिश सरकार की विभाजनकारी नीतियों का सबसे बड़ा दुश्मन बन गया।

पाल ने हिंदू-दर्शन तथा धर्म-विद्या का गंभीरता से अध्ययन किया। उनकी पश्चिम यात्रा ने उनमें राजनीतिक विश्लेषण की शक्ति को और कुशाग्र कर दिया। उन्होंने उग्र राष्ट्रीयवाद के अतिवादी सर्मथक

के रूप में अपना जीवन आरंभ किया। उनका राष्ट्रवाद ऐतिहासिक पारंपराओं तथा भारत के दार्शनिक आदर्शों पर आधारित था। उन्होंने अनुकरणमूलक राष्ट्रवाद की पुरानी प्रवृत्तियों का खोखलापन साबित करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन की जड़ें जनता के हृदय तथा आत्मा में होनी चाहिए। किंतु धीरे-धीरे उनके विचारों में परिवर्तन हो गया। आरंभ में वे अतिवादी राष्ट्रवाद के समर्थक थे बाद में साम्राज्यवादी संघ के समर्थक बन गए। जब गाँधीवाद का उदय हुआ और असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन की कार्यप्रणालियाँ कार्यान्वित हो गई तो पाल का भारतीय राजनीतिक जीवन की वास्तविकता से संपर्क टूट गया। 1923 में उन्होंने तिलक के 'संवादी सहयोग' के आदर्श को स्वीकार करने का समर्थन किया। वे राजनीति में उदारवादी कभी नहीं हुए किंतु धीरे-धीरे सक्रिय राजनीतिक जीवन से तिरोहित हो गए।

3.3.9. मूल्यांकन

निश्चित रूप से उनके 1920-1932 के कालखंड के राजनीतिक चितंन में ओज तथा शक्ति का अभाव है किंतु उन्होंने 1905-1909 तक के स्वदेशी के दिनों में देश को जो शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान किया उसके लिए उन्हें सदैव स्मरण किया जाएगा। उस युग में वे अपने राजनीतिक जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके थे। उन दिनों उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के दर्शन का प्रतिपादन किया और एक संदेशवाहक तथा पथान्वेषक का कार्य किया। यद्यपि राजनीतिक नेता के रूप में वे अविचल सिद्ध नहीं हुए, किंतु वे स्वदेशी तथा स्वराज्य के सिद्धांतकार के रूप में सदैव प्रसिद्ध रहेंगे।

विपिनचन्द्र पाल के अनुसार देशभक्ति परम पवित्र वस्तु है किंतु वही पर्याप्त नहीं है। वह मानवता में ही पूर्णत्व को प्राप्त हो सकती है, क्योंकि मानवता मनुष्य में निहित ईश्वर की शाश्वत अभिव्यक्ति है। पाल का राजनीतिक संदेश इन अनुप्रेरित शब्दों में सन्निहित है कि "धन्य है व्यक्ति का पूर्णत्व प्राप्त जीवन। धन्य है राष्ट्र का जीवन जो व्यक्ति के जीवन से वृहत्तर और अधिक ईश्वरीय है और जिसमें व्यक्ति अपना उच्चतम पूर्णता को प्राप्त होता है और धन्य है, बारंबार धन्य है मानवता का सार्वभौम जीवन जिसमें राष्ट्रीय जीवन तथा आकांक्षाएँ पूर्णत्व प्राप्त करती है तथा फलान्वित होती है।" पाल मानव प्रेम को जातिगत समानता का तात्विक दर्शन मानते थे। उनका विचार था कि मानवता मनुष्य के विकास में नियामक प्रत्यय है। नारायण अर्थात् सार्वभौम मानवता तर्कतः प्रत्येक जनजाति, नस्ल तथा राष्ट्र में सन्निहित है। इसीलिए उनके संबंध में मानवेन्द्रनाथ राय अपनी पुस्तक 'इंडिया इन ट्रांजिशन' में लिखते हैं कि विपनिचन्द्र पाल के राजनीति दर्शन में 'आश्चर्यजनक परिवर्तन' आ गया था। मध्यवर्गीय उग्रवाद तथा धार्मिक सुधारवाद के सम्मिश्रण से उनका राजनीतिक दृष्टिकोण धुँधला हो गया था। पाल के राष्ट्रवादी दर्शन में प्रगतिशील उग्रवाद धार्मिक रहस्यवाद पर हावी हो गया था। क्रांतिकारी प्रवृतियों ने उनके द्वारा प्रतिबिंबित प्रतिक्रियावादी शक्तियों को अभिभूत कर लिया था, ब्रिटिश साम्राज्य के साथ संबंध बनाए रखने की उनकी दयनीय इच्छा स्वयं उनकी मनोगत दुर्बलताओं का प्रतीक था, किंतु उनकी इस इच्छा का मूल कारण यह था कि उनके मन में परंपरावादी राष्ट्रवाद द्वारा पोषित सभी आदर्शों के प्रति अविश्वास छिपा हुआ था।

3.3.10. पारिभाषिक शब्दावली

(क) ओज	-	तेज
(ख) पंथान्वेशक	-	पथ की खोज करने वाला
(ग) सार्वभौम	-	सर्वशक्तिमान
(घ) विजातीय	-	विभिन्न जाति के
(ड़) तात्विक	-	तत्व संबंधी
(च) समन्वयवादी	-	जोड़ने वाला विचार
(छ) चिरस्थायी	-	पूरा स्थायी

3.3.11. बोध प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न

1. विपिनचन्द्र पाल का जन्म कहाँ हुआ?
   (क) 7 नवंबर, 1858 (ख) 8 नवंबर, 1858
   (ग) 6 दिसंबर, 1860 (घ) 7 दिसंबर, 1858
2. विपिनचन्द्र पाल ने प्रधानाध्यापक के रूप में कार्य किया-
   (क) कलकत्ता के हाईस्कूल में (ख) उत्तरप्रदेश में
   (ग) खड़गपुर के हाईस्कूल में (घ) कटक के हाईस्कूल में
3. उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन आरंभ किया-
   (क) 1886 में (ख) 1887 में (ग) 1888 में (घ) 1889 में
4. इनमें से कौन-सी पुस्तक विपिनचन्द्र पाल की नहीं है।
   (क) द सील ऑफ इंडिया (ख) नेशनलिटी एण्ड एम्पायर
   (ग) इंडियन नेशनलिज्म (घ) गीता रहस्य
5. 'वन्दे मातरम्' लेख कब प्रकाशित हुआ?
   (क) 6 जुलाई, 1908 (ख) 6 जुलाई, 1906
   (ग) 7 जुलाई, 1908 (घ) 7 जूलाई, 1906
6. पाल ने उच्च शिक्षा कहाँ से प्राप्त की?
   (क) कलकत्ता विश्वविद्यालय (ख) दिल्ली विश्वविद्यालय
   (ग) कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय (घ) मुम्बई विश्वविद्यालय
7. 'व्यक्तियों की भाँति राष्ट्रों की भी आत्मा होती है' किसका कथन है?
   (क) बाल गंगाधर तिलक (ख) लाला लाजपत राय
   (ग) विपिनचन्द्र पाल (घ) श्री अरविन्द घोष

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विपिनचन्द्र पाल का जन्म कब हुआ था?
2. विपिनचन्द्र पाल को कब और किसके द्वारा ब्रह्म-समाज की दीक्षा प्राप्त की?
3. विपिनचन्द्र पाल किस विचाराधारा के जनक माने जाते हैं?
4. विपिनचन्द्र पाल किसे अपना आदर्श मानते थे?
5. पाल ने 'श्वेत मानवता' कहकर किन शब्दों का माखौल उड़ाया था?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पाल के इतिहास दर्शन की व्याख्या कीजिए।
2. विपिनचन्द्र पाल के राष्ट्रवाद के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
3. विपिनचन्द्र पाल के राजनीति दर्शन की व्याख्या कीजिए।
4. विपिनचन्द्र पाल के आर्थिक आदर्श की व्याख्या कीजिए।
5. भारतीय राष्ट्रीय इतिहास में विपिनचन्द्र पाल के योगदान की व्याख्या कीजिए।
6. विपिनचन्द्र पाल का चरित्र चित्रण करें।

3.3.12. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. फाड़िया डा0 बी0एल0, 2008 राजनीतिक चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. जैन डा0 पुखराज एवं मेहता प्रो0 जीवन 2008 राजनीति विज्ञान, एल बी0 डी0 पब्लिकेशन, आगरा।
3. वर्मा डा0 बी0पी0, 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा।
4. नागर डा0 पुरुषोत्तम, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतक, 1984
5. सूद प्रो0 ज्योति प्रसाद: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार की सुक्ष्म धाराएँ, जय प्रकाश नाथ एंड कम्पनी, मेरठ।
6. देव आचार्य नरेन्द्र, राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद, 1946, पद्मा पब्लिकेशन, मुम्बई।

इकाई-4 : श्री अरविन्द घोष

इकाई की रूपरेखा

3.4.1. उद्देश्य
3.4.2. जीवन परिचय
3.4.3. अरविन्द की रचनाएँ
3.4.4. अरविन्द का राजनीतिक दर्शन - अध्यात्मवाद
3.4.4.1. आध्यात्मिक नियतिवाद या दैवी न्यायवाद
3.4.4.2. अरविन्द का राष्ट्रवाद
3.4.4.3. स्वराज्य राष्ट्र की आत्मा है
3.4.4.4. अरविन्द के राज्य तथा स्वतंत्रता संबंधी विचार
3.4.4.5. अरविन्द का लोकतंत्र विरोध
3.4.5. अरविन्द का राजनीतिक दृष्टिकोण और कार्यविधि
3.4.5.1. अरविन्द कांग्रेस के आलोचक के रूप में
3.4.5.2. अरविन्द अंग्रेजों के आलोचक के रूप में
3.4.6. सामाजिक सुधार संबंधी दृष्टिकोण
3.4.7. अरविन्द का समाजवाद और पूँजीवाद
3.4.8. अरविन्द का मानव एकता का आदर्श
3.4.9. अरविन्द की अतिमानव की अवधारणा
3.4.10. अरविन्द का योगदान
3.4.11. निष्कर्ष
3.4.12. पारिभाषिक शब्दावली
3.4.13. अभ्यास प्रश्न
3.4.14. संदर्भ-ग्रंथ सूची

3.4.1. उद्देश्य

- श्री अरविन्द की जीवनी को समझ सकेंगे।
- अरविन्द की रचनाओं के बारे में जान सकेंगे।
- अरविन्द के राजनीतिक दर्शन में अध्यात्मवाद को समझ सकेंगे।
- आध्यात्मिक नियतिवाद या दैवी न्यायवाद को समझ सकेंगे।
- अरविन्द के राष्ट्रवाद को समझ सकेंगे।
- स्वराज्य राष्ट्र की आत्मा है। इसको इस माध्यम से समझ सकेंगे।
- अरविन्द का राजनीतिक दृष्टिकोण और कार्यविधि को समझ सकेंगे।
- अरविन्द को कांग्रेस के आलोचक के रूप में जान सकेंगे।

- अरविन्द को अंग्रेजों के आलोचक के रूप में जान सकेंगे।
- अरविन्द के राज्य तथा स्वतंत्रता संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
- अरविन्द के लोकतांत्रिक विरोधी विचार को समझ सकेंगे।
- अरविन्द के समाजवादी और पूँजीवादी दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।
- अरविन्द के मानव एकता के आदर्श को समझ सकेंगे।
- अरविन्द के योगदान को समझ सकेंगे।

3.4.2. जीवन परिचय

श्री अरविन्द भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय राष्ट्र वाद की एक महान विभूति थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। वे कवि, तत्वशास्त्री, भविष्य दृष्टा, साहित्य स्रष्टा, मनीषी, देशभक्त, राजनीतिक, दार्शनिक और इन सबके ऊपर समस्त मानवता के प्रेमी थे। उनके महाग्रंथ 'द लाइफ डिवाइन' के प्रकाशन के समय से संसार के प्रमुख विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ और उनका महाकाव्य 'सावित्री' आध्यात्मिक काव्य के क्षेत्र में एक नए युग का प्रवर्तक माना जाता है। रोमै रोलाँ अरविन्द को एशिया तथा यूरोप दोनों के ही प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट समन्वय मानते थे। अरविन्द घोष का जन्म 15 अगस्त, सन् 1873 ई. को बंगाल के केकोन नगर के एक संपन्न और संभ्रांत परिवार में हुआ था। उनके पिता डॉ. कृष्णधन पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के विशेष भक्त थे। वे अपने बच्चों को भारतीय वातावरण से पूर्ण अलग रखकर पाश्चात्य शिक्षा और संस्कारों से सज्जित करना चाहते थे। उनकी आरंभिक शिक्षा दार्जलिंग के 'लारेंटो कान्वेण्ट स्कूल से हुआ। 17 वर्ष की अल्प आयु के पूर्व ही उनके पिता अरविन्द सहित अपने तीनों पुत्रों को इंगलैंड ले गए और ड्रिवेट नामक पादरी के संरक्षण में भावी अध्ययन के लिए छोड़ आए। अरविन्द 19 वर्ष तक इंगलैंड में रहे और वहाँ उनकी शिक्षा मैन्चेष्टर लंदन और कैम्ब्रिज में हुई। इन शिक्षा काल में उन्होंने अंग्रेजी भाषा पर पूर्ण अधिकार करने के साथ-साथ अंग्रेजी साहित्य के महान साहित्यकारों की रचनाओं का भी गहन अध्ययन किया। उन्होंने ग्रीक तथा लैटिन भाषा का भी अध्ययन किया। ग्रीक तथा लैटिन भाषा के पदरचना में उन्हें पारितोषिक भी प्राप्त हुआ। अपने पिता की इच्छानुसार वे 'इण्डियन सिविल सर्विस' की परीक्षा में बैठे। लिखित परीक्षा में वे अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए, पर घुड़सवारी में वे असफल हो गए। परिणामतः उनका चयन आई.सी.एस. में नहीं हुआ। बाद में उन्होंने उस परीक्षा में कोई रूचि नहीं दिखाई क्योंकि उनके मन मस्तिष्क में प्रशासनिक सेवा अथवा राजकीय सेवा के लिए कोई इच्छा नहीं थी। क्योंकि भारतीय होते हुए भी उन्हें उनके पिता द्वारा शिक्षा के माध्यम से अंग्रेज बनाने के लिए किए गए इस प्रयास की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। शनैः-शनैः उन्हें यह आभास होने लगा। पश्चिमी शिक्षा ने उन्हें अराष्ट्रीय चरित्र का व्यक्ति बना दिया है। इस अंतश्चेतना ने उनके पुनः भारतीयकरण की प्रक्रिया को प्रारंभ किया तथा उन्होंने इससे प्रेरित होकर अपना शेष जीवन अपनी मातृभूमि की सेवा में अर्पित करने का निश्चय किया।

सन् 1893 में जब वे इंग्लैंड से भारत लौटे, तब वे अंग्रेजियत का नहीं वरन एक देशभक्त भारतीय का स्वरूप धारण कर चूके थे। इंगलैंड प्रवास के दौरान ही उनका परिचय बड़ौदा नरेश से हुआ तो वे उनकी विद्वता से इतने प्रभावित हुए कि भारत लौटने पर श्री अरविन्द को उन्होंने अपनी राजकीय सेवा में

रख लिया। बड़ौदा में वे नरेश के निजी सचिव के रूप में कार्य करने लगे। बाद में वे बड़ौदा महाविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। कुछ समय यहाँ इन्होंने उपाचार्य के रूप में भी कार्य किया। श्री अरविन्द के बड़ौदा का कार्यकाल उनके एक भारतीय के रूप में जीवन का नव-निर्माण काल था। उन्होंने न सिर्फ संस्कृत अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओं को सीखा वरन् इन भाषाओं और विशेषकर संस्कृत के विभिन्न उच्च कोटि के ग्रंथों का भी अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप वे प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक गौरव से परिचित ही नहीं हुए वरन् उसके गहरे आध्यात्मिक स्वर से भी प्रभावित हुए। फलतः बड़ौदा प्रवास के दौरान उनके भारतीयकरण की प्रक्रिया ही संपन्न नहीं हुई वरन् उनके राजनीतिक जीवन की शुरूआत भी हुई। उन्होंने सन् 1902 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में भाग लिया तथा उसके बाद 1904 में बम्बई में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में वे सम्मिलित हुए। सन् 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में लाला लाजपत राय द्वारा रखे गए निष्क्रिय प्रतिरोध के प्रस्ताव से वे गहरे रूप से प्रभावित हुए लेकिन उनका सक्रिय राजनीतिक जीवन सन् 1906 से प्रारंभ हुआ। 1906 के बंग-भंग आंदोलन ने उनके राजनीतिक जीवन का शुभारंभ ही नहीं किया वरन् उसे एक नया मोड़ भी दिया। इस आंदोलन में भाग लेने हेतु वे बड़ौदा कॉलेज की सेवा से मुक्त होकर कलकत्ता चले गए तथा वहाँ पर नवयुवकों को राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्राचार्य के रूप में कार्य करने लगे। 1906 में उन्होंने 'बरीसाल सम्मेलन' में भाग लिया जहाँ उन्होंने 'वन्देमारतम्' के नारे का चमत्कारिक प्रभाव और ब्रिटिश राज की घोर अमानवीयता भी देखी। अब वे बंगाल के राष्ट्रवादी शक्तियों के अग्रणी बन गए।

बंग-भंग आंदोलन से सारा बंगाल उद्वेलित था। इस हेतु चलाए जाने वाले आंदोलन के कारण ब्रिटिश विरोधी भावना अपने पूर्ण उत्साह पर थी। स्वदेशी और बहिष्कार उनके प्रभावी अस्त्र थे। सन् 1906 में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। श्री अरविन्द ने इनमें पूर्ण सक्रियता से भाग लिया तथा उसमें श्री विपिनचन्द्र पाल द्वारा प्रस्तुत 'स्वराज्य' संबंधी प्रस्ताव को पारित करवाने में उन्होंने अपने साथियों के साथ सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया। फलस्वरूप वे कांग्रेस के उग्रवादी दल के एक प्रमुख, सक्रिय एवं प्रतिष्ठित नेता हो गए तथा इस रूप में उन्होंने कांग्रेस के उग्रवाद नीति का तीव्र विरोध किया। अपने इस विरोध को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा, ''हमारा वास्तविक शत्रु कोई बाहरी शत्रु नहीं वरन् हमारी शिथिलता और कायरता है।'' उन्होंने उग्रवादी लोकमान्य की प्रशंसा करते हुए कहा ''एक अधीन राष्ट्र स्वतंत्रता के द्वारा ही अपनी उन्नति का द्वार खोल सकता है और ऐसी स्वतंत्रता के लिए बलिदान की आवश्यकता है। राजनीति की आराम कुर्सी पर बैठकर विदेशी सत्ता नहीं दिलाई जा सकती। भारत केवल अपने पराक्रम और अपनी भक्ति से ही विरोधी शासन का विरोध कर सकता है।'' अपनी आग उगलती कलम से श्री अरविन्द ने बंगाल के संघर्ष को उग्र बनाने में ही नहीं, बल्कि उसे सफल बनाने में भी सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया।

कांग्रेस का सन् 1907 में सूरत में वार्षिक अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन उग्रवादियों और उदारवादियों में उत्पन्न बुनियादी मतभेदों के कारण उनमें पैदा हुई फूट की वजह से ऐतिहासिक महत्व का रहा। उग्रवादी अरविन्द ने इसमें उग्रवाद की त्रिमूर्ति लाल-बाल-पाल का समर्थन और सहयोग किया। यद्यपि परिस्थितिवश अल्पमत होने के कारण उग्रवादियों को कांग्रेस से अलग होना पड़ा, लेकिन इससे उनके उग्र आंदोलन का जोश कम नहीं हुआ। अरविन्द 'वन्देमातरम्' समाचार-पत्र के माध्यम से अपने लेखों द्वारा स्वदेशी और बहिष्कार का व्यापक प्रचार करने लगे। अतः उग्रवादी आंदोलन बंगाल की

सीमाओं को पार कर सारे देश में फैल गया। अपने व्याख्यानों, संपादकीय लेखों, राष्ट्र भक्ति से ओत-प्रोत लेखों तथा काव्य द्वारा अपने देश में सुषुप्तावस्था में पड़ी हुई शक्तियों को जागृत करने का प्रयास करते रहे और उन्होंने राष्ट्रवाद को गहरे आध्यात्मिक रंग में रंग दिया।

अपने उग्रवादी, क्रांतिकारी विचारों और उसके प्रचार-प्रसार के कारण श्री अरविन्द अधिक दिनों तक सरकार की कुदृष्टि से बच नहीं सके। फलतः सन् 1908 में सरकार ने श्री अरविन्द को सरकार के विरूद्ध सशस्त्र षडयंत्र रचने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया लेकिन अपराध सिद्ध नहीं होने के कारण इन्हें जेल से रिहा कर दिया गया। किंतु, इस रिहाई की कार्यवाही में ही उन्हें एक वर्ष तक जेल में नजरबंदी का जीवन व्यतीत करना पड़ा, परंतु जेल जीवन का यह एक साल उनके जीवन में वैचारिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। सक्रिय राजनीति से वे अध्यात्म की ओर आकर्षित होने लगे और राजनीति का आध्यात्मिकरण उनके जीवन का प्रमुख ध्येय बन गया। सन् 1910 के पूर्व से ही उन्हें समय-समय पर यह आभास हो रहा था कि प्रकृति उन्हें आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित कर रही है। अतः वे योग-साधना और ईश्वरोपासना में तल्लीन रहने लगे। उनकी राजनीतिक गतिविधियों में मंदता आ गई। उन्होंने 'कर्मयोग' तथा 'धर्म' नाम के दो साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू कर दिया।

ब्रिटिश सरकार के दमन से बचने के लिए पहले वे फ्रांसीसी अधिपत्य वाले चंद्रनगर चले गए तथा वहाँ से बाद में सन् 1910 में फ्रांसीसी उपनिवेश पांडिचेरी के लिए प्रस्थान कर गए। पांडिचेरी प्रवास से श्री अरविन्द के जीवन में एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। उन्होंने एक सन्यासी जीवन को अंगीकार कर लिया। योग आधारित अध्यात्म साधना करते हुए उन्होंने अपने जीवन के शेष 40 वर्ष वहीं व्यतीत किया। अरविन्द के प्रभाव और ख्याति के कारण पांडिचेरी धीरे-धीरे विश्व मानवता का एक आध्यात्मिक तीर्थ के रूप में लोगों का ध्यान आकर्षित करने लगा, जो 5 दिसंबर, 1950 में श्री अरविन्द की मृत्यु के पश्चात भी ओरोवील या विश्व ग्राम के रूप में आज भी अपना महत्व बनाया हुआ है।

3.4.3. अरविन्द की रचनाएँ

पांडिचेरी में योग-आधारित आध्यात्मिक साधना करते हुए श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक और राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण लगभग तैतीस ग्रंथों का लेखन कार्य पूर्ण किया, जिनसे हमें उनके आध्यात्मिक और राजनीतिक विचारों का परिचय मिलता है। अरविन्द की रचनाओं में उनकी प्रकांड विद्वता, आध्यात्मिक शक्ति और दार्शनिकता झलकती है। उनकी रचनाओं में हमें भारत की नवीन तथा उदीयमान आत्मा का घनीभूत सार देखने को मिलता है और मानव जाति के लिए उनमें आध्यात्मिक संदेश निहित है। उनकी रचनाओं में अधिक महत्वपूर्ण है- 'द लाइफ डिवाइन', ऐसेज ऑफ द गीता', 'द सिंथेसिस ऑफ योगा', 'द आइडियल ऑफ ह्यूमेन यूनिटी' एवं द डिफेंस ऑफ इंडियन कल्चर' आदि।

प्रभावी लेखक होने के अतिरिक्त श्री अरविन्द एक महान कवि भी थे। उनकी काव्य रचनाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है- 'सावित्री', 'रिनासां इन इण्डिया', 'बंकिम-तिलक-दयानन्द', 'द बेसेस ऑफ योगा' एवं 'द राइडल ऑफ द वर्ल्ड' आदि। इस प्रकार उनके ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि वे पूर्व के धार्मिक साहित्य तथा पश्चिम के तत्वशास्त्र दोनों से भलीभाँति परिचित थे।

3.4.4. अरविन्द का राजनीतिक दर्शन - अध्यात्मवाद

राजनीतिक नेता तथा लेखक के रूप में वे प्राचीन वेदांत तथा आधुनिक यूरोपीय राजनीतिक दर्शन का समन्वय करना चाहते थे। अरविन्द द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक विचारों को हम तबतक भलीभाँति नहीं समझ सकते जबतक की हम उनकी आधारभूमि से परिचित न हो जाएँ। अन्य भारतीय राजनीतिक विचारकों से भिन्न अरविन्द के राजनीतिक विचारों का आधार भौतिकवादी नहीं वरन् उनके द्वारा प्रतिपादित अध्यात्मवाद है। अरविन्द के राजनीतिक चिंतन की इसी विशेषता को संकेत करते हुए डॉ. कर्ण सिंह ने अपनी पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रवाद के संदेशवाहक' में लिखा है कि ''अरविन्द के राजनीतिक चिंतन का सुक्ष्म आधार उनके गहरे आध्यात्मिक विश्वासों में निहित है और उन्हीं में से उस चिंतन का विकास हुआ है। उनके लिए राजनीतिक, वैयक्तिक, राष्ट्रीय और वैश्विक आध्यात्मिक विकास के सिद्धांत का ही एक विस्तार थी।'' अरविन्द के अध्यात्मवाद में इस गहन विश्वास के कारण उनकी राजनीति अन्य राजनीतिज्ञों से भिन्न चरित्र की थी। उसके माध्यम से उन्हें यह आत्मानुभूति हुई कि आध्यात्मिक शक्ति और योग साधना के द्वारा ही एक ऐसे आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया जा सकता है जिसे साधन के रूप में अपनाकर भारत अपने अभीष्ट लक्ष्य स्वराज्य या स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकता है। अपनी इस आत्मिक अनुभूति के कारण वे एक सक्रिय राजनीतिज्ञ के स्थान पर एक राजनीतिक दार्शनिक हो गए तथा उसके माध्यम से भारतीय स्वतंत्रता को प्राप्त करने का प्रयास करने लगे। भारतीय स्वतंत्रता के लिए आध्यात्मिक जागृति के माध्यम से प्रयास करने का अनुभव वे एक ईश्वरीय आदेश के रूप में स्वयं में निरंतर महसूस करते थे। इसी ओर संकेत करते हुए उन्होंने अगस्त 1905 में अपनी पत्नी को लिखे एक पत्र में कहा कि ''मैं इस पतित जाति का उद्धार करने की शक्ति रखता हूँ। यह शक्ति भौतिक नहीं है। मैं तलवार अथवा बंदूक से नहीं लड़ूँगा वरन् ज्ञान की शक्ति से यह संघर्ष करूँगा। यह कोई नवीन भाव नहीं है। इसे मैंने भारतीय संस्कृति से ग्रहण किया है। यह मेरा जन्मजात ज्ञान है। यह तो मेरी अस्थियों की मज्जा में विद्यमान है। इस महान लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही ईश्वर ने मुझे पृथ्वी पर भेजा है।''

अतः अरविन्द ने इस ईश्वरीय आदेश को स्वीकार करते हुए भारतीय स्वतंत्रता के लक्ष्य को भौतिक साधनों से अर्जित करने का कार्य राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय अन्य नेताओं पर छोड़ दिया और स्वयं द्वारा उसे आध्यात्मिक साधनों द्वारा प्राप्त करने का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया। लेकिन अरविन्द के लिए भारतीय स्वतंत्रता और स्वराज का अर्थ सिर्फ उसके राजनीतिक स्वरूप तक सीमित नहीं था वरन् उसका एक आध्यात्मिक महत्व था। वे इसे एक आवश्यक तत्व मानते थे जिसे प्राप्त करके ही भारत आध्यात्मिक दृष्टि से विश्व का नेतृत्व कर सकता था और उसे अध्यात्म का पाठ पढा सकता था। उनके अनुसार भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति इसलिए आवश्यक थी कि स्वतंत्र भारत ही आधुनिक समय में अपनी प्राचीन आध्यात्मिक विश्वगुरु होने की भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकता था। अरविन्द पांडिचेरी में रहते हुए अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा भारत को स्वाधीनता के इसी मार्ग पर अग्रसर करने हेतु और उसकी आत्मिक शक्ति को नई ऊँचाइयाँ प्रदान करने हेतु सतत् प्रयत्नशील किया। उनका विश्वास था कि भारत स्वाधीनता के माध्यम से अपना आध्यात्मिक विकास कर विश्वमानवता की सेवा कर सकता है। उनके अनुसार भारत का स्वाधीन आध्यात्मिक विकास और मानवसेवा दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू थे तथा एक की सिद्धि से ही दूसरे की सिद्धि संभव थी। स्वाधीन भारत द्वारा आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति ही सच्ची मानव सेवा थी।

अरविन्द घोष ने भारतीय अध्यात्मवाद और यूरोपीयन लौकिकवाद तथा भौतिकवाद के बीच समन्वय की आवश्यकता पर बल दिया। उन्हें पाश्चात्य जगत तथा भारत दोनों के ही दर्शन, साहित्य तथा जीवन का भली-भाँति ज्ञान था। उनका विचार था कि यद्यपि बौद्धिक तथा राजनीतिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र में भारतीयों की अनेक उपलब्धियाँ रही है, लेकिन भारतीय प्रतिभा की उच्चतम अभिव्यक्ति वेदांती ऋषियों तथा बुद्ध की क्रियाओं के रूप में हुई है। कालांतर में इस स्थिति ने भारत में संसार को त्यागने की प्रवृति उत्पन्न कर दी और प्रकृति जगत की क्षण भंगुरता पर बहुत अधिक बल देकर राष्ट्र की प्राण शक्ति को दुर्बल कर दिया। यूरोप और पश्चिम में जो अनेक भौतिकवादी विचारक हुए हैं, उनके द्वारा किए गए वैज्ञानिक पद्धति के पूर्ण विकास ने पश्चिम में घोर भौतिकवाद और लौकिकवाद को प्रोत्साहन किया है और समाज को भौतिक आधार पर संगठित करने का संदेश दिया है। इस वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति को सबल और विजयी बनाया है लेकिन ऐसे वातावरण में भारत और यूरोप, इन दोनों क्षेत्र की ये दोनों ही स्थितियाँ अधूरी है। अतः मानवीय अध्यात्मवाद और पश्चिम के लौकिकवाद तथा भौतिकवाद के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जीवन के सर्वांगिक विकास के लिए एक ऐसे दर्शन की सृष्टी की जानी चाहिए जिसमें पदार्थ तथा आत्मा दोनों के ही महत्व को स्वीकार किया जाए। इस प्रकार उन्होंने भारतीय दर्शन और यूरोपीय दर्शन, आध्यात्मिकता और भौतिकवाद के बीच समन्वय की आवश्यकता पर बल दिया। इसीलिए रोमा रोला ने अरविन्द को ''एशिया तथा यूरोप की प्रतिभा का समन्वय'' कहा है।

इस तरह अरविन्द की भारतीय स्वतंत्रता की कामना सिर्फ भारत के हित सिद्धि हेतु ही नहीं वरन् उसके माध्यम से विश्व-हित-सिद्धि की कामना थी। उनकी मान्यता थी कि भारत अपना आध्यात्मिक पुनरूद्धार करके ही विश्व मानवता के आध्यात्मिक विकास का पथ प्रशस्त कर सकता है। लेकिन अध्यात्मवाद आधारित श्री अरविन्द का राजनीतिक दर्शन कोरा अध्यात्मवादी नहीं था। उन्होंने इस दृष्टि से वेदों, उपनिषदों तथा गीता द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवादी वेदांतिक सिद्धांत का खंडन किया तथा आत्मा और मायावादी सिद्धांत को समग्र दृष्टि से देखते हुए सांसारिक जीवन को एक काल-कोठरी मानने से इंकार करते हुए जीवन के प्रति इन दोनों के अविच्छिन्न रूप पर आधारित एक नए दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। इस प्रकार उन्होंने आध्यात्मिक और भौतिकता का एक समन्वित रूप प्रस्तुत किया। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण निराशावादी नहीं वरन् आशावादी था और सच्चे आध्यात्मिक विकास के लिए उन्होंने उसकी स्वीकृति पर बल दिया। यद्यपि ईश्वरीय सत्ता में इनका दृढ़ विश्वास था लेकिन अपने इस विश्वास की व्याख्या कभी जीवन के प्रति निराश और उदासीन होने की दृष्टि से नहीं की। उनकी आध्यात्मिकता जीवन के प्रति विमुख होने में निहित नहीं थी। उनका चरित्र और स्वरूप नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक था। उनका कहना था कि जीवन से भागकर हमें ईश्वर तक पहुँचने का प्रयास नहीं करना चाहिए वरन् ईश्वर को हमें अपने सांसारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए ही उसकी सत्ता को सिद्ध करनी चाहिए। ईश्वर तो सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। हम जैसे-जैसे इस विचार से अपना तदात्म्य स्थापित करते जाएँगे, वैसे-वैसे हमारा आध्यात्मिक विकास भी नित नई-नई ऊँचाइयों को स्पर्श करता जाएगा। अरविन्द द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक दर्शन का आधार उनका यही समग्र जीवन दर्शन है जिस पर उनकी समस्त राजनीतिक अवधारणाएँ आधारित हैं।

3.4.4.1. आध्यात्मिक नियतिवाद या दैवी न्यायवाद

कार्ल मार्क्स ने जिस प्रकार इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत किया उसी प्रकार महर्षि अरविन्द ने मानवीय इतिहास के प्रसंग में आध्यात्मिक नियतिवाद कहा था। उन्होंने दैवी न्यायवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि इतिहास ईश्वर इच्छा की क्रमिक अभिव्यक्ति है और इतिहास के ऊपर से निष्प्रयोजन तथा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली घटनाओं के मूल में ईश्वरी इच्छा और शक्ति ही काम कर रही है। अरविन्द 'काली' को परमात्मा की नियामक शक्ति का प्रतीक मानते थे और उनके अनुसार, ''काली का गतिशील क्रिया-कलाप ही इतिहास है।'' उन्होंने बताया कि भारत में ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय जनता का दमन, उत्पीड़न और अपमान ईश्वरीय योजना का ही अंग था। ईश्वर ने भारतीयों को आत्मनिग्रह की शिक्षा देने के लिए स्वयं इन तरीकों का प्रयोग किया। अब भारतीय पुनरूत्थान के मूल में भी ईश्वर इच्छा ही कार्य कर रही है। ईश्वर की इच्छा है कि भारतीय स्वयं अपने लिए स्वतंत्रता प्राप्त करे और समस्त विश्व के कल्याण के मार्ग को आगे बढ़ाएँ। अरविन्द का यह दैवी न्यायवाद भगवद्गीता के विचारों तथा जर्मन आदर्शवाद के समन्वय का प्रतीक है। इसी को हीगल ने ''इतिहास का औचित्य'' कहा है। हीगल ने कहा था कि ''विश्व इतिहास के सिकन्दर, सीजर, नैपोलियन आदि पुरूषों ने अचेतन रूप में दैवी योजना की क्रमिक अभिव्यक्ति में योग दिया''। गीता के अनुसार महापुरूष ईश्वर का वास्तविक कर्ता नहीं होता, अपितु ईश्वरीय कार्य का निमित्त मात्र हुआ करता है।

3.4.4.2. अरविन्द का राष्ट्रवाद

अरविन्द ने 'वन्देमातरम्' में कहा है कि ''एक राष्ट्र के सुंदर, स्वस्थ तथा चेतन जीवन के लिए स्वतंत्रता परम आवश्यक है। विदेशी प्रभुत्व एक अप्राकृतिक स्थिति की सूचक है। यदि इसे स्वीकृत किया गया तब यह परतंत्र देश के नागरिकों के लिए अस्वस्थ और अप्राकृतिक स्थिति पैदा कर देगा। इसका परिणाम यह होगा कि वह राष्ट्र पतन और असंगठन की बाहों में ग्रस्त हो जाएगा। विदेशी शासन किसी भी राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकता।'' विदेशी शासन के इस भार से मुक्ति की जिज्ञासा ही राष्ट्रवाद है। वे भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान विभूति थे। श्री अरविन्द की समस्त राजनीतिक विचारधारा में यदि कोई बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है तो वह उनका राष्ट्रवाद का सिद्धांत या आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की धारणा है। उनकी यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की धारणा दैवी नियतिवाद से जुड़ी हुई तथा उसका स्वभाविक परिणाम है। रोनाल्ड के शब्दों में- "अरविन्द ने समय की आवश्यकताओं के अनुरूप राष्ट्रवाद को एक शुद्ध धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया।"

अरविन्द राष्ट्रवाद को राष्ट्र और नागरिक दोनों के लिए वरदान मानते थे। उन्होंने स्वतंत्रता की माँग करके भारतीय राष्ट्रवाद के चिंतन को एक नई शक्ति दी। उनका राष्ट्रवाद हिंसक उदारवाद की भावना से सर्वथा मुक्त था। उनका राष्ट्रवाद परतंत्रता की अपेक्षा मृत्यु को अधिक पसंद करता था। अरविन्द जैसे राष्ट्रवादी स्वतंत्रता प्राप्ति से कम किसी चीज से संतुष्ट नहीं थे। वे मानते थे कि स्वायत्तता एवं स्वशासन के बीच एवं परतंत्रता एवं स्वतंत्रता के बीच किसी एक को चुनने का विकल्प को नहीं सोचना चाहिए बल्कि स्वतंत्रता अथवा मृत्यु में से किसी एक को चुनना चाहिए। अरविन्द का राष्ट्रवाद इतिहास की भावनाओं से अनुप्रेरित था। उन्होंने राष्ट्रवाद को धर्म के रूप में स्वीकार किया था। उन्होंने राष्ट्रवाद के माध्यम से युग की आवश्यकताओं को संपन्न किया था। उन्होंने राष्ट्रवाद को एक रचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में

अनुभव किया, जिसके अनुसार उन्होंने राष्ट्रवाद को केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में ही स्वीकार नहीं किया अपितु युग का पवित्र धर्म भी स्वीकार किया।

अरविन्द का कहना था कि ''राष्ट्रवाद एक ऐसा धर्म है जिसे हमें अपने जीवन का आधार बनाना होगा। राष्ट्रवाद इश्वरीय बल का प्रतीक है। राष्ट्रवाद अमर शक्ति का श्रोत है। राष्ट्र अमर है वह मृत्यु को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वह कोई मानवीय वस्तु ही नहीं है बल्कि ईश्वरीय देन है, युग की दैवी आवश्यकता है। यह निश्चित है कि राष्ट्र का एक बार अभ्यूदय अवश्य होगा।'' एक रहस्यवादी की भाँति उन्होंने यह घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद के मूल में ईश्वर है और वही भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का वास्तविक नेता है। अरविन्द द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद का विचार देशभक्ति का पर्याय मात्र नहीं था वरन् वह उससे कहीं ऊँचे और धार्मिक स्तर पर स्थापित था। इसके प्रेरणास्रोत भारत की प्राचीन सनातन धर्म-आधारित संस्कृति में निहित थे। वे सनातन धर्म को राष्ट्रवाद का पर्याय मानते थे, जो आध्यात्मिकता का प्रतिरूप था। इसी राष्ट्रवादी आध्यात्मिकता के आधार पर वे भारत का पुनर्निर्माण करना चाहते थे। राष्ट्रवाद उनके लिए ईश्वर की वाणी और आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति था तथा वह मनुष्य के बाह्य आचरण से ही नहीं वरन् मूल रूप से उसके आंतरिक या आत्मिक आचरण से संबंधित था।

इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने अपने एक भाषण में कहा कि- ''राष्ट्रवाद एक राजनीतिक कार्यक्रम मात्र नहीं है। राष्ट्रवाद वह धर्म है जो ईश्वर की ओर से आया है। ऐसे धर्म आधारित राष्ट्रवाद का तुम्हें जीवन भर पालन करना होगा। अतः यदि तुम सच्चे राष्ट्रवादी बनना चाहते हो, या उसे एक धर्म की तरह स्वीकार करना चाहते हो तो यह कार्य तुम्हें एक धार्मिक भावना के साथ करना चाहिए। तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि तुम ईश्वर के एक यंत्र हो, एक माध्यम हो जिसके द्वारा उनका यह कार्य पूर्ण होना है। राष्ट्रवाद ईश्वरीय संदेश है तथा ईश्वरीय बल ही उनकी प्राण शक्ति है। उसी के बल पर वह चिरजीवित है, अजर-अमर है। वह प्रत्यक्ष ईश्वर है। न उसका दमन किया जा सकता है और न उनको मारा जा सकता है, चाहे उसके विरूद्ध कैसे ही अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग क्यों न किया जाए।'' अरविन्द ने इस तरह आदर्शवादी जर्मन विचारक हीगल की तरह राष्ट्र को पृथ्वी पर ईश्वर के अवतरण की संज्ञा दी।

अरविन्द के लिए उनका राष्ट्र भारत केवल एक भौगोलिक सत्ता या प्राकृतिक भूमिखंड मात्र नहीं था वरन् माँ के समान था, जिसकी दासता से मुक्ति हेतु हर संभव प्रयत्न करना उसकी हर संतान का एक धार्मिक और नैतिक कर्तव्य था। उनकी यह धारणा थी कि इसी तरह के कर्तव्य निर्वहन से भारत स्वाधीन ही नहीं, महान बन सकता है। अरविन्द ने इस दृष्टि से अपने देशवासियों को अपने महान एवं गौरवपूर्ण अतीत से परिचय कराया। उन्हें यह देखकर संतोष हुआ कि भारतीयों में अपने महान अतीत के गौरव के प्रति चेतना जाग्रत होने लगी है तथा वे इस आधार पर देश के पुनर्निर्माण के कार्य हेतु प्रेरित और प्रयासरत हाने लगे हैं। उन्हें भय था कि यदि ऐसा न हुआ तो देश पश्चिमीकरण की आँधी में बहकर अपना मूल स्वरूप खो देगा। अतः उन्होंने चेतावनी भरे लहजे में कहा कि- ''यदि हमने अपना यूरोपीयकरण कर लिया, तो हम अपना आध्यात्मिक क्षमता, बौद्धिक बल, राष्ट्रीय एकता और आत्म पुनरूद्धार की शक्ति को सदा के लिए खो बैठेंगे।'' अपने इसी पश्चिमीकरण के भय से उन्होंने राष्ट्रवाद को एक ईश्वरीय आदेश और प्रेरणा घोषित कर देशवासियों में अपने भारतीयपन के प्रति एक नवीन चेतना उत्पन्न करने का भागीरथ प्रयास किया। उन्होंने पुनः कहा कि ''राष्ट्रीय मुक्ति का प्रयत्न एक परम पवित्र यज्ञ है, जिसमें बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और अन्य कार्य छोटी-बड़ी आहुतियाँ हैं। इस यज्ञ का सुफल स्वतंत्रता है जिसे हम देवी भारतमाता को अर्पित करेंगे।''

सनातन हिंदू धर्म को भारतीय राष्ट्रवाद का आधार घोषित करने के कारण विचारकों ने अरविन्द के राष्ट्रवाद को संकीर्ण हिंदू राष्ट्रवाद घोषित कर उसकी आलोचना की है, लेकिन उनकी यह अवधारणा भ्रमपूर्ण है। अरविन्द ने हिंदुत्व को बहुत ही व्यापक अर्थ में परिभाषित किया है। उनके अनुसार- हिंदू धर्म शाश्वत है यह सार्वभौमिकता का प्रतीक है तथा इस दृष्टि से वह सर्वव्यापी है। वह सर्वगुण संपन्न है और सभी धार्मिक अच्छाइयों का वह प्रतिनिधित्व करता है। इस कारण वह ईश्वर के सामीप्य का बोध कराता है। यह कोई धर्म विशेष नहीं सर्वधर्म का प्रतिबिंब है जो सभी को समान रूप से सनातन आध्यात्मिक सत्य का आभास कराता है तथा इस आधार पर सभी की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः अरविन्द द्वारा सनातन एवं सर्वव्यापी, सर्वकल्याणकारी व्यापक हिंदू धर्म पर आधारित राष्ट्रवाद पर धार्मिक संकीर्णता का आरोप लगाना सरासर गलत और निराधार है, क्योंकि अरविन्द द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद की अवधारणा फासीवादियों के समान विश्व-मानववाद और अंतरराष्ट्रवाद-विरोधी नहीं थी वरन् इसके विपरीत वह उसकी पूरक और उसे सशक्त करने वाली अवधारणा के रूप में थी। उन्होंने धर्म आधारित आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को सर्वकल्याणकारी मानववादी चरित्र की प्राचीन भारतीय संस्कृति के आधार पर ही परिभाषित किया था। अतः उनका उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय धरातल पर भारतीय राष्ट्रवाद की प्रस्थापना करना है जिससे कि वह अंतरराष्ट्रवाद का सहचर बनकर भारत के कल्याण के मार्ग से विश्व-कल्याण के उद्देश्य की सिद्धि का एक साधन बन सके। वे इसे एक ईश्वरीय कार्य मानते थे जिसे वे सनातन एवं सर्वहितकारी हिंदू धर्म पर आधारित भारतीय राष्ट्रवाद के माध्यम से पूर्ण करना चाहते थे। यही उनके अनुसार सच्ची मानव सेवा थी। इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद संकीर्ण हिंदूराष्ट्रवाद नहीं था। वरन् अंततः वे उसके माध्यम से एक ऐसे विश्व संघ-राज्य की स्थापना करना चाहते थे, जो अपने चरित्र और स्वरूप की दृष्टि से विश्व के सभी राष्ट्रीयता के आधार पर स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ होगा जिसके माध्यम से हर प्रकार की पराधीनता बल-आधारित असमानता एवं दासता का उन्मूलन सम्भव हो जायेगा। अतः अरविन्द की राष्ट्रवाद की अवधारणा अनिवार्य रूप से विश्व-मानवता की एकता, प्रेम और बंधुत्व के भाव पर आधारित थी तथा उसका लक्ष्य अंततः संपूर्ण मानव जाति का कल्याण करना ही था।

इस प्रकार अरविन्द ने यद्धपि अपने राष्ट्रवाद की अवधारणा को भारत की प्राचीन अध्यात्मवादी संस्कृति पर आधारित किया लेकिन उसे विश्वव्यापी रूप प्रदान करते हुए मानवतावादी स्वरूप भी प्रदान कर दिया ताकि यह भारत के कल्याण की ही नहीं संपूर्ण विश्व के कल्याण की एक सशक्त साधन भी सिद्ध हो सके। अतः कर्ण सिंह के शब्दों में- ''अरविन्द की राष्ट्रवादी अवधारणा उन्हें संकीर्ण राष्ट्रवाद के प्रतिपादकों की श्रेणी में रखकर राष्ट्रवाद के एक नवीन व्याख्याकार एवं परम उदारवादी विचारक के रूप में प्रस्तुत करती है।''

अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अरविन्द की राष्ट्रवाद की अवधारणा विश्व-बंधुत्व, अंतरराष्ट्रवाद एवं मानवतावाद का समर्थन करने वाली तथा उसे बल प्रदान करने वाली अवधारणा थी। अरविन्द का राष्ट्रवाद अंतरराष्ट्रवाद का पूरक और सहभागी था। वह भारत की ही नहीं सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता का समर्थक था तथा समानता के आधार पर एक ऐसे विश्वसंघ की स्थापना के उद्देश्य से प्रेरित था, जो विश्वशांति और सहयोग के उद्देश्यों का एक मूर्त्तरूप था।

3.4.4.3. स्वराज्य राष्ट्र की आत्मा है

श्री अरविन्द की मान्यता थी कि स्वराज के बिना राष्ट्र मृतक के समान है। स्वराज के अभाव में राष्ट्र की आत्मा भटकती रहती है। स्वराज राष्ट्र का आभूषण ही नहीं अपितु नैतिक आवश्यकता भी है। कोई भी राष्ट्र स्वराज्य के बिना अपनी उन्नति के मौलिक विधान का निर्माण नहीं कर सकता। ऐसा शासन जिसमें व्यक्ति के विकास के पूर्ण अवसर उपलब्ध नहीं होते वह शासन किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वराज्य व्यक्ति को उन्नति का पूर्ण अवसर प्रदान करता है। स्वराज्य में आशा और विश्वास के अंकूर पैदा होते हैं। स्वराज्य के अभाव में राष्ट्रीय जीवन गतिहीन बन जाता है।

श्री अरविन्द की मान्यता थी कि राजनीतिक स्वतंत्रता भारत की सब प्रकार की उन्नति की अनिवार्य शर्त्त है, इसलिए उन्होंने उदारपंथी नेताओं की तरह छोटे-मोटे सुधारों को महत्व न देकर राजनीतिक स्वतंत्रता को भारतीय लक्ष्य बताया। भारतीय दर्शन के अनुसार स्वराज्य और राष्ट्र के प्रति प्रेम एक अभिन्न स्थिति का सूचक है। हिंदू मान्यता के अनुसार स्वराज्य की स्थिति स्वर्ग से भी प्रिय है। इस अनुभूति का अनुभव उन्होंने समूचे राष्ट्र को करवाया। उन्होंने स्वराज्य को एक प्रेरणा के रूप में तथा राष्ट्रवाद को एक शक्ति के रूप में अनुभव किया था। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रवाद स्वराज्य प्राप्ति का एक अस्त्र है। वह न केवल एक जिज्ञासा पैदा करता है अपितु मृतक राष्ट्र को जीवित करके जीवित रहने की इच्छा और अनुभूति पैदा करता है। उन्होंने स्वराज्य की भावना को राष्ट्रीय जीवन में ओत-प्रोत करके नए मापदंड़ों की स्थापना की थी।

श्री अरविन्द का राष्ट्रवाद किसी भी रूप में संकुचित राष्ट्रवाद नहीं था। उन्होंने भारत की स्वतंत्रता और जागरण पर जोर दिया क्योंकि उनकी दृष्टि में भारत का कार्य, विश्व का कार्य एक ईश्वरीय कार्य था। उनकी मान्यता थी कि ''राष्ट्रवाद मानव के सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक है। अंततोगत्वा एक विश्व-संघ के द्वारा मानव की एकता स्थापित होनी चाहिए और इस आदर्श की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक नींव का निर्माण मानव धर्म तथा आंतरिक एकता की भावना के माध्यम से ही संभव है। इस प्रकार अरविन्द के राष्ट्रवाद का दृष्टिकोण नूतन और अधिक उदार था। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की इस धारणा के आधार पर उन्होंने देश के प्रति प्रेम और राष्ट्रवाद को एक ज्वलंत धार्मिक भावना का रूप प्रदान किया।

3.4.4.4. अरविन्द के राज्य तथा स्वतंत्रता संबंधी विचार

अरविन्द के अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक इकाई ही नहीं वरन् अपने आपमें एक आत्मा और प्राणी है, जिसका अपना अस्तित्व है। उन्होंने व्यक्ति को राज्य से पृथक एक स्वतंत्र अस्तित्व दिया और कहा कि यह सर्वथा अनुचित है कि राज्य व्यक्ति पर अपना पूर्ण अधिकार या स्वामित्व जताएँ। अरविन्द ने, जो स्वयं आध्यात्मिक पुरूष थे, यह संदेश दिया कि व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक अस्तित्व के नियमों का पालन करना चाहिए और उन्हीं से निर्देश लेने चाहिए। इस संबंध में राज्य का हस्तक्षेप सर्वथा अनुचित है। व्यक्ति की आत्मा के विकास और उसके स्वभाविक उत्थान के लिए अनिवार्य है कि उसे स्वतंत्रता मिले।

अरविन्द ने अपनी राज्य संबंधी अवधारणा में आदर्शवादियों की तरह राजा को सर्वोच्च महत्व प्रदान नहीं किया है। राज्य के व्यक्ति और समाज के जीवन में राज्य के महत्व की दृष्टि से वे व्यक्तिवाद के अधिक निकट हैं। उनके अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास का एक भौतिकवादी साधन या यंत्र है। यह

व्यक्ति के विकास-आधारित आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से एक निम्न कोटि की सुविधा है। अतः उनका कथन है कि राज्य को कभी एक साध्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए राज्य नहीं, मनुष्य स्वयं और उसका समाज अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है। अरविन्द राज्य के संबंध में इस अवधारणा को स्वीकार नहीं करते कि वह श्रेष्ठ मष्तिष्क का प्रतिनिधित्व करता है। अतः वे राज्य के कार्य को आवश्यकता के आधार पर सीमित करने के पक्षधर हैं।

अरविन्द राज्य को एक पूर्णता मानने को तैयार नहीं है। उनके अनुसार राज्य तो एकमात्र भौतिक आवश्यकता है। अरविन्द के शब्दों में- ''राज्य एक सुविधा (मात्र) है और अपेक्षाकृत हमारे सामूहिक विकास की एक भद्दी सुविधा है जिसे कभी भी स्वयं को साध्य नहीं बनाया जाना चाहिए।'' उनका कहना था कि राज्य को भौतिक आधार पर लोक-कल्याण संबंधी सभी कार्य करना चाहिए ताकि समाज में ऐसी आदर्श परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सके जिसका प्रयोग करके हर एक व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपने आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर सके। इस तरह अरविन्द राज्य के स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र के संबंध में मध्य मार्ग ग्रहण करते हैं। उसके अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास का साधन तो है, पर वह भौतिक विकास का साधन है, आध्यात्मिक विकास का नहीं। राज्य को मानव प्रगति का सर्वोत्तम साधन मानना हास्यास्पद है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः वह अपना विकास स्वयं व्यक्तिगत रूप से या सामुहिक रूप से कर सकता है। ''राज्य का कार्य केवल बाधाओं को दूर करना और अन्याय को रोकना, आदि है।'' उन्होंने विशेष रूप से इस बात पर बल दिया कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखते हुए उसे शिक्षण कार्य से दूर रखा जाना चाहिए तथा राज्य द्वारा किसी धर्म विशेष का पालन नहीं कराया जाना चाहिए। लेकिन वे उस आर्थिक व्यक्तिवाद के समर्थक नहीं थे, जो पूँजीपति को श्रमिक के शोषण करने की खुली छुट देता है। अरविन्द ने आधुनिक पूँजीवाद की आलोचना करते हुए साम्राज्यवादी शोषण की निंदा की।

राज्य के इसी विचार से अरविन्द का स्वतंत्रता संबंधी विचार उत्पन्न होता है। अरविन्द के राजनीति दर्शन में स्वतंत्रता एवं अधिकार को बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके लिए व्यक्ति की बाह्य स्वतंत्रता की स्थिति निर्मित करने वाला साधन है जिसका उपयोग कर व्यक्ति अपने आध्यात्मिक स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त करने का सफल प्रयास करता है। इस दृष्टि से अरविन्द के अनुसार- "स्वतंत्रता का अर्थ अपने जीवन के नियमों का पालन करना तथा उसके साथ जीवन निर्वाह करना ही ये जीवन का नियम ईश्वरी नियमों का ही पर्याय है।" अरविन्द के स्वतंत्रता संबंधी विचार उनके गीता के ज्ञान से प्रेरित था, जिसके अनुसार यह कहा गया है कि स्वधर्म का पालन ही मनुष्य की सच्ची आत्मिक स्वतंत्रता का प्रतीक है। स्वधर्म की व्याख्या करते हुए गीता में कहा गया है कि मनुष्य को स्वयं को उन्हीं कार्यों के निर्वाह तक सीमित रखना चाहिए, जो उसके सामाजिक और मानसिक जीवन के अनुरूप हो। यदि वह इन कार्यों का निष्पादन निष्काम भाव से करता है तो अंत में वह मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार अरविन्द के अनुसार मनुष्य की वास्तविक स्वतंत्रता स्वनियंत्रित आत्मिक या आध्यात्मिक स्वतंत्रता है, जो उसके बाह्य स्वतंत्रता से अधिक महत्वपूर्ण और वास्तविक है। यह आंतरिक स्वतंत्रता और आत्मिक स्वतंत्रता ही मनुष्य के जीवन का सार है। अरविन्द का कहना था कि किसी भी राष्ट्र के नागरिकों को तीन अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिए। ये तीन अधिकार हैं-

(क) स्वतंत्र प्रेस और अभिव्यक्ति का अधिकार।

(ख) स्वतंत्र सार्वजनिक सभा करने का अधिकार।

(ग) संगठन निर्मित करने का अधिकार।

जो सुविधाएँ पाश्चात्य देशों के नागरिकों को अपने विकास के लिए प्राप्त है, भारत के नागरिकों को भी वे सुविधाएँ अवश्य प्राप्त होनी चाहिए। ये सुविधाएँ स्वतंत्रता के लिए परम आवश्यक है। जिस राष्ट्र के नागरिकों को ये अधिकार प्राप्त नहीं होते वे नागरिक और वह राष्ट्र अपने विकास की कल्पना को साकार होते नहीं देख सकता।

अरविन्द के लिए मैजिनी के आदर्श ही प्रेरणा थे। मैजिनी यह मानता था कि प्रतिभा का विकास स्वतंत्र वातावरण में ही संभव है तथा स्वतंत्रता के लिए त्याग की आवश्यकता है। अरविन्द के अनुसार स्वतंत्रता जीवन को सही दिशा देने के लिए आवश्यक वरदान है। स्वतंत्रता बंधनों से मुक्ति का प्रतीक है। यह उच्चत्तर आदर्शों की प्राप्ति के लिए अवसर भी प्रदान करती है।

3.4.4.5. अरविन्द का लोकतंत्र विरोध

पश्चिमी देशों में विकसित बहुमत-आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था की कमजोरियों से अरविन्द भली-भाँति परिचित थे। वे उसे व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतंत्रता की पहली शर्त वैक्तिक स्वतंत्रता का पोषक नहीं मानते थे। लोकतंत्र में बहुमत की आड़ में जनता के शासन के नाम पर केवल कुछ धनी और समर्थ व्यक्तियों का जन-अधिकारों का हनन करने वाला शासन स्थापित हो जाता है। तथा उसकी स्वतंत्रता और समानता की तथा कथित घोषणाएँ सिर्फ शब्द मात्र रह जाती है। व्यावहारिक दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं रह जाता। इस तरह लोकतांत्रिक व्यवस्था की आड़ में एक शक्तिशाली शोषक वर्ग का शासन स्थापित होने में सफल हो जाता है एवं सर्वसाधारण उनके निहित स्वार्थों की पूर्ति का एक साधन मात्र बनकर रह जाता है। अतः ऐसे प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र को किसी भी रूप में एक सच्चे लोकतांत्रिक शासन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक सच्ची लोकतांत्रिक व्यवस्था उसके अनुसार वही हो सकती है, जो सत्ता के विकेंद्रीकरण पर आधारित हो। उनके अनुसार सत्ता का विकेंद्रीकरण ही लोकतांत्रिक केंद्रीकरण नामक रोग की सच्ची और सही औषधि है जिससे आधुनिक लोकतंत्र को इस रोग से मुक्त किया जा सकता है और उसे स्वस्थ रूप प्रदान किया जा सकता है।

3.4.5. अरविन्द का राजनीतिक दृष्टिकोण और कार्य-विधि

अरविन्द का दृष्टिकोण था कि भारत का लक्ष्य ब्रिटिश अधिपत्य से पूर्ण मुक्ति पाने का होना चाहिए और भारत तत्काल ही मुक्ति अर्थात् स्वाधीनता प्राप्त करने की योग्यता रखता है। सन् 1893 में बड़ौदा रियासत में सेवा प्रारंभ करने के साथ ही अरविन्द ने भारतीय राजनीति में गहरी रूचि लेना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति और रीति भारत को स्वाधीनता के मार्ग पर आगे ले जाने वाली नहीं है। उन्होंने सन् 1893 में आंग्ल-मराठी समाचार-पत्र 'इन्दू प्रकाश' में एक लेखमाला लिखना प्रारंभ किया। बड़ौदा रियासत की सेवा में होने के कारण उनके ये लेख अज्ञात नाम से ही प्रकाशित हुए। उनके इन लेखों के अध्ययन से उनकी राजनीतिक विचारधारा के तीन रूप सामने आते हैं-

3.4.5.1. अरविन्द कांग्रेस के आलोचक के रूप में

सन् 1893 में 'लेखनी' प्रारंभ से लेकर 1910 में राजनीति से सन्यास लेने तक उन्होंने कांग्रेस विशेषतया कांग्रेस की उदारवादी रीति-नीति की कड़ी और निरस्त आलोचना की। इस प्रसंग में उनका दृष्टिकोण लोकमान्य तिलक और अन्य राष्ट्रवादी नेताओं के समान था। उन्होंने कांग्रेस की मुख्यतया चार आधारों पर आलोचना की-

01. कांग्रेस ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लक्ष्य की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं बताई। वह तुच्छ और सारहीन बातों में अपना समय नष्ट करती है और इसलिए अपनी स्थापना के समय से लेकर अबतक केवल कुछ नगण्य प्रशासनिक सुधार ही करवा सकी है। उन्होंने कहा- ''मुझे कांग्रेस के बारे में यह कहना है कि उसके लक्ष्य भ्रांत है, उनकी सिद्धि के लिए वह जिस भावना से काम करती है वह निष्कपट और हार्दिक नहीं है, उसने जो साधन अपनाए हैं वे उपयुक्त साधन नहीं है। जिन नेताओं में उनका विश्वास है वे सुयोग्य नेता नहीं है।
02. अरविन्द ने कांग्रेस के इस विचार की कड़ी आलोचना की कि शनैः-शनैः प्रगति ही राजनीतिक विकास का शाश्वत और सार्वभौम नियम है और भारत में भी इस नियम का सदैव अनुसरण करना होगा। फ्रांस का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि सदियों से पीड़ित निर्धन जनता ने केवल 5 वर्ष की अवधि में तेरह सौ वर्षों के अत्याचारी तंत्र को उखाड़ फेंका।
03. अरविन्द ने आरोप लगाया कि राष्ट्र की अंतरनिहित शक्ति पर विश्वास करने और स्वाभिमान पूर्ण व्यवहार को अपनाने के बजाय कांग्रेस ने छोटी-छोटी माँगों को मनवाने के लिए अंग्रेज शासकों के प्रति चापलूसी के व्यवहार को अपनाया है। कांग्रेस सीधी-सादी बात कहने से हिचकिचाती है और भयभीत रहती है कि शासक रूष्ट न हो जाए।
04. उनका कहना था कि कांग्रेस अत्यंत सीमित आधारवाली मध्यमवर्गीय संगठन बनी हुई है। उन्होंने कांग्रेस नेतृत्व की इस बात के लिए भारी भर्त्सना की कि उन्होंने देश के श्रमिक वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। कांग्रेस ने श्रमजीवी वर्ग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जो कि अज्ञान और भारी निर्धनता के संकट में पड़ा हुआ था। श्रमिक वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ना अरविन्द की दूरदर्शिता का परिचय देती है। वे श्रमजीवी वर्ग का न केवल आर्थिक विकास वरन् उसका आध्यात्मिक विकास कर उसे ब्राह्मण वर्ग की श्रेणी में लाना चाहते थे।

अतः निष्कर्षतः अरविन्द को कांग्रेस और उसके उदारवादी नेतृत्व पर विश्वास नहीं था। उदारवादी नेतृत्व से देश में स्वराज्य की आशा नहीं की जा सकती थी। अपने लेखों के आधार पर उन्होंने अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए देशवासियों का आह्वान किया।

3.4.5.2. अरविन्द अंग्रेजों के आलोचक के रूप में

अपने लेखों के माध्यम से अरविन्द ने अंग्रेजी शासन पर सीधा और प्रबल प्रहार किया। इसमें उसके दो उद्देश्य थे- प्रथम, देश में ब्रिटिश विरोधी भावना को उत्तेजित करना और द्वितीय, इस भ्रांत धारणा को निर्मूल करना कि अंग्रेज देवतुल्य है। अरविन्द ने एतिहासिक विश्लेषण के आधार पर सिद्ध किया कि ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था और जीवन प्रणाली को पश्चिम की सर्वोत्तम देन नहीं माना जा सकता। वे ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था की अपेक्षा फ्रांसीसी राजनीति व्यवस्था को अधिक श्रेष्ठ मानते थे

और उन्होंने कहा कि भारतीयों को अपने राजनीति चिंतन को संपन्न करने के लिए ब्रिटेन की अपेक्षा फ्रांस की ओर देखना चाहिए। हमें पश्चिमी संस्कृति का अनुकरण आँख मूँदकर नहीं करना चाहिए। परंतु वे रूढ़िवादी नहीं थे। पश्चिमी विचार पद्धति के उच्च आदर्शों को अपनाने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।

अरविन्द की रचनाओं में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि अंग्रेजी शासक की नीतियों ने भारत के विकास के अंतः शक्तियों को कुचल दिया। अफसरों पर तीखा व्यंग करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''उनका व्यवहार गुलामों पर हुक्म चलाने वाले जमींदारों जैसा था। वे अशिष्ट और धृष्ट है', उनका शासन दोषों से भरपूर है, उनमें किसी भी प्रकार की उदात्त भावना नहीं है, मुझे तो केवल यह कहना है कि वे बहुत ही साधारण कोटि के मानव हैं, उन्हें अद्वितीय परिस्थितियाँ हाथ लग गई। वे ऐसे मध्यमवर्गीय इन्सान हैं जो संकुचित हृदय और वणिक वृति से परिपूर्ण है।''

उन्होंने अंग्रेजों के दास बनने में गौरव का अनुभव करने वाले भारतीयों का भी उपहास किया। उन्होंने उस 'अंग्रेज बने बाबू' पर भी कटु व्यंग किया, जो ऊँचे पदों पर बैठकर अपने को सर्वशक्तिमान समझता है। उन्होंने कहा कि ऐसे बाबुओं का भविष्य में कोई स्थान नहीं होगा।

3.4.6. सामाजिक सुधार संबंधी दृष्टिकोण

सामाजिक सुधार के संबंध में अरविन्द का दृष्टिकोण तिलक के समान था और उन्होंने स्वामी दयानन्द, राणाडे, गोखले आदि के विपरीत सुधार के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उनका कहना था कि ''वर्तमान परिस्थितियों में स्वराज्य प्राप्ति हमारा प्रथम और सर्वोपरि लक्ष्य होना चाहिए और समस्त साधन तथा शक्ति का प्रयोग इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किया जाना चाहिए। सामाजिक सुधार एवं नैतिक पुनरूत्थान की बात बाद में की जाए अन्यथा लक्ष्य से भटक जाने की संभावनाएँ बढ़ जाएगी।'' उनका विचार था कि भारत को स्वाधीन हो जाने के बाद समाज-सुधार का कार्य अधिक अच्छे प्रकार से किया जा सकेगा। विदेशी शासन के रहते हुए समाज-सुधार की कोई योजना सफल नहीं हो सकती।

3.4.7. अरविन्द का समाजवाद और पूँजीवाद

अरविन्द ने पश्चिमी पूँजीवाद की कटु आलोचन की है तथा उसे एक मानवीय शोषण-आधारित व्यवस्था घोषित किया है। पूँजीवाद की तुलना में उन्होंने समाजवाद का महत्व स्वीकार किया तथा उसे काफी हद तक श्रमिक वर्ग का कल्याण करने वाली व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है। किंतु वे समाजवादी व्यवस्था सन्निहित नौकरशाही की आड़ में राज्य शक्ति के केंद्रीयकरण के पक्ष में नहीं थे। अतः वे समाजवाद के श्रमिक कल्याण का आर्थिक और सामाजिक पक्ष का तो समर्थन करते थे परंतु उसके अधिनायक या सर्वाधिकारवादी पक्ष का समर्थन नहीं करते थे। वे व्यक्ति तथा समाज के सामाजिक तथा राजनीतिक कार्य-कलापों को अलग-अलग करने के पक्षधर थे जबकि समाजवाद में उसके सर्वाधिकारवादी चरित्र के कारण व्यक्ति और समाज की इन गतिविधियों को मिला दिया जाता है। फलस्वरूप उनके मामलों में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ जाता है और जितना वह बढ़ता है उतनी ही उनकी स्वतंत्रता का क्षय होता है। इसके कारण समाजवाद एक लोकतांत्रिक लोक कल्याणकारी व्यवस्था से एक निरंकुश तथा अधिनामकवादी व्यवस्था में परिवर्तित हो जाता है लेकिन फिर भी पूँजीवाद की तुलना में उन्होंने समाजवाद को श्रमिक वर्ग के कल्याण तथा शोषण के उन्मूलन की दृष्टि से एक अच्छी व्यवस्था समझा। उन्होंने समाजवादी व्यवस्था का समर्थन इस आधार पर भी किया कि उसके द्वारा प्रदत्त अवसर

की समानता और सामाजिक सुरक्षा एक सभ्य समाज की प्रथम आवश्यकता है। अतः पूँजीवाद की तुलना में समाजवाद श्रेष्ठ है क्योंकि यह व्यापक सामाजिक सुविधाएँ प्रदान कर श्रमिक को शोषण से मुक्ति ही नहीं दिलाता अपितु उसे अपने नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के साधन भी प्रदान करता है।

अरविन्द समाजवाद के आदर्श को आधारभूत रूप में स्वीकार करते और उसकी प्रशंसा करते हैं। उनका विचार था कि ''समाजवाद का सबके लिए समान अवसर तथा न्यूनतम सामाजिक और आर्थिक सुविधाओं की गारंटी करने का उद्देश्य सामाजिक संगठन का बहुत ही प्रशंसनीय आदर्श है।'' किंतु व्यवहार में समाजवाद का जो रूप देखने को मिलता है, अरविन्द उसके आलोचक थे। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों के प्रसार से नौकरशाही की वृद्धि होती है और उससे अनिवार्यतः सत्तामूलक नियंत्रण और नियमन को प्रोत्साहन मिलता है। समाजवाद के इस प्रकार की आलोचना मैक्स वेबर, लुडविक और फ्रीडरिक हेक आदि विचारकों ने भी की है। तथा अरविन्द भी इन्हीं आधारों पर समाजवाद के व्यवहारिक स्वरूप की आलोचना करते हैं।

साम्यवाद के संबंध में अरविन्द का कहना है कि विश्व में पूर्ण साम्यवाद की कल्पना गलत है। वे साम्यवाद के आधुनिक आदर्श को ''राज्य समाजवाद'' की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार समाजवाद तथा पूँजीवाद दोनों ही व्यवस्थाएँ विश्व में बनी रहेंगी। वे समाजवाद को आध्यात्मिक बंधुत्व का संदेश देकर व्यक्तिवाद एवं साम्यवाद में समन्वय का स्वप्न देखते हैं। आत्मिक बंधुत्व पर आधारित साम्यवाद ही मानव एकता एवं मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

3.4.8. अरविन्द का मानव एकता का आदर्श

प्रथम विश्वयुद्ध ने संप्रभुता संपन्न राष्ट्रों की आपसी शत्रुता के विनाशकारी परिणामों को स्पष्ट कर दिया था। ऐसी स्थिति में दार्शनिकों का ध्यान एक ऐसे विश्व-संघ की धारणा की ओर आकृष्ट हुआ जो संपूर्ण मानव जाति को एक इकाई का रूप प्रदान कर सके। अरविन्द ने अपनी इस धारणा को अपनी रचना ''मानव एकता का आदर्श'' में व्यक्त किया है। उन्होंने मानवीय एकता के आदर्श को प्रकृति की योजना का अंग मानते हुए विश्वास व्यक्त किया कि- ''भविष्य में एक दिन यह स्वप्न अवश्य साकार होगा, भले ही आज वह इतना धुमिल क्यों न दिखाई देता हो। चाहे हम इस बात को स्वीकार करें या न करें, यह तथ्य है कि हम सब एक दूसरे के घटक हैं। एक यांत्रिक तथा बाहरी आवश्यकता हमें एक दूसरे के प्रति इतना आकर्षित करती है कि हम स्वयं को क्रमशः परिवार, कबिले तथा ग्राम जैसे उत्तरोत्तर समूहों में संगठित करने के लिए प्रेरित और बाध्य हो जाते हैं। इतिहास बताता है कि मनुष्य की प्रवृति सदैव उत्तरोत्तर बड़ी इकाइयों का निर्माण करने की रही है। गाँव अपने आप को राज्य में और राज्य अपने आपको साम्राज्य में संगठित करते रहे हैं और यही प्रवृति भविष्य में विश्वसंघ को जन्म देगी।''

अरविन्द संभुतासंपन्न राज्य का विचार अपने आप में अपर्याप्त और अपूर्ण मानते थे। यदि मानव को अपना चरम विकास का लक्ष्य प्राप्त करना है तो हमें राज्य के विचार से ऊपर उठकर इस बात को स्वीकार करना होगा कि संपूर्ण मानव जाति एक इकाई है। इस प्रकार अरविन्द हमारे सामने मानव एकता का एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। जिसकी प्राप्ति हमारे द्वारा तीन स्थितियों में से किसी एक स्थिति के आधार पर की जा सकती है, जिसमें प्रथम विश्व-राज्य का निर्माण द्वितीय, राष्ट्र राज्यों को एक प्रकार के विश्व-संघ में संगठित करने की स्थिति, तृतीय स्थिति के रूप में वे ऐसी संभावना की कल्पना करते हैं कि विश्व में किसी समय एक संयुक्त राज्य यूरोप, एक संयुक्त राज्य अमेरिका, एक संयुक्त राज्य एशिया और

एक संयुक्त राज्य अफ्रिका का निर्माण हो जाए और राज्यों के ये समस्त संघ मिलकर एक 'विश्व परिसंघ' बना ले। अरविन्द मानव जाति के एकीकरण के इन तीन उपायों में से प्रत्येक के गुणों, दोषों तथा संभाव्यता की समीक्षा करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे राष्ट्रीय राज्यों के आधार पर बनने वाले स्वतंत्र विश्वसंघ के विचार को अधिक पसंद करते हैं।

अरविन्द स्वतंत्र विश्वसंघ की धारणा का प्रतिपादन करते हुए यह स्वीकार किया कि आत्मनिर्णय के सिद्धांत पर आधारित इस प्रकार का विश्वसंघ विविधताओं पर आधारित होगा। स्वतंत्र विश्वसंघ या एकीकरण की इस व्यवस्था में व्यक्तियों को अपने क्षेत्र, जाति, संस्कृति और आर्थिक सुविधा आदि के अनुसार अपने-अपने समूह बनाने का अधिकार होगा, लेकिन ये स्वतंत्र समूह निजी स्वार्थ की पूर्ति में लिप्त न होकर संपूर्ण मानवजाति के हितों को ध्यान में रखते हुए कार्य करेंगे। अरविन्द का विश्वास था कि यदि स्वतंत्र और स्वभाविक समूहों के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो हम आदर्श एकीकरण के उस व्यवस्था को प्राप्त कर सकेंगे, जिसमें आंतरिक संघर्ष और कलह का कोई स्थान नहीं रहेगा। ऐसी व्यवस्था में मानवीय संबंध मानवीय आधार पर पुष्ट होंगे और आज के कलह तथा कटुता का वातावरण समाप्त हो जाएगा। अरविन्द के इस विश्वसंघ का एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण तत्व मनोवैज्ञानिक एकता है और वे मानते हैं कि मनोवैज्ञानिक एकता के आधार पर ही मानव जाति का आदर्श एकीकरण संभव है।

अरविन्द ने स्वतंत्र विश्वसंघ के आदर्श का प्रतिपादन करते हुए इसकी स्थापना के मार्ग में आने वाली बाधाओं को व्यक्त किया। मानव तर्कहीनता और मुर्खतापूर्ण स्वार्थपरता जिनका साकार रूप हमें संप्रभुतासंपन्न राष्ट्र राज्यों की क्रियाओं में देखने को मिलता है, इस महान आदर्श की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है। उन्होंने राष्ट्र राज्य की इस अतिवादी धारणा को 'सामूहिक अहंवाद' की संज्ञा दी और कहा कि यदि हमें विश्वसंघ की स्थापना करनी है तो इस सामूहिक अहंवाद की धारणा में संशोधन करना होगा और मानवता का आध्यात्मिक धर्म अपनाना होगा। एकबार यदि मानव जाति में आध्यात्मिक एकता की अनुभूति पैदा हो गई तो एक ऐसी प्रबल मनोवैज्ञानिक एकता का उदय होगा जो मानव जाति के आदर्श एकीकरण को पूरा कर सकेगी। इस प्रकार अरविन्द विश्वशांति की स्थापना में आध्यात्मिक एकता या मनोवैज्ञानिक एकता को सबसे अधिक महत्व देते हैं। स्वतंत्र विश्व की स्थापना का एकमात्र यही उपाय है कि हम मनुष्य तथा विश्व के तत्वतः आध्यात्मिक स्वरूप में मानव एकता का रहस्य खोज लें।

अरविन्द का यह 'मानव एकता का आदर्श' आज की परिस्थितियों में पहले की तुलना में भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यदि हम राष्ट्र राज्य की अतिवादी धारणा पर आगे बढ़ते रहें तो निःसंदेह हमसब अपने लिए विनाश को आमंत्रित करेंगे। अरविन्द का 'मानव एकता का आदर्श' मानव जाति को विनाश के गर्त से बचाने का स्थायी और प्रभावशाली साधन है।

3.4.9. अरविन्द की अतिमानव की अवधारणा

अरविन्द का विचार था कि अबतक का जो मानव विकास हुआ है, उससे समाज में सामाजिक और राजनीतिक सुव्यवस्था होने के स्थान पर एक अराजक व्यवस्था की स्थापना हुई है, जिसका समाधान विश्व के किसी भी व्यक्तिवादी या समष्टिवादी विचारधारा के पास नहीं है। उनके अनुसार इस अराजक स्थिति का अंत इन दोनों प्रकार की विचारधाराओं में अध्यात्म के आधार पर समन्वयकारी विचारधारा से ही संभव है। यह समन्वयकारी आध्यात्मिक विचारधारा मनुष्य के चरित्र में गुणात्मक

परिवर्तन करके उसे मानव से अतिमानव में परिवर्तित कर देगी। यह अतिमानव सर्वोच्च मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति और विकास का मूर्तरूप होगा। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपना विकास इस रूप से करे जिसे वह स्वयं को मानव से 'अतिमानव' के रूप में परिवर्तित कर सके। इस प्रकार अतिमानव के रूप में प्राणियों की एक नई प्रजाति उत्पन्न होगी, जो वर्तमान में मनुष्य प्रजाति से उतनी ही दूर होगी जितनी वर्तमान में मनुष्य प्रजाति पशुओं से है। अतिमानव के रूप में मनुष्य ऐसा आध्यात्मिक ईश्वरीय रूपांतरण ही मनुष्य समाज को उसकी वर्तमान व्याधियों और संकटों से मुक्ति प्रदान करने में समर्थ सिद्ध हो सकता है।

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अतिमानव का यह विचार उनका कोई मौलिक विचार नहीं है। उनके पूर्व जर्मन दार्शनिक नीत्से द्वारा इसका प्रतिपादन किया जा चुका था। लेकिन नीत्से के अतिमानव और अरविन्द के अतिमानव के विचार में मौलिक अंतर है। नीत्से का अतिमानव आक्रामक शक्ति संपन्न तथा अति बौद्धिक प्राणी है, जबकि अरविन्द का अतिमानव ऐसा रूपांतरित व्यक्ति है जो अपने जीवन में उच्चतर दिव्य गुणों तथा आनंद की अनुभूति करता है। डा. वी. पी. वर्मा के शब्दों में- ''यद्यपि अरविन्द ने अतिमानव शब्द नीत्से से ग्रहण किया है लेकिन उसे उन्होंने आध्यात्मिक तथा वेदांती अर्थ प्रदान कर दिया है। जिस प्रकार नीत्से ने मूल्यों की चेतना तथा वृद्धि पर बल दिया। उनका कथन था कि सामाजिक और राजनीतिक कलह, संघर्ष, अंतर्विरोध तथा टकराव तभी समाप्त हो सकते हैं जब आत्मा में एकात्म की चेतना जागृत हो, ऐसी चेतना पारस्परिक सहयोग, सामंजस्य तथा एकता का संवर्धन करेगी, जो वर्तमान में उत्पन्न व्यक्ति और समष्टि के मध्य समन्वय की जो समस्या है, उसका उचित समाधान करने का एक समर्थ साधन सिद्ध होगी।''

अरविन्द की यह 'अतिमानव' की कल्पना सिर्फ एक मानव तक सीमित नहीं है। इस दृष्टि से उनकी यह मान्यता है कि 'यह उत्पत्ति हो सकता है पहले किसी एक समाज या समुदाय में हो तथा बाद में वह विस्तृत होती हुई संपूर्ण जाति को अपने प्रभाव में ले ले। फलतः संपूर्ण मानव जाति अतिमानवों की एक जाति हो जाए और वह आध्यात्मिक आधार पर संपूर्ण समाज का कायाकल्प कर दे और उसे वह आदर्श रूप प्रदान कर दे जो उसे अपने वर्तमान की संपूर्ण व्याधियों और अभावों से मुक्त कर ईश्वरीय पूर्णता से संपन्न कर दे। ऐसा 'अतिमानवता' पर आधारित समाज ही अरविन्द का आदर्श समाज है जिसके इर्द-गिर्द उनके संपूर्ण दर्शन का ताना-बाना बुना हुआ है।

3.4.10. अरविन्द का योगदान

अरविन्द न केवल 20 वीं सदी के भारत वरन् 20 वीं सदी के विश्व के महानतम व्यक्तियों में से एक थे। उनका भारतीय राष्ट्र के निर्माताओं में उच्च स्थान है। वे एक उच्चकोटि के बौद्धिक दार्शनिक, महान योगी, संत और मानवता के महान प्रेमी थे। उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद तथा स्वतंत्रता का दर्शन यद्यपि भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित था लेकिन उसका संदर्भ संपूर्ण विश्व था। विश्वव्यापी स्वरूप होने के कारण ही उनका प्रभाव न सिर्फ भारत पर वरन् संपूर्ण विश्व पर पड़ा। भारत के माध्यम से विश्व का आध्यात्मिकरण उनका प्रमुख लक्ष्य था, इस दृष्टि से अरविन्द के योगदान की चर्चा करते हुए डा. कर्ण सिंह ने कहा है कि ''राष्ट्रीय आन्दोलन को गूढ़ और आध्यात्मिक महत्व देने, उसके सम्मुख पूर्ण स्वराज्य का प्रेरणास्पद आदर्श प्रस्तुत करने, स्वतंत्रता के आदर्श की प्राप्ति हेतु एक अध्यात्मवादी राजनीतिक योजना तैयार करने तथा उसे प्राप्त करते हुए संपूर्ण आन्दोलन को अंतरराष्ट्रीय एवं मानव

एकता के आदर्श के मनुष्य प्रसंग के रूप में प्रस्तुत करने का सर्वाधिक श्रेय श्री अरविन्द को है।'' वे महान योगी, ऋषि तथा मानव जाति से प्रेम करने वाले थे। उनकी दार्शनिक प्रज्ञा उद्भट थी। डा. वी. पी. वर्मा के अनुसार, ''अरविन्द का तत्वशास्त्र, उनका इतिहास तथा सांस्कृतिक दर्शन उनकी राष्ट्रवाद, स्वतंत्रता तथा आध्यात्मिक समष्टिवाद की धारणाएँ पूरब तथा पश्चिम के विचारों का समन्वय है। उन्होंने बार-बार आत्मा की शक्तियों का उल्लेख किया और बताया कि उन्हीं के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक अथवा तात्विक स्तर पर स्थायी समन्वय किया जा सकता है।''

श्री अरविन्द की पावन स्मृति और उनके द्वारा दिए गए योग आधारित आध्यात्मिक योगदान का मूर्त रूप है जो आज भी जन-जन की प्रेरणा का श्रोत सिद्ध हो रहा है। भारतीय आध्यात्मिक स्मृति को ही नहीं, विश्व की अध्यात्मिक संस्कृति को भी श्री अरविन्द का यह एक अति महत्वपूर्ण योगदान है जो उनकी स्मृति को ही अविस्मरणीय नहीं बना रहा है वरन् अपने ढंग से विश्व मानवता के एक्य-भाव को भी समृद्ध और सशक्त कर रहा है। श्री अरविन्द किसी निराशा या पलायन के भाव से राजनीति से नहीं हटे थे। इस विषय में वे स्वयं लिखते हैं कि ''मैं इसलिए अलग आया क्योंकि मैं किसी भी वस्तु को अपने योग के मार्ग में बाधक नहीं होने देना चाहता था और क्योंकि मुझे इस संबंध में बहुत स्पष्ट आदेश मिला था। मैंने राजनीति से पूर्णतया संबंध विच्छेद कर लिया है, परंतु ऐसा करने से पूर्व मैं अपने मन में यह बात जानना चाहता था कि जिस कार्य को मैंने वहाँ प्रारंभ किया था उसे मेरे द्वारा प्रत्याशित दिशा में दूसरे लोग आगे बढ़ाएँगे और यह है कि जिस आन्दोलन का मैंने सुत्रपात किया था, उसकी अंतिम विजय मेरे व्यक्तिगत कर्म अथवा उपस्थिति के बिना ही निश्चित थी। मेरी निवृति के पीछे तनिक सा भी नैराश्य भाव न था।''

सच तो यह है कि ''श्री अरविन्द वर्तमान भारत के बड़े निर्माताओं में गिने जा सकते हैं, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतंत्र्य के उस प्रसाद की नींव डालने में उन्होंने महान योग दिया, जिसे महात्मा गांधी या अन्य नेताओं ने बाद में निर्मित किया। अरविन्द की इस धारणा का महत्व इस दृष्टि से भी है कि जहाँ-जहाँ भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य नेताओं और पाश्चात्य विचारकों ने राष्ट्रवाद का प्रतिपादन एक राजनीतिक धारणा के रूप में किया, वहीं अरविन्द ने राष्ट्रवाद का प्रतिपादन एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा के रूप में किया। इस प्रकार राष्ट्रवादी नेता तथा बंगाल के स्वदेशी आंदोलन के संदेशवाहक के रूप में उन्होंने उदात्त देशभक्ति का उपदेश दिया।

3.4.11. निष्कर्ष

उनके इसी योगदान के कारण प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान रोमा रोलां ने उन्हें भारतीय चिंतकों में सबसे अग्रगण्य घोषित करते हुए उन्हें पुरब तथा पश्चिम की आत्माओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण समन्वय स्थापित करने वाला बताया है। स्टेंडफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर स्पीजलबर्ग तो अरविन्द के महत्व को दर्शाने के लिए और आगे बढ़कर कहते हैं कि ''हमारे सम्मुख प्लेटो, अरस्तु, काण्ट, हीगल, स्पिनोजा आदि दार्शनिक आते हैं किंतु उनमें से किसी एक की भी दार्शनिक प्रणाली उतनी सर्वांगीण नहीं है जैसी कि श्री अरविन्द की है।'' श्री अरविन्द के अद्वितीय चिंतक होने का मुख्य कारण यह है कि उनमें दार्शनिक तथा योगी दोनों के ही गुण पाए जाते हैं। वे प्राचीन भारत की ऋषि परंपरा के एक सशक्त हस्ताक्षर थे जिनका चिंतन भारतीय होते हुए भी संपूर्ण विश्व के कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित था। अतः यह

मानना पड़ेगा कि अरविन्द ने पूर्व तथा पश्चिम के राजनीतिक विचारों को समन्वित करने का रमणीक प्रयत्न किया।

देश की स्वाधीनता उनके लिए सर्वोपरि लक्ष्य था और वे एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ थे। अतः उन्होंने इस बात का प्रतिपादन किया कि संभव और आवश्यक होने पर स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए बल प्रयोग का मार्ग अपनाया जा सकता है। उन्होंने मातृभूमि के दैवी स्वरूप को प्रस्तुत किया और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की धारणा का प्रतिपादन कर राष्ट्रवाद में अतुलनीय जीवन का संचार कर दिया। उनकी दृष्टि भारत राष्ट्र और स्वाधीनता तक सीमित नहीं रही। इससे आगे बढ़कर उन्होंने 'मानव एकता के आदर्श' का प्रतिपादन किया। अरविन्द के विचार और दर्शन तथा भारत एवं विश्व कल्याण में उसकी भूमिका अविस्मरणीय है। इसीलिए वेलन्टाइन शिरोल उनके संबंध में लिखते हैं कि ''वे भारतीय असंतोष के परिणामस्वरूप उत्पन्न एक अत्यधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व थे। धार्मिक पुनर्जागरण के उच्च पूजारी थे, जिन्होंने बंगाल के भावुक नवयुवकों पर बहुत अधिक प्रभाव प्राप्त कर लिया था।'' अतः विवेकानन्द तथा सुभाषचन्द्र बोस के साथ-साथ उन्हें पुनर्जाग्रत बंगाल की उत्साहपूर्ण तथा आशावादी भावना से उत्प्रेरित करने वाला कहा जा सकता है। निःसंदेह उन्होंने अराजकता के भयावह वातावरण में धर्म का स्फूर्तिदायी प्रभाव फूँकने के लिए अन्य किसी भी व्यक्ति से अधिक कार्य किया।

3.4.12. पारिभाषिक शब्दावली

(क) संप्रभुतासंपन्न - सर्वोच्च सत्ता
(ख) अतिवाद - विचार पर अत्यधिक बल
(ग) संवर्धन - वृद्धि करना
(घ) अग्रदूत - आगे चलने वाला
(ङ) सार्वभौमिक - प्रभुत्व संपन्न
(च) आनुभूति - अनुभव

3.4.13. अभ्यास प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न

(1) अरविन्दघोष का जन्म कब हुआ था?
(क) 15 अगस्त, 1873 (ख) 15 अगस्त, 1874
(ग) 16 जूलाई, 1897(घ) 16 जूलाई, 1898

(2) निम्नलिखित में से किसने अरविन्द को 'एशिया तथा यूरोप की प्रतिभा का समन्वय' कहा है?
(क) रवन्द्रिनाथ टैगोर (ख) रोमा रोलां
(ग) महात्मा गांधी (घ) एम. एन. राय

(3) समाजिक सुधारों के संबंध में अरविन्द का दृष्टिकोण निम्न में से किसके समीप था?
(क) महादेव गोविन्द राणाडे (ख) बाल गंगाधर तिलक
(ग) गोपाल कृष्ण गोखले (घ) स्वामी दयानन्द

(4) I.C.S. परीक्षा अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होने के बावजूद अरविन्द को अयोग्य घोषित कर दिया गया क्योंकि-

(क) वे भारतीय थे (ख) घुड़सवारी में असफल हो गए
(ग) अच्छे तैराक नहीं थे (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

(5) निम्नलिखित में से कौन-सी पुस्तक अरविन्द की नहीं है?
(क) इण्डिया इन ट्रांजीशन (ख) लाइफ डिवाइन
(ग) ऐसे ऑन गीत (घ) आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी

(6) अरविन्द किसे समान भारत के आर्थिक साधनों पर साम्राज्यवादी दबाब की बात करते थे?
(क) वी. सी. पॉल (ख) एम. जी. रानाडे
(ग) दादा भाई नौरोजी(घ) जे. एल. नेहरू

(7) बी. सी. पॉल द्वारा वन्देमातरम् नाम से निकाले गए दैनिक के संपादक कौन थे?
(क) एम. एन. राय (घ) राम मनोहर लोहिया
(ग) अरविन्द घोष (घ) डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

1.क, 2.ख, 3.ख, 4.ख, 5.क, 6.ग, 7.ग

लघु उत्तरीय प्रश्नः-

(1) अरविन्द की दो प्रमुख रचनाओं का नाम लिखिए।
(2) अरविन्द ने राष्ट्रवाद को कौन-सा विशेष नाम दिया?
(3) अरविन्द राज्य को किस प्रकार की संस्था मानते थे?
(4) निष्क्रिय प्रतिरोध का आशय बतलाइए।
(5) इंगलैंड में रहते हुए अरविन्द ने किन संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त की?
(6) डा. कर्ण सिंह ने अरविन्द घोष पर किस पुस्तक की रचना की?

निबंधात्मक प्रश्न

(1) श्री अरविन्द के राजनीतिक दर्शन की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
(2) अरविन्द घोष के राष्ट्रवाद के सिद्धांत की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
(3) आध्यात्मिक राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
(4) अरविन्द के राजनीतिक दृष्टिकोण और कार्यविधि की विवेचना कीजिए।
(5) निष्क्रिय प्रतिरोध के संबंध में श्री अरविन्द के विचार स्पष्ट कीजिए।
(6) अरविन्द द्वारा प्रतिपादित 'मानवीय एकता के आदर्श' की विवेचना कीजिए।

3.4.14. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. फाड़िया डा0 बी0 एल0, 2008, राजनीतिक चिन्तन भारतीय एवं पाश्चात्य, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ट संख्या-155-168.
2. वर्मा डा0 वी0 पी0, 1983, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रशासक, आगरा, पृष्ट संख्या 327-339.
3. जैन डा0 पुखराज एवं मेहता प्रो0 जीवन, 2008, राजनीति विज्ञान एस0 बी0 वी0 डी0 पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ट संख्या- 126-137.
4. नागर डा0 पुरूषोत्तम्, 1984, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तक।

5. सूद प्रो0 ज्योति प्रसाद, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएँ, जय प्रकाश नाथ ;छ5द्ध दृ कम्पनी, मेरठ।
6. देव आचार्य नरेन्द्र, राष्ट्रीयता और समालवाद, 1946 पद्मा पब्लिकेशन, मुम्बई।

इकाई-5 : रवीन्द्रनाथ टैगोर

इकाई की रूपरेखा

3.5.1. उद्देश्य
3.5.2. जीवन परिचय
3.5.3. टैगोर के राजनीतिक चिंतन का दार्शनिक आधार
3.5.4. टैगोर का अध्यात्मिक मानववाद
3.5.5. टैगोर का आत्म-स्वातंत्र्यवाद तथा आध्यात्मिक पूर्णता का सिद्धांत
3.5.6. टैगोर का ऐतिहासिक दर्शन
3.5.6.1. इतिहास की सामाजिक व्याख्या
3.5.6.2. भारतीय इतिहास का दर्शन
3.5.6.3. प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यता का दर्शन
3.5.7. टैगोर के राजनीतिक चिंतन का समाजशास्त्रीय आधार
3.5.8. टैगोर के राजनीतिक विचार
3.5.8.1. अधिकारों का सिद्धांत
3.5.8.2. स्वतंत्रता का सिद्धांत
3.5.8.3. राष्ट्रवाद की समालोचना
3.5.8.4. सोवियत साम्यवाद पर टैगोर के विचार
3.5.8.5. इटालियन फासीवाद को अस्वीकृत करना
3.5.8.6. अंतरराष्ट्रवाद
3.5.9. रवीन्द्रनाथ तथा गांधी
3.5.10. योगदान
3.5.11. मूल्यांकन
3.5.12. पारिभाषिक शब्दावली
3.5.13. बोध प्रश्न
3.5.14. संदर्भ-ग्रंथ सूची

3.5.1. उद्देश्य

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर के संबंध में जान सकेंगे।
2. टैगोर के राजनीतिक चिंतन के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार के बारे में जान सकेंगे।
3. टैगोर के अध्यात्मिक मानववाद को समझ सकेंगे।
4. टैगोर के आत्म-स्वातंत्र्यवाद तथा आध्यात्मिक पूर्णता के सिद्धांत को समझ सकेंगे।
5. भारतीय इतिहास एवं प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यता का दर्शन समझ सकेंगे।
6. टैगोर के राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे।
7. टैगोर के स्वतंत्रता एवं अधिकारों के सिद्धांत को जान सकेंगे।
8. टैगोर का सोवियत साम्यवाद, फासीवाद एवं अंतरराष्ट्रवाद पर विचार जान सकेंगे।

9. टैगोर एवं गांधी के विचारों की समानता को समझ सकेंगे।

3.5.2. जीवन परिचय

रवीन्द्रनाथ भारतीय पुनर्जागरण और स्वतंत्रता के कवि थे। साथ ही वे दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री, देशभक्त, मानवतावादी तथा अंतरराष्ट्रवादी थे। वे भारत की आत्मा के अधिवक्ता थे। उन्होंने आधुनिक भारत के आदर्शों, इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा लालसाओं से स्पष्टता प्रदान किया। उन्हें भारत के अतीत पर गर्व था। उन्होंने विख्यात राष्ट्रगान 'जन गण मन' की रचना की थी। उन्होंने बंग माता को 'ईश्वरीय अनुकंपा का अवतार' मानकर अभिनंदित किया। जहाँ विवेकानन्द अमेरिका के लिए भारत के दार्शनिक संदेशवाहक थे, वहाँ टैगोर बाहरी जगत में उसके संदेश को पहुँचाने वाले संवेगात्मक तथा काव्यात्मक साधन सिद्ध हुए। उनकी रचनाओं ने न केवल बंगाल और भारत के साहित्य को, बल्कि विश्वसाहित्य को समृद्ध बनाया है। उन्हें विश्व-गायक माना जाता है।

टैगोर को सांस्कृतिक समन्वय तथा अंतरराष्ट्रीय एकता में विश्वास था। वे आक्रामक राष्ट्रभक्ति की भर्त्सना किया करते थे। लेकिन वे भारतीय राष्ट्रवाद के एक बौद्धिक नेता भी थे। बंकिमचन्द्र के बाद उन्होंने बंगाल के साहित्यिक पुनर्जागरण आंदोलन को बल दिया। उनके गीतों तथा संदेशों ने सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी। इसीलिए स्वतंत्रता के राजनीतिक युद्ध में भाग नहीं लेने के बाबजूद उन्हें भारतीय स्वतंत्रता के एक ऋषि के रूप में माना जाता था। रवीन्द्रनाथ आधुनिक एशिया की एक अग्रणी विभूति थे। पश्चिम में वे भारत के एक प्रमुख राष्ट्रीय नेता माने जाते थे। शिक्षा के क्षेत्र में उनके प्रयोगों से आकृष्ट होकर यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान उनकी विश्वभारती में आ गए। इस प्रकार वे आधुनिक भारत के एक महान सांस्कृतिक नेता का महत्व और पद प्राप्त कर लिया।

3.5.3. टैगोर के राजनीतिक चिंतन का दार्शनिक आधार

रवीन्द्रनाथ माण्डूक्य उपनिषद् के 'सत्यम् शिवम् और अद्वैतम्' की धारणा के अनुयायी थे। वे एकेश्वरवादी भी थे, लेकिन उनमें एकेश्वरवादियों जैसी कट्टरता नहीं थी। कुछ अंशों में वे सौंदर्यात्मक अखंडात्मक एकत्ववादी थे और उन्हें परमात्मा की उच्चतम सृजनशीलता में विश्वास था। उन्होंने कभी-कभी ईश्वर को संपूर्ण विश्व का सृजनहार माना है, किंतु साथ ही साथ उन्हें नैतिक पुरूष के रूप में आत्मा की सत्ता में भी विश्वास है। टैगोर पृथ्वी पर दैवी प्रेम के संदेशवाहक थे। 'गीतांजलि' में उन्होंने ईश्वरीय प्रेम का गुणगान किया है। उनके अनुसार प्रेम न तो परिज्ञान का विरोधी है और न उसके बाहर है। वह तो चेतना की उच्चतम अवस्था है। यदि हम प्रेम की सर्वोपरिता को स्वीकार कर लें तो आत्मा की संपूर्ण व्यथा का शमन हो जाएगा।

टैगोर का विश्वास था कि ब्रह्मांड की प्रक्रिया दैवी सत्ता से व्याप्त है। विश्व परमात्मा की लीला है। इस प्रकार टैगोर ने विश्व तथा जीवन की स्वीकृति के दर्शन को अंगीकार किया, क्योंकि ईश्वरीय लीला से बच निकलने का कोई नैतिक औचित्य नहीं है। वे सार्वभौम सामंजस्य के कवि थे। उनका दैवी सामंजस्य में विश्वास था। उनका अभिप्राय यह था कि यदि मनुष्य को इस बात की अनुभूति हो जाय कि विश्व में एक उच्च सामंजस्यकारी शक्ति है तो अंतर्विरोधों से उत्पन्न कटुता, कलह तथा कर्कशता का शमन हो सकता है। वे सामंजस्य को व्यक्तित्व का सार मानते थे। वे मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भी

सामंजस्य के समर्थक थे। उनका कहना था कि सामंजस्य से ही मनुष्य को निष्क्रियता, हृदयहीनता, निराशा तथा दुःखवाद से मुक्ति मिलती है।

दयानन्द तथा गांधी की भाँति टैगोर का विश्वास था कि विश्व में नैतिक शासन के सर्वव्यापी ब्रह्मांडीय नियम हैं। इसलिए उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि संसार की तुच्छ से तुच्छ वस्तु अथवा प्राणी को चोट पहुँचाना ईश्वर की कल्याणकारी अनुकंपा के विरुद्ध अपराध है। वे इंद्रियानुभूति के बजाय अंतःप्रज्ञा को नैतिकता का आधार मानते थे। उनके अनुसार कोरा तर्कपूर्ण मन उस चाकू के समान है जिसमें केवल फलक ही फलक है। वह प्रयोग करने वाले हाथ को लहूलुहान कर देता है।

3.5.4. टैगोर का आध्यात्मिक मानववाद

टैगोर मानववादी थे क्योंकि वे प्रेम, साहचर्य तथा सहयोग के संदेशवाहक थे। उन्होंने संगठित मानव को एकता तथा सामंजस्य का संदेश दिया। उनके मानववाद का पोषण आध्यात्मिकता की जड़ों में हुआ था। उनका मत था कि परम पुरुष यानी अंतर्यामी मानव व्यक्तित्व में निवास करता है। व्यक्तिगत मनुष्य सर्जनशील परमात्मा के प्रतिरूप हैं। मनुष्य ईश्वर का अद्भुत प्रतिरूपण मात्र है। मनुष्य का शरीर ईश्वर के सृजनात्मक परीक्षणों की प्रयोगशाला है। ईश्वर की आराधना तीर्थ स्थानों के मंदिरों में ही नहीं होती बल्कि भूमि जोतकर तथा पत्थर तोड़कर भी परमात्मा की पूजा की जा सकती है। परमात्मा मनुष्य तथा बाह्य वस्तु-जगत दोनों के माध्यम से अपनी अनंत सर्जनशीलता को व्यक्त करता है। किंतु मनुष्य की आत्मा बाह्य जगत की वस्तुओं की तुलना में गुणात्मक दृष्टि से उच्चतर अभिव्यक्ति है। इसीलिए टैगोर मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाना चाहते थे। उनका मत था कि मनुष्य के असीम व्यक्तित्व में विश्व समाविष्ट है। शासन तथा संगठित शक्ति के अन्य केंद्रों ने मनुष्य की आत्मा को बहुत काल से कुचल रखा है, जिसे आनंद तथा सौंदर्य की अनुभूति के द्वारा मुक्त करना है। टैगोर मानव आत्मा की स्वतंत्रता चाहते थे, जो बौद्धिक तथा नैतिक प्रदीपन पर निर्भर होती है।

टैगोर का सत्य के संबंध में भी मानववादी दृष्टिकोण था। वे मनुष्य को सर्वशक्तिमान परमात्मा की सृजनात्मक प्रक्रिया की परिणति मानते थे, क्योंकि उनके मतानुसार मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति का मूल आध्यात्मिक है और अतिरिक्त शक्ति ही उसके व्यक्तित्व का सार है। ईश्वर मनुष्य के दीपकों को अपने तारों से अधिक प्यार करता है। टैगोर का कथन है कि सत्य, जिसका सार्वभौम सत्ता के साथ एकात्म्य है, तत्वतः मानवीय होना चाहिए। मानवता की आत्मा में अनंत की अभिव्यक्ति ही सबसे बड़ा सत्य है। टैगोर की मानव संबंधी धारणा तथा अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अति मानव की धारणा के बीच कुछ अंतर है। टैगोर अनुभवग्राह्य मानव मूल्यों को अधिक महत्व देते हैं। यद्यपि वे ब्रह्मांडीय सौंदर्य तथा आध्यात्मिक एकता के संदेशवाहक हैं, तथापि उनके मूल्यों में प्रेम, सामंजस्य और शांति का उच्च स्थान है। जबकि अरविन्द का मत है कि मनुष्य को मानव मूल्यों से भी परे पहुँचकर दैवी मूल्यों का साक्षात्कार करना चाहिए। टैगोर के मानवतावाद में अनुभवगम्य तथा स्थूल तत्वों पर अधिक बल है। वे सार्वभौम मानव के संदेश वाहक हैं। उनका कथन है कि मनुष्य का बहुकोशिकायुक्त शरीर नाशवान है, किंतु बहुव्यक्तित्वपूर्ण मानवता अमर है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के संबंध में टैगोर की धारणा आध्यात्मिक है। व्यक्तित्व भौतिक तथा मानसिक शक्तियों का पुंज मात्र नहीं है, वह उससे भी परे की वस्तु है। वह एकता का आध्यात्मिक सिद्धांत है। उसकी प्रकृति मुख्यतः संवेगात्मक तथा निर्णयात्मक है, न कि बोधात्मक। जानना व्यक्तित्व का मुख्य

गुण नहीं है, बल्कि उसके मुख्य गुण हैं संवेग तथा निर्णय अथवा संकल्प की शक्ति व्यक्तिगत मानव प्राणी सारभूत सत्ता है और वे अपनी दैवी सृजनात्मकता को व्यक्त करना चाहते हैं। राजनीतिक सत्ता के दैवत्व का सिद्धांत मिथ्या तथा मूर्खतापूर्ण है। राजनीतिक सत्ता में उद्दाम लिप्सा है, साम्राज्यवाद में मायावरण है, कठोर नियमन के बिना राजनीतिक यंत्र व्यवस्थित नहीं रहता और जुगुप्सा, विद्वेष, क्रोध, छद्म आदि राजनीति के हथकंडे हैं। इसीलिए रवीन्द्रनाथ टैगोर कल्पनाप्रवण मानस राजनीतिक सत्ता का गायक बनना कदापि स्वीकार नहीं किया। एकांगी मनुष्य के स्थान पर 'विश्व-में-पुरुष' का मंतव्य उनका अभीष्ट था। प्रेम की पूर्णता से ही यह कल्पना साकार हो सकती है। इस प्रकार का व्यापक प्रेम ज्ञान का उत्प्रेरक है। यही विश्वात्मदर्शन है जो समुदायनिष्ठा और राष्ट्रानुरक्ति से ऊपर उठाकर उर्ध्वमुखी आनंद की व्याप्ति का बोध कराता है।

टैगोर मनुष्य के अंतःकरण की पवित्रता को स्वीकार करते हैं। वे नैतिक अंतःप्रज्ञावादी थे। उनके अनुसार मानव अंतःकरण नैतिक कार्य का आदर्श तथा कसौटी प्रस्तुत करता है। हमारे अनुभवों की तात्कालिक तथा निश्चित वास्तविकता अनंत सत्ता की वास्तविकता का प्रमाण है। रवीन्द्रनाथ पर ब्रह्म समाज के प्रत्यक्षवाद का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसीलिए उन्होंने सामाजिक कर्तव्यों की प्राथमिकता पर बल दिया। वे दार्शनिक चिंतन, भक्तिपूर्ण आराधना तथा रचनात्मक कर्म-इन तीनों का समन्वय करना चाहते थे। उनका कहना था कि जो व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्य तथा दायित्व की अवहेलना करके शुद्ध जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करना चाहता है वह सामाजिक साहचर्य तथा एकता के आदर्शों के साथ विश्वासघात करता है। त्याग तथा कट्टर शुद्धाचारिता विरोधमूलक आंदोलन हैं, उन्हें सामान्य जीवन का आदर्श नहीं माना जा सकता। इसीलिए उन्होंने सामाजिक पारस्परिक सहयोग को विशेष महत्व दिया, अतः सहानुभूति का प्रसार ही तात्विक वस्तु है।

3.5.5. टैगोर का आत्म-स्वातंत्र्यवाद तथा आध्यात्मिक पूर्णता का सिद्धांत

मुख्यतः रवीन्द्रनाथ टैगोर साहित्यस्रष्टा थे। वे कपिल, कणाद, प्लेटो, हेगेल, बर्गसां की तरह दार्शनिक नहीं थे। जिस प्रकार सत्ताशास्त्र, ज्ञानशास्त्र, तर्कशास्त्र अथवा अध्यात्म विषय पर एक सुसंगठित, संबद्ध विचारधारा उच्च कोटि के दार्शनिकों ने दिया है, उस प्रकार की कोई तत्वज्ञानात्मक विचारधारा रवीन्द्रनाथ ने नहीं दिया है। तथापि दो अर्थों में उनके दार्शनिक तत्व प्राप्त होता है- प्रथमतः मानव-जीवन के प्रति एक जबर्दस्त कुतूहल और उसके रहस्योद्घाटन का एक महान प्रयास उनके ग्रंथों में पाते हैं। जहाँ तक जीवन-दर्शन का प्रश्न है रवीन्द्रनाथ की कृतियों में उसकी अवश्य प्राप्ति होती है। दूसरा, उन्होंने तत्वज्ञान का कोई दीर्घकाय, विशाल, गहन और विकट ग्रंथ नहीं दिया है, फिर भी दर्शन के क्षेत्र में उनकी कुछ कृतियाँ अवश्य हैं। उनके ग्रंथ 'राष्ट्रवाद' में उनका इतिहास-दर्शन तथा राज्य-दर्शन अंशतः प्राप्त होता है।

रवीन्द्रनाथ का मस्तिष्क समन्वयवादी था। वे उपनिषद् के आध्यात्मिक एकत्ववादी विचारधारा से प्रारंभ से ही प्रभावित थे। उन्हें पिता से विरासत के रूप में उपनिषद्प्रोक्त ब्रह्म के प्रति अनुराग प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त कबीर के रहस्यवाद और वैष्णव धर्म के भक्तिवाद का उन पर प्रभाव था। साथ ही उन पर पश्चिमी ज्ञानधारा का भी प्रभाव था। परंतु पश्चिमी साहित्य और बाइबिल का अध्ययन करने के बाद भी वे हमें भारतीय ऋषि-परंपरा, कवि-परंपरा का ही स्मरण कराते हैं। टैगोर समन्वयवादी होते हुए भी प्राच्य का वैशिष्ट्य स्वीकार करते हैं। टैगोर को सर्वत्र ही चिन्मयपूर्णता का भास होता है, यही पूर्णता ही उनके

दर्शन का केंद्र है। इसके लिए वे तार्किक युक्ति का उपयोग नहीं करते बल्कि हृदय की अनुभूति को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं। सर्वत्र उनको पूर्णतत्व के प्राणस्पंदन का दर्शन होता है। उनके अनुसार वाह्य जगत में भी आत्मा का दर्शन करना प्राच्य संस्कृति की विशेषता है। उन्होंने अद्वैत वेदांत के निर्गुण ब्रह्म के स्थान में परम पुरुष की विचारधारा का समर्थन किया।

टैगोर का मत था कि इस परम पुरूष का विलक्षण प्रकाशन मनुष्य के रूप में हो रहा है। मनुष्य केवल भौतिक तत्वों का संघात नहीं है, बल्कि उसके अंदर ईश्वर अधिष्ठित है। सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ परिणाम मनुष्य है। जहाँ नीत्शे और अरविन्द अतिमानव का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, वहीं रवीन्द्रनाथ दिव्य मानववाद के प्रवर्तक हैं। उनका विश्वास था कि जो कुछ है, वह ब्रह्म है। सर्वत्र ब्रह्म का अभिप्रकाशन हो रहा है, अतः सबके साथ एक आध्यात्मिक सूत्र में संश्लिष्ट होना चाहिए। भारतीय अद्वैत वेदांत ने सच्चिदानन्द की सत्ता की घोषणा की, किंतु उसके साथ ही अनेक विचारक जगत को माया समझने लगे। 'ब्रह्म सत्यम्' के साथ 'जगन्मिथ्या' विचार का भी समर्थन हुआ। जबकि टैगोर मायावाद के दर्शन का दो दृष्टियों से खंडन करते हैं। प्रथमतः यह ब्रह्म की पूर्णता का विरोधी है। सृष्टि का अवसान करने पर पूर्ण सत्ता प्राप्त नहीं होती है। सब कुछ पूर्ण का अंश है। सर्वभूतांतरात्मा ही नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है, अतः उसे मिथ्या या भ्रम मानना ठीक नहीं है। द्वितीयत, हजारों वर्षों से ज्ञान और उन्नति के लिए मनुष्य के अनवरत परिश्रम एवं प्रयत्न से प्राप्त सामग्री को माया या भ्रम कहना अनुपयुक्त है। अतः अपने ग्रंथ 'साधना' में टैगोर ने कहा है कि परिवार, समाज, राज्य, कला, विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में हमें पूर्णात्मा का साक्षात्कार करना है। साधना और साक्षात्कार के द्वारा हमें विलक्षणत्व और सामान्य का पूर्ण बोध होता है।

परम पुरुष या पूर्णात्मा के साक्षात्कार का साधन प्राचीन और मध्यकालीन जगत में योग और निदिध्यासन को ही समझा जाता था, लेकिन टैगोर के अनुसार, मानव-जीवन के वैविध्य यानी रमणीयता और लावण्य की उपेक्षा करना ठीक नहीं। प्लेटो भी सौंदर्य-प्रत्यय या पूर्ण सौंदर्य के विचार का समर्थक था। टैगोर का कथन है कि पूर्णात्मा शुष्क चितिशक्ति नहीं है, वह तो परम शिव है और अनंत आनंद से भरा है। सौंदर्य उसके आनंद का प्रकाशन है। वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रतम अवस्था में ही ईश्वर का दर्शन होता है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए मानवता के साथ तादात्म्य आवश्यक है। एकांत में बैठकर तपस्या करना ठीक है, किंतु साथ ही मानव-जीवन की एकता को भी हृदयंगम करना होगा। पूर्णात्मा का बोध करने के लिए समस्त मानव-जीवन और समस्त विश्व में एकता का दर्शन करना होगा। इस प्रकार एकता का क्रमिक दर्शन विश्व-सौंदर्य का क्रमिक दर्शन कराता है। बुद्धि का विस्तार और भावना का विस्तार साथ-साथ होता है। इस प्रकार देवत्व और मानवत्व का समन्वय होता है। दिव्यमानववाद अथवा देवत्व और मानवत्व के सहयोग और समन्वय पर बल देना ही टैगोर के दर्शन का आधार है।

शरीर की दृष्टि से मरणधर्मा होते हुए भी मानवता के रूप में मनुष्य अमर है। समस्त भौतिक शक्तियाँ संगठित होकर भी उस विलक्षण अमरता का नाश नहीं कर सकतीं, जिसका लालित्यपूर्ण प्रकाशन मानव जीवन में हो रहा है। इस प्रकार पूर्णसत्ता का भी मानवीकृत प्रकृष्ट रूप है। पूर्ण सत्ता ही पूर्ण मानव है और वह सनातन है। क्षुद्र व्यक्तिवाद कभी भी टिकाऊ नहीं हो सकता, क्योंकि इसके कारण ही दुख और पाप की उत्पत्ति होती है, जबकि पूर्णसत्ता केवल ज्ञानमय नहीं है बल्कि आनंदमय भी है। करूणा, मैत्री, सहानुभूति, सहयोग के द्वारा हमें पूर्णता का बोध होता है। ममत्व, स्पृहा, आकांक्षा, लिप्सा के बदले आत्मप्रसारण का निर्मल मार्ग ही श्रेयस्कर है। अनासक्त शुद्ध कर्म तथा शुद्ध भावना और प्रेम के

द्वारा हम सत्ता की आध्यात्मिक एकता का बोध प्राप्त करते हैं। इस प्रकार नैतिक विचारधारा का अनुपालन कर टैगोर भारतीय परंपरा का समर्थन करते हैं।

आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ राष्ट्रवाद के सबसे जबर्दस्त आलोचक थे। वे राष्ट्रप्रेम को एक प्रकार का नशा कहते थे। जब कोई जनसमूह केवल राजनीतिक और आर्थिक रूप धारण कर लेता है, तब राष्ट्रवाद का जन्म होता है। राष्ट्रवाद का अवश्यम्भावी परिणाम है साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद देश के सर्वनाश का पूर्ण रूप है। इसी साम्राज्यवाद के कारण यूरोपीय सभ्यता पतनोन्मुख है। इसी साम्राज्यवादी पश्चिमी सभ्यता से त्राण पाने का संदेश टैगोर ने एशिया को दिया क्योंकि पश्चिमी राष्ट्रवादी सभ्यता संघर्ष और विजय पर आधारित है। एकता और सहयोग की वे भावनाएँ, जो अध्यात्म से उत्पन्न होती हैं, उनका इसमें अभाव है। जापान अपनी प्राचीन और मध्यकालीन नैतिक आधारशिला को छोड़कर यूरोप का अंधानुकरण कर रहा था, इसीलिए टैगोर ने उसका विरोध किया और मानवता की उपासना करने का संदेश दिया। भारतीय सभ्यता की मुख्य धारा राजनीतिक नहीं अपितु सामाजिक है। अनेक जातियों और वर्णों का समन्वय करना ही मुख्य ध्येय है। सामाजिक दासता की आधारशिला पर राजनीतिक स्वतंत्रता की इमारत खड़ी नहीं हो सकती।

टैगोर का कथन है कि स्वतंत्रता एक आतंरिक विचार है। इसके केवल वाह्य वातावरण की एक वस्तु मानना, इसका आंशिक रूप देखना है। वस्तुतः आंतरिक स्वतंत्रता हमारे कार्यों को शक्ति और विशालता प्रदान करती है। सच्ची स्वतंत्रता वही कहलाता है जो अपनी स्वतंत्रता के साथ अन्यों को भी स्वतंत्र देखना चाहता है। स्वतंत्रता के अभाव में भारत में एक सामाजिक कट्टरपन और रूढ़िवाद का जन्म हुआ जो समस्त नूतन रचना का विरोधी है। स्वतंत्र बनने के निमित्त आवश्यक है स्वतंत्रता में पूर्ण विश्वास। इस प्रकार के विश्वास के अभाव में इसके प्ररक्षण के लिए कष्ट सहने की हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है। स्वतंत्रता के बिना नवीन की सृष्टि नहीं हो सकती, जबकि नूतन की सृष्टि ही आध्यात्मिकता का लक्षण है। अतः आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के लिए पूर्ण स्वतंत्रता के आदर्श को अपनाना परमावश्यक है।

रवीन्द्रनाथ अपने जीवन के प्रारंभिक काल में पश्चिम से अधिक प्रभावित थे, किंतु बाद में उन्हें पश्चिमी सभ्यता के खोखलेपन का बोध हुआ और अंतिम समय में बड़े जोर से उन्होंने घोषणा की कि संसार के परित्राण का मार्ग भारतवर्ष की पुरातन आध्यात्मिक परंपरा में है, न कि वैज्ञानिक बौद्धिकता और यांत्रिक सभ्यता में। आध्यात्मिकता से उनका तात्पर्य पूर्णता (भूमा) से था। उनको उस योग पद्धति से अनुराग नहीं था जो केवल निग्रह और दमन की शिक्षा देती है। वे कलाकार थे और उनका मत था कि शक्ति की प्रचुरता और अधिकता से ही कला की उत्पत्ति होती है। वे सच्ची कला को पूर्ण सौंदर्य की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे। जहाँ प्लेटो कला को तत्वज्ञान का विरोधी और सत्य का विकृत रूप मानता था, वहाँ टैगोर कला को पूर्णता की प्राप्ति का मार्ग मानते थे। इसीलिए वे अपने दार्शनिक सिद्धांत को 'एक कलाकार का धर्म' कहते थे। टैगोर की विशेषता है कि उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक विचार के मूल सूत्रों का विशद समर्थन किया। अपनी दीर्घकालीन वैयक्तिक और साहित्यिक साधना के आधार पर उन्होंने आध्यात्मिकता को ही प्रशस्त किया। अज्ञेयवाद, अनात्मवाद, भौतिकवाद, संशयवाद के जमाने में जब बुद्धिजीवी वर्ग विश्वास खो चुके थे, रवीन्द्रनाथ ने अध्यात्म पर ही अपने अनुभव की मुहर लगाई। प्रकृति के साथ रागात्मक तल्लीनता और मानव की रचनात्मक स्वतंत्रता का प्रकटीकरण ही उनके अनुसार मुक्ति के साधन हैं। यही उनके दर्शन का मूल सार है।

3.5.6. टैगोर का ऐतिहासिक दर्शन

टैगोर का कहना था कि सामाजिक तथा जातीय समन्वय ही भारत की होतव्यता है। वे सार्वभौम आर्यवाद अथवा आक्रामक ब्राह्मणवाद का संदेश लेकर नहीं आए थे। टैगोर ने भारतीय सभ्यता में एकीकरण और समायोजन की चिरकाल से चली आ रही ऐतिहासिक प्रक्रिया की विषय-वस्तु को सैद्धांतिक धरातल पर स्पष्ट ढंग से निरूपित कर दिया। भारतीय महामानवतारूपी विराट जलनिधि के कगार पर घृणा को हटाकर, समवेत रूप से यज्ञशाला की प्रदीप्त अग्नि के पर्यावरण में ओंकार ध्वनि के महानिनाद से हृदयतंत्र को झंकृत करने का संदेश उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'भारततीर्थ' में दिया। भारत में हमारी समस्याएँ केवल आंतरिक रही हैं, इसलिए हमारा इतिहास सतत् सामाजिक तालमेल का इतिहास रहा है, प्रतिरक्षा अथवा आक्रमण के लिए शक्ति संगठित करने का इतिहास नहीं रहा है। अतः टैगोर का ऐतिहासिक दर्शन इस प्रकार है-

3.5.6.1. इतिहास की सामाजिक व्याख्या

टैगोर के अनुसार मनुष्य सामाजिक, संवेदनशील तथा कल्पनाशील प्राणी है, न कि यांत्रिक वस्तु अथवा राजनीतिक प्राणी। उन्होंने भी काम्टे, दूर्खाइम तथा स्टाइन की भाँति समाज को ही प्राथमिकता दिया। उनका कथन था कि राजनीतिक समाज का केवल एक विशेषीकृत तथा व्यवसायीकृत पक्ष है। भारतीय इतिहास जातीय तथा सामाजिक समन्वय की चिर प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। प्राचीन भारत में राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों को एक दूसरे से पृथक रखा गया था। घर तथा आश्रम मनुष्य की शक्तियों के संगठन के दो मुख्य केंद्र थे। लोक राज्य की उपेक्षा करते हुए जीवन बिताते थे। टैगोर ने अपने 'स्वदेशी समाज' में लिखा है कि हमारे देश में राजा अपेक्षाकृत स्वतंत्र हुआ करता था और नागरिक दायित्व का भार जनता पर था। राजा प्रायः युद्ध और आखेट में संलग्न रहता था। वह अपना समय राजकाज अथवा निजी आमोद-प्रमोद में व्यय करता था, इस विषय में वह केवल धर्म के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता था। किंतु जनता की दृष्टि में उसका सामाजिक कल्याण राजा के कामों पर निर्भर नहीं था। परंतु टैगोर का केवल राजनीतिक दायित्व में विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि भारतीयों को पहले अपना आंतरिक सुधार कर लेना चाहिए, तभी उनकी माँगों का विदेशी प्रभुओं पर कोई प्रभाव पड़ सकता है। जो देश और जनता अपने घर में कुछ निकृष्टतम प्रकार के सामाजिक अन्याय और अत्याचार करते हैं, उनके पास साम्राज्यवादियों की उदंडता का विरोध करने के लिए नैतिक अंतःकरण नहीं हो सकता।

टैगोर कभी राज्य का पूर्णतः उन्मूलन करने के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किए। उन्होंने मैक्स स्टर्नर और माइकेल बाकूनिन के अराजकतावादी सिद्धांतों का कभी अनुगमन नहीं किया। उनका इस बात पर बल था कि व्यक्ति को अपनी शक्तियों तथा क्षमताओं का विकास करना चाहिए। कुछ पाश्चात्य सामाजिक विचारकों की भाँति उनका भी विश्वास था कि राज्य का मुख्य काम बाधाओं का निवारण ही नहीं बल्कि जनता को सुयोग्य बनाना है ताकि वह स्वयं अपनी बाधाओं को दूर करने में सक्षम हो सके। यदि लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन समुचित रीति से करें तो उनकी क्षमता तथा अभिक्रम की शक्ति पुष्ट होती है अन्यथा उसका अपक्षय हो जाता है। इस प्रकार टैगोर ने सामाजिक एकता और सुदृढ़ता पर बल दिया।

3.5.6.2. भारतीय इतिहास का दर्शन

भारतीय इतिहास के दर्शन पर भी टैगोर ने विचार प्रस्तुत किए हैं। उनका मत था कि भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण उदार तथा विशाल है क्योंकि उसका पोषण वनों में वायु की स्वच्छंद क्रीड़ा के बीच हुआ था। आश्रम भारतीय संस्कृति की सर्वव्यापी भावना के प्रतिनिधि थे। भारतीय संस्कृति ने अपने को सामाजिक समन्वय के सिद्धांत तथा आचरण में व्यक्त किया। उसने शासकीय उतार-चढ़ाव और उत्थान-पतन को अधिक महत्व नहीं दिया। उसकी प्रकृति सामाजिक है। भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का मुख्य लक्षण है, 'अनेक में एक की खोज अर्थात् विविधता में एकता का दर्शन करना।' साथ ही भारतीय इतिहास में समन्वय की प्रक्रिया की खोज करनी है। भारतीय आर्य अपने साथ सरल काव्य की मोहिनी लाए। द्रविड़ों ने अपनी संवेगात्मक तथा कल्पनाशील प्रकृति के द्वारा संगति तथा रचनात्मक कलाओं के विकास में योगदान दिया। बौद्ध धर्म ने गंभीर नैतिक आदर्शवाद का पुट जोड़ दिया। इस प्रकार भारतीय इतिहास में विभिन्न जातियों की विविध विशेषताओं तथा उनके सांस्कृतिक आदर्शों की अंतर्भुक्ति की प्रक्रिया निरंतर होती आई है। जातीय तथा सांस्कृतिक समन्वय इस देश की बड़ी समस्या रहा है।

भारतीय आध्यात्मिक विरासत के अतुल मूल्य को टैगोर ने स्वीकार किया। उन्होंने पश्चिमी अंधानुकरण में निहित विराष्ट्रीयकरण की प्रवृत्तियों का विरोध किया। भारत ने सदैव ही सत्यम्, शिवम् तथा शाश्वत आत्मा को ऊँचा रखा था, उनका परित्याग करना उपहासास्पद होगा। भारतीय भूमि में पश्चिम की निर्जीव भौतिकवादी आर्थिक सभ्यता का प्रतिरोपण करना निरर्थक है। किंतु टैगोर ने पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृतियों के समन्वय के आदर्श को भी स्वीकार किया। उनका कथन था कि पश्चिम का वैज्ञानिक अनुसंधान, साहस की भावना और सामाजिक आदर्शवाद श्रेष्ठ आदर्श हैं, जिससे भारतीय सीख ले सकते हैं। इस प्रकार टैगोर ने ऐतिहासिक प्रगति के नैतिक नियम का समर्थन किया। पश्चिमी राष्ट्रों में नैतिक मूल्यों के प्रति जो संदेह की प्रवृत्ति बढ़ रही है उस पर उन्हें बड़ा दुःख था। इसलिए प्रथम विश्वयुद्ध को वे दंडात्मक युद्ध कहा करते थे।

3.5.6.3. प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यता का दर्शन

टैगोर का कथन था कि सभ्यता का सार मानवता का प्रेम है, न कि भौतिक शक्ति का संचय। प्रारंभिक दिनों में वे पश्चिम तथा ईसाइयत से प्रभावित हुए थे। वे एक ऐसी सार्वभौम मानवतावादी संस्कृति का विकास चाहते थे जिसे चीनियों, हिंदुओं, यहूदियों और ईसाइयों ने अपने-अपने योगदान से समृद्ध किया है। टैगोर ने लिखा था कि ''यूरोप का दीपक अभी भी जल रहा है, हमें चाहिए कि अपना पुराना बुझा हुआ दीपक उसकी ज्योति से जला लें और काल के मार्ग पर चलना प्रारंभ कर दें। अंग्रेजों के साथ हमारे संबंध का जो उद्देश्य है उसे पूरा करना हमारा कर्त्तव्य है।'' लेकिन बाद में पश्चिमी मानव की असीम साम्राज्यवादी उग्रता और हिंसात्मक क्रूरता ने टैगोर को विशेष आघात पहुँचाया। शक्ति के बल पर शासन करने तथा स्वतंत्रता में तनिक भी आस्था नहीं होने के कारण टैगोर ने पश्चिमी राष्ट्रों की कटु आलोचना की।

उनकी दृष्टि में भारत पूर्व के लोगों की प्रेम, सौंदर्य, सत्य तथा पवित्रता की इस आकांक्षा का प्रतिनिधि था। पूर्व के नैतिक तथा आध्यात्मिक दर्शन में भविष्य का संदेश निहित था। इसके विपरीत पश्चिम के साम्राज्यवादी परजीवी जंतुओं की भाँति एशिया तथा अफ्रीका की जातियों का रक्त चूस रहे थे और इससे विजयी राष्ट्रों का ही नैतिक अधःपतन हो रहा था। उनका मत था कि परलोक और

आध्यात्मिकता का संदेशवाहक भारत और ठोस पृथ्वी पर निर्माण करने वाला पश्चिम परस्पर मिलकर और मैत्री संबंध स्थापित कर आगे बढ़ें। तभी अमर आत्मा की सब संतानें परस्पर आध्यात्मिकता के आलिंगन में आबद्ध हो सकती है। प्रच्छन्न मानवता की सतत खोज ही हमारी सभ्यता है।

3.5.7. टैगोर के राजनीतिक चिंतन का समाजशास्त्रीय आधार

टैगोर एक ऐसे समाजवादी थे जो राज्य की तुलना में समाज को अधिक प्राथमिकता देते थे। इसलिए समाज की निषेधात्मक आलोचना के बजाय उन्होंने रचनात्मक सामाजिक प्रयत्नों पर बल दिया। वे समाज को आध्यात्मिक अवयवी मानते थे। मनुष्य में दो प्रकार की जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं। उसमें अपने सुख और अपने उत्कर्ष की इच्छाएँ होती हैं। उनकी पूर्ति आत्म-केंद्रित, आर्थिक तथा शारीरिक क्रिया-कलाप से होती है। किंतु मनुष्य में सामूहिक कल्याण और सामाजिक उपकार की इच्छाएँ भी अंतर्निहित होती हैं। जाति के परिरक्षण के लिए आवश्यक उपकार की प्रवृत्ति कुछ अंशों में सभी प्राणियों में अंतर्निहित होती है।

सामाजिक व्यवस्था में वृद्धि की भावना व्याप्त होती है और वह भावनाओं के आदान-प्रदान द्वारा जीवित बनी रहती है। मनुष्य की नैतिक तथा सौंदर्यात्मक चेतना का मूल समाज में ही होता है। अतः समाज एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य को अपने अहं से ऊपर उठने में सहायता देता है। समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों की तुष्टि करता है, क्योंकि वह अंतरवैयक्तिक संबंधों का एक सूक्ष्म ताना-बाना है। टैगोर लिखते हैं कि ''समाज का अपने से बाहर कोई प्रयोजन नहीं है। वह स्वयं अपने में साध्य है। वह मनुष्य की सामाजिकता की स्वतः और स्वच्छंद अभिव्यक्ति है। वह मानवीय संबंधों का स्वाभाविक नियमन है, जिससे मनुष्य पारस्परिक सहयोग से जीवन के आदर्शों का विकास कर सकें। उसका राजनीतिक पक्ष भी है, किंतु वह केवल आत्म-परीक्षण के लिए है। वह केवल शक्ति का पक्ष है, मानवीय आदर्शों का नहीं। प्रारंभिक काल में उसका समाज में पृथक स्थान था, तथा वह पेशेवर लोगों तक सीमित था। समाज एक जीवंत अवयवी है और कालांतर में वह अपनी आधारभूत प्रवृत्तियों को विकसित कर लेता है। अतः समाज ईश्वर की अभिव्यक्ति है, उसका उद्देश्य मनुष्य को उसकी दैवी प्रकृति का स्मरण कराना है। सामाजिक आदान-प्रदान के विस्तृत जीवन में मनुष्य अभिभूतकारी एकता के रहस्य का अनुभव करता है।'' किसी कारणवश मनुष्य ने अनुभव किया है कि एकता यानी समाज की यह व्यापक भावना स्वभाव से ईश्वरीय है। मनुष्य को इस प्रकार के साक्षात्कार का अवसर और सुविधा समाज में ही उपलब्ध हो सकती है। इसलिए हर धर्म जनजातीय ईश्वर की धारणा को लेकर प्रारंभ हुआ।

टैगोर समाज के कार्यात्मक सिद्धांत में भी विश्वास करते थे। वे समाज को व्यर्थ के सामाजिक स्तरों में विभक्त और संगठित करने की प्रक्रिया के विरूद्ध थे, क्योंकि यह सामाजिक अत्याचारों को स्थायित्व प्रदान करता है। टैगोर अपने समय में प्रचलित सामाजिक नैतिकता की गड़बड़ी और अव्यवस्था को भली-भाँति समझते थे। पाश्चात्य सभ्यता के आघात के कारण टैगोर ने सिखाया कि व्यक्ति समूह, संघ और समुदाय के जीवन में भागीदार बनकर ही अपने जीवन के प्रयोजन को पूरा कर सकता है। उसने समाज के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परित्याग करने पर बल दिया और कहा कि सामाजिक ढाँचा तत्वतः अवयवी है। किंतु सामाजिक अवयवी एक जीवंत समग्र तभी बन सकता है जब समाज के सदस्य पारस्परिक कर्त्तव्यपालन के सूत्रों में बँधे हों और सब अंगों और वर्गों के साथ समानता का व्यवहार करें। इस प्रकार टैगोर प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को सांस्कृतिक परिवेश एवं प्रयोजनमूलक सामाजिक

पारस्परिकता और समूह तथा साहचर्यात्मक जीवन की कार्यात्मक अंतरनिर्भरता के रूप में देखना चाहते थे।

टैगोर तात्कालिक परजीवी आर्थिक वर्गों के विरोधी थे। हालाँकि उनका जन्म एक जमींदार परिवार में हुआ था, किंतु उस वर्ग की नैतिकता के संबंध में उनका भ्रम दूर हो गया था। जमींदार लोग पाश्चात्य साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के हितों के संरक्षक थे, उनमें नागरिकता तथा देशभक्ति के गुणों का नितांत अभाव था। उनका उद्देश्य केवल धन-संचय था, न कि सामाजिक सेवा तथा न्याय। अतः टैगोर का विश्वास था कि नए समाज के निर्माण के लिए नेतृत्व न तो साहूकारों और उद्योगपतियों से मिल सकेगा और न जमींदारों से; वह तो बुद्धिजीवी मध्यवर्ग से ही उपलब्ध होगा। अपनी साहित्यिक रचनाओं में उन्होंने बंगाल के जमींदार वर्ग की शिथिलता तथा निर्जीवता का दिग्दर्शन कराया है और बुद्धिजीवी मध्यवर्ग में विश्वास प्रकट किया है। रानाडे और आगरकर की भाँति टैगोर ने भी बतलाया कि राजनीतिक स्वतंत्रता के उपभोग की क्षमता सामाजिक उदारवाद तथा मुक्ति के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। वे जाति-प्रथा के हानिकारक परिणामों के पूर्णतः विरूद्ध थे। इसलिए उन्होंने जाति-प्रथा के उन्मूलन का समर्थन किया। टैगोर को विश्वास था कि यदि बुद्धिजीवी अपनी शक्तियों को सही दिशा में जुटा दें तो देश की प्रचलित सामाजिक बुराइयों को दूर किया जा सकता है।

3.5.8. टैगोर के राजनीतिक विचार

टैगोर का कथन है कि ''मनुष्य को अपने अधिकारों के संबंध में भीख नहीं माँगनी है, उसे चाहिए कि वह अपने लिए उनका स्वयं सर्जन करे।'' वे बौद्धिक विवाद के अधिकार को आधारभूत मानते थे। उन्हें इस बात का दुःख था कि भारत में अंग्रेजी शासन यांत्रिक था और उसमें वैयक्तिक पुट की कमी थी, शासकों और शासितों के बीच न तो उदारतापूर्ण आदान-प्रदान था और न सामाजिक सहानुभूति जैसे संबंध थे। यद्यपि भारत के मुगल शासन में अनेक दोष थे, तथापि शासक वर्ग तथा प्रजा के बीच सामाजिक संबंधों को विकसित करने का प्रयत्न किया गया था, जबकि अंग्रेजों ने अपने तथा भारतीय जनता के बीच सदैव दूरी बनाए रखने का प्रयत्न किया था। टैगोर ने इस स्थिति के विरूद्ध विद्रोह किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि समाज का पुनर्निर्माण पुराने आदर्शों और नमूनों के आधार पर किया जाय। अपनी राजनीतिक रचनाओं के प्रारंभिक काल में टैगोर 'नेतृत्व' के सिद्धांत में विश्वास करते थे। उन्होंने 'स्वदेशी समाज' में लिखा है कि ''सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम किसी दृढ़ व्यक्ति को नेता बना लें और उसे अपना प्रतिनिधि मानकर उसके चतुर्दिक एकत्र हो जाएँ। उसके शासन को स्वीकार करने से हमारे आत्म-सम्मान को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँचेगी, क्योंकि वह स्वतंत्रता का ही प्रतीक होगा।'' इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर के राजनीतिक विचार निम्नांकित हैं-

3.5.8.1. अधिकारों का सिद्धांत

रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचार में अधिकार किसी व्यक्ति की अपनी निजी संपत्ति नहीं है, वे सामाजिक कल्याण की वृद्धि में निष्काम योगदान से उत्पन्न होते हैं। सच्ची मानव प्रगति सहानुभूति के क्षेत्र के विस्तार के साथ ही होती है। मनुष्य बृहत्तर स्थान पर कब्जा करके अधिकारों को अर्जित नहीं करता और न बाह्य आचरण के द्वारा, उसके अधिकारों का क्षेत्र, उसकी वास्तविकता और उसकी चेतना के प्रसार से नापी जाती है। टैगोर ने वैसे लोगों की भर्त्सना की, जो जातीय अहंकार और शक्तिमद के वशीभूत होकर मानव गरिमा का अपमान करते हैं। उन्होंने ईश्वर के नैतिक आदेशों का पक्ष लिया, क्योंकि

उनका विश्वास था कि वे निश्चय ही सम्यकता, न्याय तथा स्वतंत्रता की रक्षा करेंगे। यदि लोभ, भोगवृत्तियों की लालसा और निरंकुश शक्ति निरंतर बलवती होती जाय तो फिर ईश्वर भी मौन होकर नहीं बैठ सकता।

विवेकानन्द की भाँति टैगोर ने भी इस पर बल दिया कि अधिकारों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति तथा समूह दोनों को ही शक्ति का अर्जन करना चाहिए। दासताजनित अपमान को स्वीकार करने से मनुष्य के हृदय में विराजमान दैवी प्रकाश की ज्योति क्षीण हो जाती है। साथ ही इसे असत्य और अन्याय के सामने समर्पण माना जाता है। इस प्रकार की दुर्बलता मानव आत्मा के साथ विश्वासघात है। इसीलिए टैगोर चाहते थे कि भारत के दलित तथा अकिंचन लोग अपने पुनरूद्धार के लिए नैतिक शक्ति का अर्जन करें और किसी के समक्ष झुकने से इंकार कर दें। टैगोर ग्रामोद्धार के पक्षपाती थे और चाहते थे कि किसान अपने अधिकारों के प्रति सचेत हों। वे गाँवों के पुनः संगठन का समर्थन करते थे। उनका सुझाव था कि थोड़े से गाँवों की मंडली अपने मंडप में ग्राम कल्याण तथा पुनर्वास की योजना बनाए तथा जिलों और गाँवों में प्रांतीय प्रतिनिधि-सभाओं की शाखाएँ खोली जाए। उन्होंने कुटीर उद्योगों का समर्थन किया और ग्रामीण जनता को सलाह दिया कि वह अपने योग्यता तथा सहयोग की भावना का विकास करे।

टैगोर के अनुसार जमींदारों का काम रैयत के कल्याण की व्यवस्था करना था न कि उसका उत्पीड़न करना। मनुष्य के लिए अपने अधिकारों को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है- रचनात्मक कार्य में संलग्न रहना और उससे उत्पन्न कष्टों को सहना तथा धैर्यपूर्वक आत्मत्याग करना। यही कारण था कि वे भारत के राजनीतिक स्वतंत्रता के अधिकार के समर्थक थे। उनका कथन था कि राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव में जनता का नैतिक बल क्षीण होता है और आत्मा संकुचित हो जाती है। केवल आत्म-निर्णय मानवता के अधिकारों की रक्षा कर सकता है। अतः टैगोर ने भारत के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया।

3.5.8.2. स्वतंत्रता का सिद्धांत

टैगोर स्वतंत्रता तथा स्वतःता के सिद्धांत के प्रतिपादक थे, इसीलिए उन्होंने चिंतन और कर्म की स्वतंत्रता तथा अंतःकरण की स्वतंत्रता का समर्थन किया। वे शक्ति के केंद्रीकरण के विरूद्ध थे और मानव आत्मा की स्वतंत्रता तथा स्वायत्तता के प्रेमी थे। उनके अनुसार यांत्रिक रूढ़ियों और संकीर्ण सामाजिक पंथों के कुप्रभाव का शमन करने की एकमात्र औषधि स्वतंत्रता है। मनुष्य समाज के बंधनों में बँधा होता है। जहाँ एक ओर वस्तु जगत पराधीनता का क्षेत्र है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक जगत में मनुष्य स्वतंत्रता और स्वच्छंदता को भी उपलब्ध कर सकता है। यह स्वतंत्र आध्यात्मिक जगत सृजनात्मक बाहुल्य का प्रांगण है। अतः टैगोर के अनुसार मनुष्य के लिए आवश्यकता के बंधनों को तोड़कर स्वतंत्रता के जगत में प्रवेश करना संभव है। उन्होंने बाध्यता तथा बाद्य आधिपत्य के विरूद्ध मानव आत्मा की नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता को पवित्र माना।

टैगोर का कथन है कि ''जो अपने भीतर स्वराज प्राप्त करने में सफल नहीं हुए हैं, वे उसे बाहरी जगत में भी खो बैठेंगे।'' विवेकानन्द तथा अरविन्द की भाँति टैगोर भी स्वतंत्रता के आध्यात्मिक सिद्धांत को मानते थे। उनके अनुसार आत्म-साक्षात्कार के द्वारा आत्मा को प्रदीप्त करना ही स्वतंत्रता का सार है। सार्वभौमता की प्राप्ति ही स्वतंत्रता है। इसलिए प्रेम स्वतंत्रता तक पहुँचने का सही मार्ग है। सहानुभूतिपूर्ण सहयोग, करूणा तथा विश्वासपूर्ण मेल-मिलाप से मनुष्य की शक्तियों का विकास होता है और उसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता का वरदान उपलब्ध होता है। अहंकार का जीवन पृथकता तथा नीरसता का जीवन है, जिसे स्वतंत्रता का जीवन नहीं कहा जा सकता है। टैगोर के अनुसार स्वतंत्रता की उपलब्धि के

दो ही साधन हैं, सब प्राणियों की व्यापक अंतरनिर्भरता को समझ लेना और परमात्मा की शाश्वत सृजनात्मकता का निष्काम भाव से साक्षात्कार कर लेना।

ईसाइयत के प्रारंभिक दार्शनिकों तथा अन्य उदारवादियों की भाँति टैगोर ने भी राजनीतिक शक्ति की विनाशकारी लीला की भर्त्सना की। वे व्यक्तित्व का संदेश लेकर आए थे, न कि आधिपत्य का। उनका विश्वास था कि परमात्मा का शाश्वत नियम शक्ति के ठेकेदारों को अवश्य ही नीचा दिखाएगा। उनके अनुसार भारत ने सदैव समाज का पोषण किया और इसलिए कर्तव्यपालन पर सबसे अधिक बल दिया। इंगलैंड में राजनीतिक स्वतंत्रता को अधिक मूल्यवान माना गया है। इसके विपरीत भारत में स्वतंत्रता को उच्च स्थान प्रदान किया गया है। टैगोर ने सांप्रदायिकता तथा अनुष्ठानवादियों की आलोचना की है और समाज तथा राजनीतिक संगठन दोनों में ही स्वतंत्रता की माँग की है। उन्होंने भारत के व्यापक सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के आदर्श को स्वीकार किया। वे भारत तथा एशिया की राजनीतिक स्वतंत्रता के समर्थक थे। उन्हें ब्रिटेन तथा भारत के बीच सहयोग में विश्वास था, किंतु वे चाहते थे कि यह सहयोग मैत्री और विश्वास पर आधारित होना चाहिए। यानी वे चाहते थे कि भारतीय जनता का समानता तथा आत्मनिर्णय का अधिकार स्वीकार कर लिया जाए।

इस प्रकार टैगोर के राजनीतिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण देन स्वतंत्रता का सिद्धांत है। उन्होंने स्वंत्रता का गुणगान किया और प्रेम, पवित्रता, कल्पना तथा सृजनात्मकता का संदेश देकर सब प्रकार के प्रतिबंधों और यांत्रिक नियमन का विरोध किया। उनके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ पृथकत्ववादी स्वाधीनता नहीं है, बल्कि पूर्ण सामाजिक संबंधों का आनंदपूर्ण सामंजस्य ही स्वतंत्रता है। वे यांत्रिक भौतिकवादी सभ्यता के घोर शत्रु थे, जो व्यक्तियों को सुयोग्यता तथा संगठन के रक्तपिपासु आदर्शों की वेदी पर चढ़ा देना चाहती है।

3.5.8.3. राष्ट्रवाद की समालोचना

टैगोर को भारत के लिए गहरा, हार्दिक तथा उत्कट प्रेम था। उन्हें अपने जन्मभूमि से, अपने पूर्वजों की शक्ति तथा स्फूर्तिदायिनी वसुंधरा से गहरा अनुराग था। उन्होंने भारत माता को 'विश्व-मोहिनी' कहकर अभिनंदित किया। उनको मनुष्य के आध्यात्मिक साहचर्य में विश्वास था। उन्होंने मानव जाति के महान संघ की कल्पना किया था। इसलिए वे राष्ट्रीय राज्य के आदेशों का पालन करने के लिए तैयार नहीं थे। राष्ट्रवाद पृथकत्व का पोषण करता है और आक्रामक उग्रता विश्व की सभ्यता के लिए एक खतरा है। राष्ट्रीय अहंकार संकीर्ण कल्पना तथा आध्यात्मिक संवेदनशीलता के अभाव का परिणाम है। वह शासितों की इच्छा और सम्मति को महत्व न देकर साम्राज्यवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद को जन्म देता है। इसीलिए टैगोर जनता के पक्षधर थे, न कि राष्ट्र के। उन्हें भारत की जनता की आत्मा के पुनरूद्धार में विश्वास था। उन्होंने राष्ट्र-पूजा के स्थान पर ईश्वरीय राज्य की नागरिकता के धर्म का उपदेश दिया और इसीलिए उन्होंने सार्वभौम मानवतावाद की शक्तियों को उन्मुक्त करने के लिए प्रचार किया।

उन्होंने राष्ट्रवाद को संगठित सामुदायिकता और यांत्रिक लोलुपता बतलाया और उसकी भर्त्सना की। पाश्चात्य राष्ट्रवाद सामाजिक सहयोग और आध्यात्मिक आदर्शवाद के किसी सिद्धांत का प्रतिनिधित्व नहीं करता। वह केवल एक राजनीतिक संगठन है जिसका उद्देश्य अन्य राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करना है। टैगोर ने चेतावनी देते हुए कहा कि यह यांत्रिक सभ्यता जो एशिया और अफ्रीका से अनुचित लाभ बटोरने में व्यस्त है, धीरे-धीरे विनाश की ओर लुढ़कती जा रही है। वे पाश्चात्य सभ्यता को मनुष्य के लिए सबसे अधिक घातक मानते थे।

महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन की टैगोर काफी आलोचना करते थे। उन्हें भय था कि इससे ऐसे स्थानीय, संकीर्ण तथा सीमित दृष्टिकोण की उत्पत्ति होगी जो विश्वराज्यीय सार्वभौमवाद का विरोधी है, जबकि सार्वभौमवाद भारतीय इतिहास की मुख्य धारा रही है। 1921-22 में उन्होंने विदेशी वस्त्रों को जलाने के कार्यक्रम का विरोध किया क्योंकि इससे जान-बूझकर घृणा उत्पन्न होती है। उनका मत था कि सांस्कृतिक शिक्षा के द्वारा राष्ट्रवाद से संबंधित अहंकार पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

3.5.8.4. सोवियत साम्यवाद पर टैगोर के विचार

सोवियत संघ की यात्रा के बाद टैगोर ने रूस की अधिनायकी क्रूरता की आलोचना की, तथापि वे उसकी शैक्षिक पुनर्निर्माण की विशाल योजनाओं के प्रति बहुत आशावान थे। उनका विश्वास था कि शिक्षा समाज के पुनर्निर्माण का एक शक्तिशाली साधन है। यह निश्चित है कि जिस शिक्षा का रसास्वादन रूसी जनता इतनी स्वतंत्रता और प्रचुरता के साथ कर रही है उसने फिलहाल उसकी मानवता को उन्नति और प्रतिष्ठा प्रदान की है। टैगोर ने स्वीकार किया कि आधुनिक पूँजीवाद की शोषण, विषमता और संग्रह की प्रवृत्तियाँ ही साम्यवाद की वृद्धि के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है। उन्हें आशा थी कि अंत में स्वच्छंद पारस्परिकता तथा मुक्त सहयोग के सिद्धांतों की विजय होगी। मनुष्य के स्वभाव से शत्रुता करके कभी कुछ सफल नहीं होता।

टैगोर ने संपत्ति के विषय में समष्टिवादी सिद्धांत को कभी अंगीकार नहीं किया, क्योंकि वे संपत्ति के केंद्रीयकरण के विनाशकारी परिणामों से भलीभाँति परिचित थे। तथापि हेगेल और ग्रीन की भाँति उन्होंने स्वीकार किया कि संपत्ति मानव व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है। किंतु वे चाहते थे कि संपत्ति मनुष्य में अंतर्निहित सार्वभौम अहं की अभिव्यक्ति बने, न कि हमारी लोलुपतापूर्ण संग्रहवृत्ति की। अतः उन्होंने मनोवैज्ञानिक तथा सौंदर्यात्मक आधार पर निजी संपत्ति का समर्थन किया, जिसके परिणामस्वरूप वे संपत्ति के समाजीकरण की अनुमति नहीं दे सकते हैं। उनका सुझाव था कि श्रमिकों को सहयोगमूलक प्रयत्नों के द्वारा अपनी दशा को सुधारना चाहिए। उन्होंने राज्य पर अत्यधिक निर्भरता के विचार का उपहास किया। तथापि टैगोर अन्य समाजवादियों की तरह पूँजी के केंद्रीकरण और धन के असमान वितरण के विघटनकारी और भ्रष्ट प्रभावों के विरोधी थे।

3.5.8.5. इटालियन फासीवाद को अस्वीकृत करना

टैगोर मई 1926 में इटली गए और मुसौलिनी के कार्यकलाप का उन पर प्रभाव पड़ा। इटली में उन्होंने उदार, प्रत्ययवादी, नव-हेगेलवादी दार्शनिक क्रोचे से भेंट किया। उन्होंने मुसौलिनी तथा उसके उत्साहपूर्ण आतिथ्य की सराहना किया, किंतु उन्होंने फासीवाद के राजनीतिक तथा आर्थिक दर्शन को न तो स्वीकार किया और न कभी उसकी प्रशंसा की।

3.5.8.6. अंतरराष्ट्रवाद

इस प्रकार टैगोर अंतरराष्ट्रवादी थे। जब विश्व में राष्ट्रीय अधिकारों के लिए संघर्ष चल रहा था, तब उन्होंने राष्ट्रों की पारस्परिक मैत्री तथा एकता का समर्थन किया। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि जातीय अहंकार की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा का अंत न किया गया तो यह मानव जाति के लिए आत्मघाती सिद्ध होगी। इसीलिए आवश्यक है कि मानव धर्म की मानव एकता के रूप में अभिव्यक्ति हो। टैगोर विश्व को मनुष्य की आत्मा का मंदिर समझते थे, न कि राजनीतिक शक्ति का भंडार। उनका कथन था कि राष्ट्रों के व्यक्तित्व का मुक्त तथा अबाध विकास ही सच्ची सार्वभौमता का अनत्य आधार बन सकता है। टैगोर

ने कवि तथा संदेशवाहक के रूप में बंधुत्व, मैत्री तथा मानवता के भारतीय आदर्शों का संदेश विश्व को दिया।

3.5.9. रवीन्द्रनाथ तथा गांधी

रवीन्द्रनाथ टैगोर और मोहनदास करमचन्द गांधी आधुनिक भारतीय चिंतन के दो महान विभूति हुए। प्राचीन भारतीय ग्रंथों से दोनों को प्रेरणा मिली थी। जहाँ टैगोर को उपनिषदों तथा कबीर की रचनाओं में प्रतिपादित सर्वेश्वरवादी सर्वव्यापकता के सिद्धांत ने आकर्षित किया, वहाँ गांधी आध्यात्मिक एकत्ववादी होकर भी गीता और तुलसीदास के आस्तिकवाद में विश्वास करते थे। जबकि दोनों को नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों की श्रेष्ठता में आस्था थी और दोनों ने हिंसा, बल तथा शोषण की भर्त्सना किया। भारतीय राज्यतंत्र तथा अर्थतंत्र के संबंध में दोनों ने प्रधानतः कृषिबहुल मार्ग का समर्थन किया। परंतु जीवन तथा संस्कृति के दर्शन के क्षेत्र में दोनों के बीच उल्लेखनीय अंतर भी हैं।

टैगोर कवि थे, इसलिए उनका दृष्टिकोण सौंदर्यात्मक था। उन्हें सामंजस्य की यूनानी धारणा से प्रेरणा मिली थी। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य तथा संस्कृति के जीवनदायी तत्वों को अंगीकार किया। जबकि गांधी नैतिक शुद्धाचारवादी थे। वे पाश्चात्य सभ्यता का आलोचक थे। गांधीजी की अपेक्षा टैगोर को पाश्चात्य सभ्यता के मूल्यों से अधिक सहानुभूति थी। गांधीजी दरिद्रता के जीवन को आदर्श मानते थे। ईसा मसीह तथा संत फ्रांसिस की तरह गांधीजी को विश्वास था कि दरिद्रता ईश्वरीय राज्य में प्रवेश पाने का पारपत्र है। टैगोर इससे इंकार करते हुए कहा कि ''मैं कल्पना नहीं कर सकता कि दरिद्रता में भी कोई गुण हो सकता है, विशेषकर जबकि रूप केवल निषेधात्मक हो।'' इसके अतिरिक्त टैगोर ने गांधीजी के असहयोग आंदोलन और खादी पर सर्वाधिक बल देने का भी विरोध किया। सच तो यह है कि टैगोर तथा गांधी दोनों ने ही आध्यात्मिक मानवतावादी दृष्टिकोण को महत्व दिया। परंतु जहाँ गांधी ने न्याय के लिए शहीद की भाँति जीवन भर कष्ट सहने का संदेश दिया, वहीं टैगोर सहनशीलता तथा मिताचार पर आधारित संयमित जीवन के पक्षधर थे।

3.5.10. योगदान

रवीन्द्रनाथ टैगोर एक महान विभूति थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके दर्शन समन्वयात्मक तथा मौलिक थे। वे महान देशभक्त थे। उन्होंने समाज-सुधार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का पक्ष लिया। वे राजनीतिज्ञ नहीं थे बल्कि राजनीतिक संदेशवाहक थे जिन्होंने एकता, सामंजस्य, शांति तथा सहयोग का उपदेश दिया। उन्होंने आधुनिक भारत को विश्व एवं जीवन-स्वीकृति का दर्शन दिया। उन्होंने नैतिकता को परंपराओं तथा धर्मशास्त्रीय विधानों से मुक्त करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार जाति-धर्म के प्रति भक्ति नैतिक आचरण का मूल नहीं है, बल्कि उसका आधार ईश्वरीय सामंजस्य और प्रेम की पहचान है। इस प्रकार उन्होंने समाज-सुधार, मानसिक मुक्ति, परोद्धार तथा परोपकार के कार्यों का समर्थन करने वाले दार्शनिक आदर्शवाद का निरूपण किया। अतः टैगोर के दर्शन से मानव के लौकिक क्रियाकलाप को नैतिक महत्व मिलता है।

टैगोर पूर्व तथा पश्चिम के सांस्कृतिक समन्वय के सबसे बड़े संदेशवाहक थे। यद्धपि अपने परवर्ती जीवन में पाश्चात्य पाशविकता तथा साम्राज्यवादी अहंकार के विरूद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप टैगोर अनुभव करने लगे थे कि प्रकाश पूर्व से ही प्राप्त हो सकेगा, तथापि उनकी रचनाओं में समन्वयवाद की

गहरी प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उनका राजनीतिक दर्शन आध्यात्मिक मानवतावाद से प्रभावित है। उन्होंने शक्ति की भर्त्सना की, राष्ट्रवाद का खंडन किया और सहयोग तथा भ्रातृत्व पर आधारित अवयवी सामाजिक जीवन पर बल दिया। इस प्रकार सभी प्रकार के तनावों और द्वंद्वों से विक्षिप्त और परितप्त जगत को टैगोर ने मानव-प्रेम का संदेश दिया है।

3.5.11. सारांश

तथापि उनके राजनीतिक दर्शन में कुछ कमियाँ भी हैं। उनका इतिहास की सामाजिक व्याख्या में विश्वास है, किंतु राजनीतिक तत्व को न्यून मानना भी उचित नहीं है। चूँकि राजनीति का संबंध आधिपत्य से रहा है, इसलिए उन्हें राजनीतिक तत्व घृणास्पद लगा। लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत तथा औद्योगिक प्रगति के संदर्भ में राजनीतिक तत्व भारतीय जीवन में दिनानुदिन अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि टैगोर के व्यक्तिवाद तथा समाज की अवयवी धारणा के बीच अंतर्विरोध है। उन्होंने व्यक्ति के अनन्य मूल्य का काफी गुणगान किया है। किंतु मानवतावादी व्यक्तित्ववाद का समर्थन करने के साथ ही उन्होंने कहा कि विश्व-सचेत आत्मा के लिए परिवार, समाज तथा राजनीति के द्वारा भी साक्षात्कार करना संभव है।

सच तो यह है कि टैगोर एक रहस्यवादी कवि के साथ-साथ स्वच्छंदता के पुजारी थे। इसीलिए उन्होंने आधुनिक राष्ट्रवाद की बर्बर प्रकृति को निर्ममतापूर्वक नग्न कर दिया। राष्ट्रवाद को सदैव साम्राज्यवाद लुटेरेपन, संगठित लोलुपता तथा अपराध से अभिन्न मानना अनुचित है। लेकिन यह भी सच है कि उसने मनुष्य को सामंती व्यवस्था के बंधनों से मुक्त किया है। उसने मानव को निरंकुश साम्राज्यवाद के अत्याचारों से मुक्ति प्रदान की है। वह मनुष्य को जाति, जनजाति तथा स्थान की सीमाओं से ऊपर उठने के योग्य बनाता है। राष्ट्र के विविध, बहुरंगी तथा बहुमुखी विकास के बिना विश्वराज्यवाद तथा सार्वभौमवाद के आदर्श भी अधुरे तथा काल्पनिक हैं। अतः टैगोर ने राष्ट्रवाद को चेतना हरने वाला तथा खतरनाक विष बतलाकर अतिशयोक्ति की है।

राजनीति के संबंध में टैगोर का मार्ग नैतिक था। उन्होंने साम्राज्यवादी उदंडता की बर्बर अभिव्यक्तियों का तथा नस्लगत आक्रामकता की कटु निंदा किया। इसलिए टैगोर ने नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना का समर्थन किया। उनका कहना था कि सच्चे हृदय से न्याय, शुद्धता, स्वतंत्रता आदि गुणों के अनुसार आचरण से ही राष्ट्र शक्तिशाली बन सकेंगे। अतः टैगोर ने विदेशी साम्राज्यवादियों तथा भारतीय अराजकतावादियों को नैतिक नियम की अवहेलना के लिए गंभीर तथा भावुकतापूर्ण चेतावनी दिया। साथ ही अन्य विचारकों की भाँति उन्होंने भी यह मानने से इनकार किया कि राजनीति अनैतिकता का क्षेत्र है। वे संवेदनपूर्ण, संज्ञानान्वेषी कलाकार थे, जिन्होंने राष्ट्रीय अहंकार और शेखी बघारने की प्रवृत्ति के स्थान पर सामंजस्य, सौंदर्य तथा आत्मनिर्णय से उत्पन्न सृजनात्मक वैभव का गौरवगान किया। भारतीय संस्कृति की चेतना जगाकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने राष्ट्रवाद को बुलंद किया है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

3.5.12. पारिभाषिक शब्दावली

(अ) समन्वय - जोड़ना।
(आ) इंद्रियानुभूति - इंद्रि से अनुभव करना।
(इ) राष्ट्रानुरक्ति - राष्ट्र से प्रेम-भाव।
(ई) जगन्मिथ्या - संसारिक झूठ-फरेब।
(उ) पुनर्जागरण - फिर से जागृत करना।
(ऊ) साम्राज्यवाद - राज्य क्षेत्र का विस्तार करना।

3.5.13. अभ्यास प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न-

(अ) इनमें से कौन रवीन्द्रनाथ टैगोर की पुस्तक है?
(१) गीतांजलि (२) राष्ट्रवाद
(३) स्वदेशी समाज (४) उपर्युक्त सभी

(आ) रवीन्द्रनाथ भारतीय पुनर्जागरण और स्वतंत्रता के क्या थे?
(१) आलोचक (२) नेता
(३) कवि (४) योद्धा

(इ) रवीन्द्रनाथ किसके प्रवर्तक थे?
(१) अंतरराष्ट्रवाद (२) राष्ट्रवाद
(३) दिव्य मानववाद (४) साम्राज्यवाद

(ई) रवीन्द्रनाथ किसके आलोचक थे?
(१) साम्राज्यवाद (२) राष्ट्रवाद
(३) आध्यात्मवाद (४) अंतरराष्ट्रवाद

(उ) रवीन्द्रनाथ को किसमें विश्वास था?
(१) स्वतंत्रता के राजनीतिक युद्ध में।
(२) राष्ट्रवाद में।
(३) सांस्कृतिक समन्वय तथा अंतरराष्ट्रीय एकता में।
(४) अंग्रेजी शासन में।

उत्तर- (अ) ४ (आ) ३ (इ) ३ (ई) २ (उ) ३

लघु उत्तरीय प्रश्न

(अ) रवीन्द्रनाथ को भारतीय स्वतंत्रता के ऋषि क्यों कहा जाता था?
(आ) रवीन्द्रनाथ के राजनीतिक चिंतन का दार्शनिक आधार क्या था?
(इ) रवीन्द्रनाथ का दिव्य मानववाद क्या था?
(ई) रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक पूर्णता का सिद्धांत क्या था?
(उ) रवीन्द्रनाथ का अंतरराष्ट्रवाद क्या है?
(ऊ) रवीन्द्रनाथ गांधी के किन विचारों से असहमत थे?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

(अ) रवीन्द्रनाथ के राजनीतिक विचारों का वर्णन करें।

(आ) रवीन्द्रनाथ के आत्म-स्वातंत्र्यवाद तथा आध्यात्मिक पूर्णता के सिद्धांत पर प्रकाश डालें।

(इ) रवीन्द्रनाथ के राजनीतिक चिंतन के समाजशास्त्रीय आधार क्या है?

(ई) रवीन्द्रनाथ के ऐतिहासिक दर्शन पर प्रकाश डालें।

(उ) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में टैगोर की भूमिका पर निबंध लिखें।

3.5.14. संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. वर्मा डॉ॰ वी॰ पी॰, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा-3, 1982, पृ॰ 82-117.
2. सी.पी.शर्मा एवं शशि प्रभाशर्माः भारत का राष्ट्रीय आंदोलन संवैधानिक विकास एवं संविधान, यूनिवर्सल बुक डियो जयपुर-1979, पृ0सं0-126
3. ए0आर0देसाई: भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्टभूमि मैकमिलन इंडिया लिमिटेड न्यू दिल्ली-1977, पृ0सं0-265
4. सावरकर: भारतीय इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ-3 भाग राष्ट्र धर्म, पुस्तक प्रकाशन लखनऊ-1965, पृ0सं0-18
5. दत्त, कालीकिंकर: डॉन ऑफ रिनेसां इंडिया, एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, बंबई, 1964
6. धवन, एम0एल0: भारत का राष्ट्रीय आंदोलन एवं स्वतंत्रता संघर्ष (1857-1914) भाग-1, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2003
7. दत्त, डॉ0 भूपेन्द्रनाथ: भारत का राजनीतिक इतिहास, नवभारत पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1953
8. भारती, जय प्रकाश: स्वतंत्रता-संग्राम, युवाओं का युद्धघोष 'वन्दे मातरम्', सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, सूचना विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1986
9. तेंदुलकर, डी0जी0: महात्मा, लाइफ ऑफ मोहनदास करमचंद गांधी, खण्ड-1, मिनिस्ट्री ऑफ इंफोरमेशन एण्ड ब्रॉडकास्टिंग, नई दिल्ली, 1990

खण्ड - 4 साम्यवादी एवं समाजवादी चिन्तन

इकाई - 1 भारत में साम्यवादी आंदोलन का उद्भव एवं विकास

● एम० एन० राय

इकाई की रूपरेखा

4.1.1. उद्देश्य
4.1.2. प्रस्तावना
4.1.3. साम्यवादी आन्दोलन के उद्भव
4.1.4. साम्यवादी आन्दोलन का विकास
4.1.5. मानवेन्द्र नाथ राय का परिचय
4.1.6. राय की रचनाएँ
4.1.7. राय का भौतिकवादी दर्शन
4.1.8. राय का इतिहास दर्शन
4.1.8.1. बौद्ध धर्म का समाजशास्त्र
4.1.8.2. रूसी क्रांति की व्याख्या
4.1.8.3. फासीवाद
4.1.9. राय का मौलिक मानवतावाद
4.1.10. राय का मार्क्सवादी आलोचना
4.1.11. राय का महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में विचार
4.1.12. राय का नवीन मानववाद
4.1.13. राय का राजनीतिक विचार
4.1.14. निष्कर्ष
4.1.15. कठिन शब्दावली
4.1.16. अभ्यास प्रश्न
4.1.17. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.1.1. उद्देश्य

- भारत में साम्यवादी आन्दोलन तथा चिन्तन को समझ सकेंगे।
- साम्यवादी आन्दोलन के उद्भव एवं विकास को समझ सकेंगे।
- भारतीय साम्यवाद के संस्थापक एम0 एन0 राय के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- उनके भौतिकवादी दर्शन को समझ सकेंगे।
- एम0 एन0 रय का वैज्ञानिक राजनीति एवं ऐतिहासिक दर्शन को समझ सकेंगे।
- उनके मार्क्सवादी आलोचना को समझ सकेंगे।
- उनके नवीन मानववाद को समझ सकेंगे।
- उनके राजनीतिक विचार को समझ सकेंगे।

- उनके आर्थिक विचार को समझ सकेंगे।

4.1.2. प्रस्तावना

भारत में साम्यवादी आन्दोलन की शुरूआत बौलशेविक क्रांति के पश्चात् हुआ। इस आन्दोलन के सम्पूर्ण प्राच्य जगत में गंभीर परिणाम दृष्टिगोचर हुए। मानवेन्द्र नाथ राय, माओत्से-तुंग, चाऊ-एन-लाई, जवाहर लाल नेहरू आदि प्राच्य के महत्वशाली राजनीतिक नेताओं को रूस से प्रेरणा मिली और पूर्वी जगत के परंपरानिष्ठ तथा पाण्डित्यवादी देशों में मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा प्रवेश करने लगी। मानवेन्द्र नाथ राय भारतीय साम्यवाद के संस्थापकों में से थे। शताब्दी के तीनों दशकों में राय ने ताशकन्द से लेकर भारतीय तरूणों को मार्क्सवादी सिद्धान्त सिखाने का प्रयत्न किया था। मानवेन्द्र नाथ राय के राजनीतिक दर्शन में तीन चरण देखने को मिलते हैं। पहली अवस्था में राय ने एक राष्ट्रीय क्रांतिकारी की भूमिका निभाई जो बंगाल में आतंकवादियों को धन एवं शस्त्र की सहायता देता था। दूसरे चरण में, राय ने एक कट्टर साम्यवादी की भूमिका निभाई और मैक्सिको, रूस और चीन के साथ-साथ भारत में सक्रिय रूप से साम्यवादी आन्दोलन में भाग लिया। तीसरे चरण में, राय ने एक उदार मानवतावादी के रूप में कार्य किया और मार्क्सवाद को त्याग दिया। नये मानवतावादी के रूप में राय ने मानव की आध्यात्मिक स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद की भावना का स्थान विश्व बंधुत्व की भावना ले, इस बात का प्रचार किया। इसके अलावा राय राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी चाहते थे।

4.1.3. साम्यवादी आन्दोलन के उद्भव

नवम्बर 1917 की बौलशेविक क्रान्ति के बाद भारत में साम्यवादी आंदोलन का जन्म हुआ था। इस आंदोलन के भयंकर विस्फोटक परिणाम हुए थे। दलित तथा शोषित वर्ग मास्को को एक नया स्वर्ग समझने लगे और लेनिन को एक नये मसीहा के रूप में पूजने लगे। मानवेन्द्र नाथ राय भारतीय साम्यवाद के संस्थापकों में से एक थे। उन्होंने ताशकन्द में कुछ लोगों को मार्क्सवादी सिद्धान्त सिखाने का प्रयत्न किया। तीन दशकों तक राय ने अपनी ओजस्वी रचनाओं के द्वारा अन्य भारतीय तरूणों को मार्क्सवादी विचारधारा में दीक्षित करने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही लाला हरदयाल तथा सोहन सिंह ने भारत के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने के हेतु कैलीफोर्निया में गदर पार्टी की स्थापना की, जिसमें अधिकतर सिख शामिल थे। तीसरे दशक के प्रारंभ में गदर पार्टी के संतोख सिंह, रतन सिंह, गुरूमुखसिंह आदि कुछ सदस्य मास्को के साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय के चतुर्थ सम्मेलन में भाग लेकर सोवियत संघ का समर्थन करने का वचन दिया। बम्बई के श्रीपत अमृत डांगे एक पुराने बौलशेविक हैं और रजनी पामदत्त विदेशों में भारतीय साम्यवाद के प्रमुख प्रवक्ता तथा भारतीय साम्यवादियों के गुरू और पथ प्रदर्शक रहे हैं। एस0 टैगोर ने भारत में क्रांतिकारी साम्यवादी दल का संगठन किया था। वे एम0 एन0 राय के कट्टर विरोधी थे।

मुजफ्फर अहमद के कथनानुसार भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना देश के बाहर हुई थी, उसे 1921 में साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय से सम्बद्ध किया गया था। उनका कथन है कि उसकी स्थापना 1920 के अंत में ताशकन्द सैनिक स्कूल में हुई थी। तथापि संभवतः 1924 में उत्तर प्रदेश के सत्यभक्त के अभिक्रम से भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना हुई। हलाँकि प्रारंभ से ही भारतीय साम्यवाद की प्रेरणा का स्रोत रूस रहा है, तथापि अपने प्रारंभिक काल में साम्यवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम से अपना सम्बन्ध रखा। कानपुर षड़यंत्र अभियोग में श्रीपत डांगे, नलिनी गुप्त, मुजफ्फर अहमद तथा शौकत

उस्मानी, इन चार व्यक्तियों पर मुकद्दमा चलाया गया और राजद्रोह के अपराध में उन्हें दण्ड दिया गया, जिसके फलस्वरूप भारत में साम्यवाद की प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1929 में मेरठ षड़यंत्र अभियोग चला, जिसमें दो दर्जन से अधिक व्यक्ति को लम्बे कारावास का दण्ड दिया गया। 1926-27 में जार्ज एलीसन, फिलिप स्प्राट आदि कुछ ब्रिटिश साम्यवादी भारत आए और साथ में एस0 सकलतवाला नामक एक पारसी सज्जन भी आए। वे ब्रिटिश संसद के लिए निर्वाचित कर लिए गए थे। उन्होंने महात्मा गाँधी के साथ विचार-विमर्श किया। फिलिप स्प्राट ने बम्बई के मजदूर एवं किसान दल को मजबूत बनाने में सहायता दी थी। 1936 में एन0 जी0 रंगा तथा सहजानन्द सरस्वती ने अखिल भारतीय किसान सभा का संगठन किया और साम्यवादियों ने उस पर अपना नियंत्रण कायम करने का प्रयास किया। चूँकि सहजानन्द पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव था, इसलिए वे साम्यवादी किसान सभा पर अपना अधिकार जमाने में सफल हुए।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान जब कांग्रेसी नेता कारागार में थे और विदेशी सरकार राष्ट्रीय शक्तियों को कुचलने के लिए दमन और आतंक की नीति का अनुसरण कर रही थी, उस समय साम्यवादियों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। साम्यवादियों ने चतुराई के साथ अखिल भारतीय किसान सभा पर भी अधिकार कर लिया। 1948 में साम्यवादी दल ने दक्षिण में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कीं, किन्तु उप-प्रधानमंत्री सरदार पटेल ने उनके विरूद्ध कठोर कार्यवाही किया और संसद द्वारा विद्रोहात्मक कार्यवाहियों को रोकने के लिए निवारक नजरबन्दी कानून पास करवाया। इसके बाद साम्यवादी दल ने अपने को जनता के दल के रूप में निर्मित करने का प्रयत्न किया जिससे वह सामूहिक कार्यवाहियाँ कर सके और श्रमिकों तथा किसानों को संगठित करने में सफल हो सके। 1951 से साम्यवादी भारतीय संसद में एक महत्वशाली प्रतिपक्षी गुट के रूप में काम करते आये हैं।

4.1.4. साम्यवादी आन्दोलन का विकास

भारतीय साम्यवादी मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इतिहास की भौतिक व्याख्या को स्वीकार करते हैं। इसलिए वे देश के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास और राजनीतिक समस्याओं की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। राहुल सांस्कृत्यायन ने बतलाया कि भारत के सामाजिक विकास की प्रक्रिया के मूल में वर्ग-संघर्ष ही मुख्य तत्व था। साम्यवादियों की दृष्टि में गाँधीवादी आंदोलन पूँजीपति वर्ग का आन्दोलन था। उसका उद्देश्य था कि विदेशी साम्राज्यवादियों के हाथों से राजनीतिक शक्ति छीन ली जाय और उसका प्रयोग पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करने के लिए किया जाय। उन्होंने गाँधीवाद की यह कहकर भर्त्सना की कि वह एक वर्ग-सहयोग की विचारधारा है और अहिंसा तथा न्यासधारिता का उपदेश देकर सर्वहारा क्रांति की उग्रता को शांत करने का प्रयत्न करती है। उनके अनुसार गाँधीवाद सर्वहारा के उग्रवाद का शत्रु था। भारतीय साम्यवादियों का महात्मा गाँधी के प्रति दृष्टिकोण सोवियत दृष्टिकोण के साथ-साथ बदलता रहा है। अब वे उन्हें सर्वहारा के हितों का पथभ्रष्ट विरोधी नहीं मानते। ई0 एम0 एस0 नाम्बूद्रीपाद तथा हीरेन मुकर्जी की रचनाओं में गाँधीजी के व्यक्तित्व के प्रति आदर प्रकट किया गया है और उन्हें भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयत्न किया है।

भारतीय साम्यवादियों ने भारतीय राष्ट्रवाद के नेताओं को फासीवादी माना और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों से समझौता कर पाकिस्तान की पृथकतावादी माँग का समर्थन किया। उनका तर्क था

कि जहाँ कहीं भी एक निश्चित प्रादेशिक इकाई में बसने वाले मुसलमान एक राष्ट्र-जाति बन चुके हों वहाँ उन्हें स्वायत्ततापूर्ण राज्य के रूप में जीवन बिताने का निश्चित अधिकार है, जैसाकि भारत की आंध्र, कर्नाटकी, मराठी, बंगाली आदि जातियों को है। साम्यवादियों ने पाकिस्तान की माँग का ही समर्थन नहीं किया, बल्कि उन्होंने इस विघटनकारी धारणा का भी प्रतिपादन किया कि भारत में अनेक राष्ट्र-जातियाँ हैं। भारतीय साम्यवादियों ने माना कि भारत एक बहुराष्ट्रीय देश है। वे आंध्र, कर्नाटक, केरल आदि अहिन्दी क्षेत्रों में अधिक शक्तिशाली हैं। इस प्रकार प्रादेशिक विघटनकारी तत्वों के साथ साम्यवादियों की साँठगाँठ भारतीय राजनीति में एक खतरनाक तत्व है। भारत में साम्यवादी आंदोलन देश की एकता तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए गंभीर खतरा है।

साम्यवादियों को संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास नहीं है। उन्हें सोवियतों पर आधारित जनता के लोकतांत्रिक राज्यों में विश्वास है। साम्यवादी दल ने भारतीय गणतंत्रात्मक संविधान की आलोचना की थी। वह उसे जमींदारों और पूँजीपतियों का संविधान मानता था। उसने संविधान के संकटकालीन प्रावधानों का भी विरोध किया है, क्योंकि उसके विचार में यह नौकरशाही की शक्ति में वृद्धि करता है। दल का मत है कि संविधान का उद्देश्य अर्थतंत्र, भूमि तथा पूँजी पर जमींदारों, राजाओं तथा साम्राज्यवादियों का शिकंजा मजबूत करना है।

इससे स्पष्ट होता है कि साम्यवादी देश के राजनीतिक एकीकरण को समाप्त करना चाहते हैं और आत्मनिर्णय के सिद्धांत की आड़ में सब राष्ट्र-जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देकर तथा भारतीय राज्य के प्रति भक्ति को एच्छिक बनाकर भारतीय संघ को छिन्न-भिन्न कर देना चाहते हैं। भारतीय साम्यवादियों ने राजनीतिक, आर्थिक अथवा समाजशास्त्रीय सिद्धांत के क्षेत्र में कोई योग नहीं दिया है। दरअसल उनकी मार्क्सवाद-लेनिनवाद- स्तालिनवाद के मूल ग्रंथों में गंभीर आसक्ति होने के कारण उनके लिए सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में किसी प्रकार का मौलिक चिन्तन करना संभव ही नहीं है। उन्होंने भारतीय राजनीतिक जीवन के दुर्बल पहलुओं से लाभ उठाने में अतिशय चतुराई का परिचय दिया है। यह विडंबना ही है कि रूस में साम्यवादी दल के लौह नियंत्रण के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकीकरण हुआ है, किन्तु भारतीय साम्यवादी बहुराष्ट्रवाद तथा उपराष्ट्रवाद के सिद्धांत का पोषक बनकर विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे रहा है।

4.1.5. मानवेन्द्र नाथ राय का परिचय

आधुनिक भारत के अत्यन्त प्रभावशाली, मानवतावादी और क्रांतिकारी विचारक मानवेन्द्र नाथ राय का जन्म 6 फरवरी, 1886 को बंगाल के 24 परगना जिले में हुआ था और उनकी मृत्यु 25 जनवरी, 1954 को हुआ। उनका प्रारंभिक नाम नरेन्द्र भट्टाचार्य था। जिसे बाद में मानवेन्द्र नाथ राय रखा गया था। उनकी शिक्षा कलकत्ता में ही पूरी हुई। वे अपने विद्यार्थी जीवन से ही क्रांतिकारी बन गए थे। साथ ही हाईस्कूल की परीक्षा पास करने से पहले वे क्रांतिकारी आंदोलन में कूद पड़े थे। प्रारंभ में उनपर स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा दयानन्द सरस्वती का प्रभाव पड़ा था। जिस समय बंगाल में स्वदेशी आंदोलन के कारण काफी उथल-पुथल मची थी, उसी काल में उन्हें राजनीतिक बोध हुआ और उन्होंने अपना राजनीतिक कार्यकलाप प्रारंभ कर दिया। उनके मन में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के विचारों के प्रति बड़ा उत्साह था। पाल तथा बनर्जी की वाकपटुता ने उनको स्पन्दित कर दिया। उन्हें विनायक दामोदर सावरकर के त्याग तथा यंत्रणाओं से गहरी प्रेरणा मिली। 1910 में राय को

हावड़ा षड़यंत्र अभियोग में कारावास का दण्ड दिया गया। 1915 में उन्हें षड़यंत्र के तहत कलकत्ता में डकैती के आरोप में बन्दी बना दिया गया। परन्तु किसी तरह वे 1915 में ही डच भाग गये और विभिन्न देशों का भ्रमण किया। अमेरिका में उनका सम्बन्ध शेरे पंजाब लाला लाजपत राय से हुआ और उन्होंने उनके साथ काम किया। कहा जाता है कि बौलशेविक क्रांति के बाद लेनिन ने उन्हें रूस बुला लिया। वे 1920 के प्रारंभ में रूस पहुँचे और औपनिवेशिक समस्याओं पर बौलशेविक पार्टी के सलाहकार बन गए। मेक्सिको की क्रान्ति में उन्होंने एतेहासिक योगदान किया, जिससे उनकी प्रसिद्धी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो गयी। उनके कार्यों से प्रभावित होकर थर्ड इंटरनेशनल में इन्हें आमंत्रित किया गया था और उन्हें उसके अध्यक्षमंडल में स्थान दिया गया। 1921 में वे मास्को के प्राच्य विश्वविद्यालय के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। 1926 ई0 के अंत में उन्हें साम्यवादियों की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की ओर से मुख्य प्रतिनिधि के रूप में चीन भेजा गया, जहाँ वे 1927 के अन्त तक रहे। इनके स्वतंत्र विचारों से वहाँ के नेता सहमत न हो सके और मतभेद उत्पन्न हो गया। रूसी नेता इस पर इनसे क्रुद्ध हो गये और स्टालिन के राजनीतिक कोप का इनको शिकार बनना पड़ा। 1930 में स्टालिन के लाल क्षेत्रवाद से विरोध हो जाने पर राय वेश बदलकर भारत आ गए। उन्हें कानपुर षड़यंत्र केस में छह वर्ष (1931-1936) के लिए कारागार में डाल दिया गया। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के निर्वासन तथा छह वर्ष के कारावास के बाद 1936 में राय भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से प्रवेश किया।

4.1.6. राय की रचनाएँ

एम0 एन राय की कई महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिसमें उन्होंने अपने मनोभाव को दर्शाया है। उनकी रचनाएँ निम्न हैं-

1. 1922 में राय ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया इन ट्रांजीशन' (संक्रमणकालीन भारत) में समकालीन भारत का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया। उस रचना में उसने कुछ किसान विद्रोहों, हड़तालों का उल्लेख किया और बतलाया कि वृहत उद्योग ही भारत के भविष्य का निर्धारण करेगा।
2. 1922 के अन्त में राय ने 'इण्डियाज प्रॉब्लम्स एण्ड देयर सॉलूशन' (भारत की समस्याएँ तथा उनका समाधान) नामक पुस्तक प्रकाशित किया। इस पुस्तक में उन्होंने पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टि से गाँधीवादी सामाजिक विचारधारा की मध्ययुगीनता तथा पुरातनवाद की आलोचना किया।
3. 1923 में राय ने 'वन इयर ऑफ नॉन-कोऑपरेशन' (असहयोग का एक वर्ष) नामक पुस्तक प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने महात्मा गाँधी को उनके ऋषितुल्य व्यक्तित्व के लिए श्रद्धांजलि अर्पित किया।
4. 1926 में मानवेन्द्र नाथ राय ने 'द फ्यूचर ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स' (भारतीय राजनीति का भविष्य) नामक पुस्तक लिखा जिसमें उन्होंने एक लोक दल का महत्व समझाया।
5. 1947 में राय ने 'साइंटिफिक पॉलिटिक्स' (वैज्ञानिक राजनीति) नामक पुस्तक प्रकाशित किया। साथ ही 'न्यू ओरियंटेशन' (नवीन स्थिति-निर्धारण) तथा 'बियौंड कम्यूनिज्म टू ह्यूमेनिज्म' (साम्यवाद से परे मानववाद की ओर) जैसी रचनाओं में राय ने उग्रवाद तथा अविकल मानववाद के दर्शन का निरूपण किया।

इन रचनाओं के अतिरिक्त एम0 एन0 राय ने 'प्लैंटी और पावर्टी' (दरिद्रता और बाहुल्य), माई एक्सपीरियेंस ऑफ चाइना, रिवोल्युसन एण्ड कॉउंटर रिवोल्युसन इन चाइना, न्यू ह्यूमेनिज्म, रीजन रोमानटीसीज्म एण्ड रिवोल्युसन एवं मेटेरियलिज्म आदि रचनाएँ प्रकाशित कर अपनी मनोदशा एवं मनोभाव को दर्शाया है।

4.1.7. राय का भौतिकवादी दर्शन

मानवेन्द्र नाथ राय पूर्ण भौतिकवादी थे। भौतिकवाद एकत्ववादी चिन्तनधारा है किन्तु उनका परम भौतिकवाद उन्हें इस धारणा को स्वीकार करने से नहीं रोकता कि द्रव्य की अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ अनेक होती हैं। उनके अनुसार भौतिकवाद ब्रह्माण्ड के विकास और प्रक्रियाओं की व्याख्या है, उसका अर्थ इन्द्रियपरायण अहंवाद कदापि नहीं है। उनका विचार है कि इंद्रिय प्रत्यक्ष ही सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का आदि स्रोत है। हम अपने अनुभव के द्वारा ही भौतिक जगत् का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैंए आप्त.वाक्य हमें असंदिग्ध ज्ञान कभी नहीं प्रदान करते। इन्द्रिय प्रत्यय द्वारा हम वस्तुओं को उसी रूप में जानते हैंए जिस रूप में वे हैं। कांट के विपरीत राय का मत है कि 'वास्तविक जगत्' तथा 'प्रतीतिक जगत्' में कोई भेद नहीं हैए हम अपने अनुभव द्वारा जिस जगत् को जानते हैं, वही वास्तविक जगत् है। इसी प्रकार के बकली के मत का भी खंडन करते हैं कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व हमारे प्रत्ययों पर ही निर्भर है। राय का कथन है कि हम प्रत्ययों को नहीं बल्कि प्रत्यक्षतरू बाह्य वस्तुओं को ही जानते हैं। बाह्य वस्तुओं का हमारे मन से पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व है। अतः ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से बकली का यह मत दोषपूर्ण है कि अंततरू भौतिक जगत् का अस्तित्व हमारे मानसिक जगत् पर ही निर्भर है। राय के अनुसार बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या के लिए ईश्वर की सत्ता का आधार लेना आवश्यक है। राय ने स्पष्ट किया कि कभी-कभी धर्म की आड़ में भी कुत्सित स्वार्थवाद को आचरित किया गया है। लेनिन की भाँति राय का भी विश्वास था कि विज्ञान तथा दर्शन की प्रगति ने भी भौतिकवादी सिद्धांत की पुष्टि की है। किन्तु भौतिकवादी होते हुए भी राय द्वन्द्ववाद के आलोचक थे। राय बुद्धिवादी थे। उन्होंने वैशेषिक तथा न्याय दर्शन का भौतिकवादी पद्धति से निर्वचन करने का प्रयत्न किया। चूँकि 'भौतिकवाद' नाम के साथ अनेक भ्रान्तियों का संयोग है, इसलिए राय उसे 'भौतिकीय यथार्थवाद' नाम देना चाहते थे।

4.1.8. राय का इतिहास दर्शन

अपनी पुस्तक - 'संक्रांति के दौर का भारत' में राय लिखते हैं - ''अंग्रेजों के शोषण के बावजूद देशी सामंत इस हकीकत के प्रति जागरूक नहीं है कि उनका अस्तित्व विनाश के कगार पर खड़ा है। ब्रिटिश सरकार की कृपा दृष्टि के कारण ही ये समाज में एक दकियानूसी तत्व की तरह बरकरार रखे गये हैं। ब्रिटिश सत्ता कभी भी विलुप्त होते सामंतवाद के इन वंशजों पर आधारित नहीं रही है। भारत की सरकार ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि थी। इसके बावजूद भारत की सरकार ने इन्हें सामाजिक व्यवस्था पर आरोपित करके बनाये रखा है। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि उनका अस्तित्व ब्रिटिश सत्ता के कारण ही था। इसीलिए वे पूरी तरह से ब्रिटिशों के समर्थक थे। किसी भी संकट के समय वे उनकी सहायता करने को तत्पर रहे। एक युद्ध में उन्होंने ऐसा करके दिखाया भी। इतनी स्पष्टवादिता राय को निश्चित ही एक क्रांतिकारी की श्रेणी में रखती है। उनका लेखन कभी भी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं रहा। जिस

ब्रिटिश, साम्राज्य की वे आलोचना करने से नहीं चूकते थे, तो दूसरी तरफ जरूरत पड़ने पर वे उसके साथ खड़े हुये दिखलाई पड़ते थे। इसके अतिरिक्त उनके ऐतिहासिक दर्शन के मुख्य आधार निम्न है-

4.1.8.1. बौद्ध धर्म का समाजशास्त्र

मानवेन्द्र नाथ राय ने भारतीय आध्यात्मवाद की निन्दा की और उन्होंने शंकराचार्य के वेदान्त दर्शन के आदर्श का तिरस्कार किया। कट्टर भौतिकवादी होने के कारण राय वेदान्ती प्रत्ययवाद के शत्रु थे। उनकी मान्यता थी कि शंकर और रामानुज का प्रत्ययवाद मध्ययुगीन मानसिक संकीर्णता और पाण्डित्यवाद के भार का द्योतक था। वह बौद्ध आन्दोलन की मुक्तिदायी भूमिका के विरूद्ध ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया था। राय बौद्ध धर्म में निहित क्रांतिकारी प्रवृत्तियों को समझते थे। बौद्ध धर्म ने परम्परागत धर्म-विद्या तथा पुरोहित वर्ग पर भयंकर प्रहार किए थे। बुद्ध ने परोपजीवी वर्ग की विलासिता के विरूद्ध विद्रोह का शंखनाद किया। बौद्ध धर्म ने एक समृद्ध तथा गौरवशाली सभ्यता की नींव तैयार की। किन्तु मध्ययुग में ब्राह्मणों के आक्रामक धार्मिक आन्दोलन ने प्रतिक्रिया, गतिहीनता तथा पतन की विजय का मार्ग प्रशस्त किया। भारत के इतिहास में सबसे दुःखद घटना यह थी कि बौद्ध क्रांति को ब्राह्मणों की प्रतिक्रांति ने, जिसे लोक-प्रचलित अन्धविश्वास, कट्टरता तथा अज्ञानता से बल मिला था, परास्त कर दिया। जिस भारतीय आध्यात्मकवाद को विवेकानन्द, अरविन्द और आगे गाँधीजी ने रहस्यवाद की ऊचाईयों पर पहुँचाया, मानवेन्द्र नाथ राय उस आध्यात्मवाद के प्रति कभी आकृष्ट नहीं हुए। उन्होंने भारतीय मुनि और मनीषियों के इस वक्तव्य को भी अस्वीकार किया कि परिश्रमी लोग भारतीय आध्यात्मवाद के लिए बेताव है। उनका मानना था कि भारतीय आध्यात्मवाद की प्रशंसा का अर्थ होगा उसकी पिछड़ी हुई अवस्था को पुनर्जिवित या स्वीकार करना, जो पूँजीवादी व्यवस्था से पूर्व भारत में प्रचलित थी। अतः उनकी नजर में पश्चिम की तुलना में भारत द्वारा अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता का दावा करना अतिश्योक्तिपूर्ण है।

4.1.8.2. रूसी क्रांति की व्याख्या

एम0 एन0 राय ने रूसी क्रांति का वर्णनात्मक वृत्तांत लिखा है। वे रूसी साम्यवाद को राज्य-पूँजीवाद मानते थे। उन्हें आशा थी कि प्रारंभिक मार्क्सवादियों के स्वप्नों को साकार करने के लिए रूस में एक अन्य क्रांति होगी। उनका 'रशियन रिवोलूशन' एक विशाल ग्रंथ है। वे उसे आकस्मिक परिस्थितियों के संयोग से उत्पन्न ऐतिहासिक घटना का परिणाम मानते थे। राय का कथन था कि रूस में सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ इतनी परिपक्व नहीं हुई थीं कि सामाजिक क्रांति अनिवार्य हो जाती। 1921 के बाद रूसी राज्य की नीतियाँ शुद्ध व्यावहारिक आवश्यकताओं से संचालित हुई हैं। साम्यवादी आन्दोलन को रूसी राज्य के स्वार्थों की सिद्धि का एक साधन बना लिया गया है और गैर-सर्वहारा वर्गों की उपेक्षा की गयी है।

4.1.8.3. फासीवाद

मानवेन्द्र नाथ राय फासीवाद के विरोधी थे। उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध को प्रजातंत्र और फासीवाद के बीच का संघर्ष बताया। यही कारण था कि उन्होंने मित्र राष्ट्रों का जर्मनी के विरूद्ध बिना शर्त समर्थन देने की वकालत की। वे नहीं चाहते थे कि किसी ऐसी नीति का अनुसरण किया जाय जिसे मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयत्नों को किसी प्रकार का आघात पहुँचे। वे उपनिवेशवाद के कट्टर विरोधी थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जैसी स्थिति बन रही थी, उसमें उनका मानना था कि आर्थिक उपनिवेशहीनता का क्रम अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर मजबूर कर देगा। द्वितीय महायुद्ध की परिस्थितियों के दौरान ही भारत की धरती पर

फासीवाद के प्रवेश की आशंका से चिंचित राय ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को भी सतर्क किया था। राय का मानना था कि फासीवादी विरोधी आंदोलन व्यापक एवं विस्तार रूप में हो तथा यह कोशिश होनी चाहिए कि सभी देश एक होकर इस बात को समझें कि फासीवाद हमेशा से ही राजनीतिकस्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक उत्थान एवं बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रगति के विरोधी रहे हैं। इसलिए उनका मानना था कि फासीवाद को पूरी तरह से ही खत्म करना होगा।

राय ने सिर्फ फासीवाद आंदोलनों का ही विरोध नहीं किया बल्कि फासीवाद विचारधारा से लड़ने के लिए भी प्रेरित किया। उनके अनुसार ''फासीवाद सिर्फ यूरोपियन परिघटना नहीं है। जहाँ तक भारत वर्ष का सवाल है यह विचारधारा भारतीय परम्परा में भी पाई जाती है। फासीवाद के विरूद्व लड़ाई सिर्फ युद्ध तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारतवर्ष के अंदर (सामाजिक स्तर पर) समाये हुये तत्वों के विरूद्व भी लड़ना है।'' इसीलिए उन्होंने सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन की निन्दा की। उनका मानना था कि कांग्रेस ने उन खतरों को ध्यान में नहीं रखा जो फासीवाद के विरूद्ध युद्ध प्रयत्नों को विफल करने से उत्पन्न हो सकते थे। कांग्रेस को उन्होंने नवीन फासीवाद का संगठन तक कहा। उन्होंने औद्योगिक और आर्थिक संरक्षकों को भारत छोड़ो आन्दोलन का एक आविष्कार बनाया। उनका कहना था कि कांग्रेस को सत्ता सौंपने का अर्थ होगा- भारत में फासीवाद तानाशाही की स्थापना। उनका मानना था कि फासीवाद मानव व्यक्तित्व को पतित कर देता है और मनुष्य के नैतिक मूल्यों पर कुठाराघात कर उसे पूरी तरह समाप्त कर देता है। इसलिए यह पिछड़ेपन का दर्शन है। फासीवाद का उद्देश्य पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को बढ़ावा देना है तथा विचारधारा और तर्क से पीछे हटने को मजबूर करना है। इससे एक छोटे से वर्ग के द्वारा बहुसंख्यकों की स्वतंत्रता का दमन होता है। इसलिए वह भारत से भी मित्र राष्ट्रों का साथ देने का आग्रह करते थे।

4.1.9. राय का मौलिक मानवतावाद

एम0 एन0 राय प्रारंभ में मार्क्सवादी विचारधारा के अग्रणी नेता के रूप में स्थापित थे। लेकिन बाद में मार्क्सवाद के प्रति स्पष्ट दृष्टिकोण न रखने के कारण वे अधिक समय तक मार्क्सवादी नहीं रह सके। वह 1940 ई0 से 1947 ई0 तक अपनी विचारधारा में परिवर्तन की प्रक्रिया मार्क्सवाद से मूलवाद के रूप में सामने लाए। 1940 ई0 में उन्होंने रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का गठन किया तथा राजनीति को एक वैज्ञानिक दिशा देने की कोशिश की। वे यह भी चाहते थे कि राजनीति एक जीवन-दर्शन द्वारा निर्दिष्ट होनी चाहिए। उन्होंने वैज्ञानिक राजनीति की प्रस्थापनाओं के सामाजिक आधारों पर अधिक बल दिया है। वे राजनीति-चिन्तन में योगदान करने के लिए राष्ट्रवादी तथा साम्यवादी मनोवृत्ति पर विजय पाना आवश्यक मानते हैं। उनकी भावना थी कि वैज्ञानिक राजनीति भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र के आधार पर ही निर्मित की जा सकती है। पूँजीवादी नियोजन प्रभावकारी माँग के सिद्धांत को लेकर चलता है। इसके विपरीत राय का पक्ष था कि उत्पादन भारत के करोड़ों दरिद्र तथा शोषित लोगों की मानवीय माँगों की पूर्ति को ध्यान में रखकर नियोजित किया जाय। उनके अनुसार खेतिहर वर्गों की क्रय-शक्ति में वृद्धि आवश्यक था। उनका कहना था कि यदि सामाजिक माँग को पूरा करने के लिए उद्योग स्थापित किए जा सकें तो औद्योगीकरण का विकास होगा और साथ ही खेती में लगे हुए विशाल जनसमूह में से बड़ी संख्या को उद्योगों में लगाया जा सकेगा। इसके यंत्रीकृत कृषि का प्रारंभ करना सुगम होगा। राय यह भी चाहते थे कि भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में किसानों के अधिकार सुनिश्चित कर दिए जायँ। उन्होंने कहा

कि राजनीतिक नियोजन के बिना आर्थिक नियोजन कोरी कल्पना सिद्ध होगी। उनका मत था कि पूर्व में विचारधाराओं की अपूर्णताओं और गलतियों की वजह से समकालीन जीवन में क्षरण और अनैतिकता आई है। इसलिए उन्होंने एक नवीन क्रांतिकारी सामाजिक और राजनीतिक दर्शन की आवश्यकता बतलाई जो मानव जीवन को न केवल स्फूर्त करे बल्कि संचारित भी कर सके।

4.1.10. राय का मार्क्सवादी आलोचना

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि राय मार्क्सवाद से अपना सम्बन्ध धीरे-धीरे विच्छिन्न कर लिया था। वे मार्क्स को तत्वतः एक मानववादी और स्वतंत्रता का प्रेमी मानते थे। इसलिए वे मार्क्सवाद को आर्थिक नियतिवाद की कट्टरता से मुक्त करके उसके मानववादी, स्वातंत्र्यवादी तथा नैतिक सार की पुनः प्रतिष्ठा करना चाहते थे। उन्होंने निम्नलिखित आधारों पर कार्ल मार्क्स की आलोचना की।

अतिरिक्त पूँजी, पूँजीवाद की विशेषता है, राय इसे स्वीकार नहीं करते थे। उनका मानना था कि कोई समाज विकास नहीं कर सकता और न ही पूँजी एकत्र हो सकती है जबतक कि खपत से अधिक उत्पादन न हो और अतिरिक्त पूँजी को उत्पादन बढ़ाने में पुनः नियोजित न किया जाय। इसलिए अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता रहती है।

मानवेन्द्र नाथ राय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को स्वीकार नहीं करते थे। उनका मत था कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्राकृतिक गतिविधियों की भूमिका को पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया है। उनका मानना था कि श्रेणी और क्रांति वह साधन है जिनसे इतिहास में परिवर्तन होता है तथा उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों द्वारा ही उन स्थितियों का निर्माण होता है, जो इस परिवर्तन के कारण बनती हैं। ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक काल में धर्म, कला, दर्शन, संस्कृति तथा कानून आदि सभी की स्थिति आर्थिक संरचना पर होती है, राय इसे मानने से इंकार करते हैं और मार्क्स द्वारा दिए गए विकास के सिद्धांत को अबुद्धिमत्तापूर्ण मानते हैं। इतिहास मनुष्य द्वारा स्वतंत्रता की खोज की कहानी है और एक ऊँचे स्तर पर पहुँचकर ही वह सामूहिक बनाती है। उन्होंने इसे विकास की जैविक प्रक्रिया माना है। वे यह स्वीकार नहीं करते कि केवल आर्थिक शक्तियाँ ही इतिहास के दौर में परिवर्तन लाती हैं। राय आर्थिक कारण को सर्वोपरि महत्व देने को तैयार नहीं थे। उन्होंने बताया कि जीवविज्ञान ने मानवता की आरंभिक गतिविधियों को प्रेरित किया, अर्थशास्त्र ने नहीं। राय के शब्दों में, ''इतिहास मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक संघर्ष की पद्धति का अनुसरण नहीं करता। यह सृजातीय, जनसमुदाय की ऐसी गति है जिससे वह अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की स्थिति में पहुँचता है। ऐसा करते हुए वह सुमेलीकरण की अनेक प्रक्रियाओं को पार करते हैं।'' राय मार्क्सवाद द्वारा व्यक्तिवाद की उदारवादी संकल्पना की अस्वीकृति की निन्दा करते हैं। उन्होंने कहा है कि यह मानवतावाद के प्रतिकूल है। एक मानवतावादी नीतिशास्त्र मनुष्य की प्रभुसत्ता को बड़ा स्थान देता है और वह स्वतंत्रता और न्याय को एक आवर्तनशील विरासत का रूप देने में विश्वास करता है।

मार्क्सवादी दर्शन के वर्ग-संघर्ष की राय आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि मार्क्स के दो वर्गों- सर्वहारा और बुर्जुआ के अतिरिक्त भी समाज में वर्ग विद्यमान है। तनाव और संघर्ष के अतिरिक्त एक सामाजिक एकता लाने वाला संबंध भी प्रभावी रहा है। साथ ही समाज का विभक्तिकरण विरोधी दिशाओं, विरोधी उद्देश्य तथा मार्क्स की कल्पना के अनुसार नहीं हुआ है। एम0 एन0 राय का मानना है कि मार्क्स एक असत्य भविष्यवक्ता सिद्ध हुए हैं। क्योंकि मार्क्स ने अपनी भविष्यवाणी में मध्यम वर्ग के

अदृश्य हो जाने की कल्पना की थी। जबकि इतिहास गवाह है कि आर्थिक प्रक्रिया के विस्तार से मध्यम श्रेणी में वृद्धि ही हुई है। यहाँ तक कि संसार के इतिहास में सांस्कृतिक और राजनीतिक नेतृत्व मध्यम श्रेणी ने ही प्रदान किया है।

मानवेन्द्र नाथ राय कर्मचारी वर्ग ही तानाशाही के विचार के विरोधी थे। लेकिन सच तो यह है कि उनकी नजर में व्यक्ति का महत्व श्रेणी से अधिक था, चाहे वह श्रेणी मध्यम वर्ग की हो या कर्मचारियों की। उनका मानना था कि आज के युग में संघर्ष सभी कुछ निगल जाने वाले अहंकारी राष्ट्र अथवा श्रेणी या स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे व्यक्तियों के बीच है। उनका कथन था कि मध्यम श्रेणी को गर्व का स्थान दिया जा सकता है, न ही श्रमिक वर्ग को। मार्क्स के क्रांति संबंधी सिद्धांत की भी राय ने आलोचना किया। उनका मानना था कि श्रमिक वर्ग की तानाशाही और क्रांति की विचारधारा का परिणाम पूर्णतः तनाव को जन्म देगा। क्रांति से कोई चमत्कार उत्पन्न होनेवाला नहीं है। एक भौतिकवादी, मानववादी होने के नाते उनका मानना था कि क्रांति वर्ग-संघर्ष के द्वारा या हिंसा द्वारा नहीं लाई जानी चाहिए। क्रांति अवश्य होनी चाहिए परन्तु शिक्षा द्वारा, न कि हिंसा द्वारा। उन्होंने कहा कि ''हमें साम्यवाद के वंचनात्मक विचार से बहुत आगे दृष्टि डालनी चाहिए, यदि संभावित विभीषिका को हमें टालना है तो मानव की सर्जनात्मक प्रवीणता के प्रति विश्वास होना चाहिए और यह मानना चाहिए कि मानव मस्तिष्क की सर्जना क्षमता अभी लुप्त नहीं हुई है।''

4.1.11. राय का महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में विचार

मानवेन्द्र नाथ राय ने अपनी पुस्तक 'असहयोग का एक वर्ष' में गाँधीजी को भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की है। उन्होंने गाँधी की तुलना थॉमस एक्विनॉस, सावीनरोला तथा असीसी के फ्रांसिस से की है। गाँधीजी ने 1919 से 1922 तक सामूहिक कार्यवाही को संगठित करने के लिए जो प्रयत्न किए थे, उनकी राय ने सराहना की। उनके रचनात्मक योगदान को स्वीकार किया। परन्तु राय ने अपनी पुस्तक में गाँधीवाद की अनेक कमियों पर भी प्रकाश डाला। उनका कहना था कि गाँधीवाद में जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं था। वह भारत के सभी वर्गों-जमींदारों, पूँजीपतियों, शोषकों और शोषित किसानों तथा मजदूरों- को संयुक्त करना चाहता था। राजनीतिक कार्यवाही में तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों को समाविष्ट नहीं किया गया था। चर्खा का प्रतिक्रियावादी अर्थशास्त्र राय को अरूचिकर लगा। राय ने गाँधी की ढुलमुल नीति की भी आलोचना किया। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि गाँधीजी वाइसराय से भेंट करने का प्रयत्न करें। इसीलिए उन्होंने कहा था कि गाँधीवाद क्रांतिवाद नहीं है बल्कि दुर्बल तथा निस्तेज सुधारवाद है।

राय के अनुसार सविनय अवज्ञा को स्थगित करना तथा स्वराज दल का संगठन करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने की दिशा में एक कदम था। राय स्वराज दल को पूँजीपतियों तथा जमींदारों के हितों का पक्का समर्थक मानते थे। उनका कहना था कि गाँधीजी का अहिंसा पर भरोसा देशी शोषकों के विरूद्ध जन समुदाय के विद्रोह को कुचलने की कपटपूर्ण चाल है। उन्होंने महात्मा गाँधी को भारतीय पिछड़ेपन तथा अबौद्धिकता का मूर्त रूप बतलाया और उनके कामों की यह कहकर निन्दा की कि वे उन तत्वों को उकसावा देते हैं, जो भारतीय घरेलू मोर्चे को कमजोर बना रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने कहा कि ''गाँधीवाद का सामाजिक आधार सांस्कृतिक पिछड़ापन है और इसका मुख्य बौद्धिक आधार अन्धविश्वास है। गाँधी का स्वप्न एक समाज है पूर्ण सामाजिक गतिरूद्धता की स्थिति।'' अतः राय ने

गाँधीजी को न केवल सुधार विरोधी बताया बल्कि उन्हें भारतीय पिछड़ेपन का प्रतीक भी माना। गाँधीजी के भारत छोड़ो आन्दोलन की भत्र्सना करते हुए एम0 एन0 राय ने कहा कि ''यह घोर निद्रा में पड़ी शक्तियों को प्रचण्ड रूप में जगाने की शरारत है जो भारत के घरेलू मोर्चे को दुर्बल करती है।''

4.1.12. राय का नवीन मानववाद

भारतीय राजनीतिक चिंतन में पूर्व में नहीं वरन् वर्तमान में भी मानव जाति के चारों महान धर्मों - हिंदू, बौद्ध, इस्लाम एवं ईसाई धर्म का सम्मिश्रण विद्यमान है। विगत दो शताब्दियों में जिन चिंतकों ने भारतीय मानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है, उनमें से कुछ ऐसे चिंतक हैं जिनकी महानता कई रूपों में प्रकट होती है। भारतीय चिंतकों का प्राकृतिक घटनाओं से प्रभावित होना, इन्हें यूरोपीय चिंतकों से काफी हद तक अलग रखता है। ऐसे ही एक भारतीय चिंतक मानवेन्द्र नाथ राय के मानववाद से संबंधित विचारों की अधिकता दिखाई देती है। मानवीय स्वतंत्रता के प्रति राय की उत्कट ललक कभी मंद नहीं पड़ी। उनका मानववादी दर्शन इसी ललक का परिणाम है उनका कहना था कि ''एक उग्रवादी मानववादी स्वयं अपने से ही प्रारंभ करता है।''

अतः मानवेन्द्र नाथ राय का आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में विशिष्ट स्थान है। राय का राजनीतिक चिंतन लम्बी वैचारिक यात्रा का परिणाम है। वे किसी विचारधारा से बंधे हुए नहीं रहे। उन्होंने विचारों की भौतिकवादी आधार भूमि और मानव के अस्तित्व के नैतिक प्रयोजनों के मध्य समन्वय करना आवश्यक समझा। जहाँ उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था की कटु आलोचना की। वहीं मार्क्सवाद की आलोचना में भी पीछे नहीं रहे। राय ने सम्पूर्ण मानवीय दर्शन की खोज के प्रयत्न के क्रम में यह निष्कर्ष निकाला कि विश्व की प्रचलित आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियाँ मानव के समग्र कल्याण को सुनिश्चित नहीं करतीं। पूँजीवाद, मार्क्सवाद, गाँधीवाद तथा अन्य विचारधाओं में उन्होंने ऐसे तत्वों को ढूँढ निकाला जो किसी न किसी रूप में मानव की सत्ता, स्वतंत्रता, तथा स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं।

राय ने अपने नवीन मानववादी दर्शन से मानव को स्वयं अपना केन्द्र बताकर मानव की स्वतंत्रता एवं उसके व्यक्तित्व की गरिमा का प्रबल समर्थन किया है। वस्तुतः बीसवीं सदी में फासीवादी तथा साम्यवादी समग्रतावादी राज्य.व्यवस्थाओं ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व का दमन किया और उदारवादी लोकतन्त्र में मानवकल्याण के नाम पर निरन्तर बढ़ती केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से सावधान किया। राय ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व की गरिमा के पक्ष में जो उग्र बौद्धिक विचार दिये हैं, उनका आधुनिक युग के लिए विशिष्ट महत्व है।

प्रारंभ में राय की विचारधारा मौलिक मानववाद तक की सीमित थी जिसे उन्होंने आगे चलकर मौलिकवाद को छोड़कर नवीन मानववाद की व्याख्या करने लगे। राय के अनुसार आधुनिक सभ्यता जिस नैतिक तथा सांस्कृतिक संकट से गुजर रही है उसे देखते हुए मानववादी मूल्यों का पुनः प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है। सहज, शुद्ध, नैतिक बुद्धि की धारणा ध्वस्त हो गयी है और परिणामस्वरूप मानव-जाति एक नैतिक उलझन में फँस गयी है। नैतिक मूल्यों की वस्तु-परकता का ह¤ास हो चुका है। ऐसे युग का स्वाभाविक विश्व दर्शन व्यवहारवादी यानी उपयोगवादी है। राय की भावना है कि चिन्तनशील बुद्धिवादी व्याप्त संशयवाद तथा शून्यवाद के स्थान पर किसी प्रकार की नैतिक स्थिरता के लिए उत्कंठित हैं। राय आचारनीति को तत्वशास्त्रीय निरपेक्षतावाद पर नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक तथा विवादपूर्ण बुद्धि पर आधारित करना चाहते थे। उनका कहना था कि मनुष्य में बौद्धिकता किसी दैवी सत्ता

ने निरोपित नहीं की है, वह तो जैविक विकास की उपज है और मानववादी आचारनीति का आधार मनुष्य की बौद्धिकता है। सद्विवेक इसी बौद्धिकता की उपज है। उनका आग्रह है कि नवीन मानववाद स्वाभाविक बुद्धि और ऐहिक अन्तःकरण पर आधारित होना चाहिए। उनका विश्वास है कि मनुष्य तत्वतः बौद्धिक प्राणी है, यह सिद्धांत ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है।

राय की मानववादी संकल्पना सर्वदेशीय तथा विश्व बन्धुत्व की भावना से प्रेरित थी। यह किसी राष्ट्र और बिरादरी पर विचार नहीं करती थी। राय मानव के विकास की धारणा को स्वीकार करते हैं। मनुष्य भौतिक जगत से ही उत्पन्न हुआ है एवं शासित होता है। मनुष्य इस जगत का अभिन्न अंग है। मनुष्य के जीवन तथा व्यक्तित्व में जो बुद्धि देखने को मिलती है वह सार्वभौम सामंजस्य की ही प्रतिध्वनि है। नवीन मानववाद मनुष्य को सामाजिक संबंधों को समग्र मानकर चलता है। शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय मानव स्वभाव उसकी केन्द्रीय मान्यता नहीं है। नवीन मानववाद नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता, विवेक तथा आचारनीति के मूल शास्त्रीय महत्व को स्वीकार करता है। स्वतंत्रता सामाजिक प्रगति और सामूहिक उन्नति की मूल प्रेरणा यानी अभिप्रेरणात्मक शक्ति है। स्वतंत्रता के तीन मुख्य स्तम्भ हैं- मानववाद, व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवाद।

नवीन मानववाद का दृष्टिकोण विश्वराज्यवादी है। अरविन्द, टैगोर तथा गाँधी की भाँति राय भी मानव जाति के सहकारितामूलक संघ में विश्वास करते हैं। नवीन मानववाद स्वतंत्र मनुष्यों के समाज तथा बिरादरी के आदर्श को साकार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है। राय ने विश्व राज्यवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद के बीच भेद किया है। उन्होंने आध्यात्मिक समाज अथवा विश्वराज्यवादी मानववाद का समर्थन किया है। उनके अनुसार एक सच्ची विश्व-सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही की जा सकती है। राय की मान्यता थी कि राजनीतिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक है कि मनुष्य का बौद्धिक पुनर्जागरण हो जिससे वह नवीन मानववाद के दर्शन के मूल तत्व को हृदयंगम कर सके। स्वतंत्रता की क्षमता व्यक्ति में मूलतः अन्तर्निहित होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त व्यक्ति ही स्वतंत्र समाज का निर्माण कर सकते हैं। आध्यात्मिक मुक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता की अपरिहार्य शर्त है।

4.1.13. राय का राजनीतिक विचार

एक तरफ तो वे कट्टर मार्क्सवादी थे, तो दूसरी ओर मार्क्सवाद का विरोध करते हुए उन्होंने नवमानववाद की स्थापना की। उनका विचार था कि ष्अच्छा व्यक्ति अच्छे समाज की रचना कर सकता है। व्यक्ति समाज का आधार है। पूँजीवाद को सभी बुराइयों की जड़ मानते थे। राज्य केवल साधन हैए साध्य नहीं, ये उनके विचार थे। राष्ट्रवाद को फासीवाद का प्रेरक मानते हुए वे उसके कट्टर आलोचक थे। कुछ समय पश्चात् उन्हें साम्यवादी विचारधारा से इसीलिए चिढ़ हो गयी, क्योंकि साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयवाद का प्रचार करते हुए व्यवहार में राष्ट्रवादी थे। उनका राजनैतिक दर्शन वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित था। वे धार्मिक आडम्बरों में अविश्वास रखते थे। भौतिकतावादी विचारों के वे समर्थक थे। कुछ अर्थों में वे यथार्थवादी भौतिकता से प्रेरित थे। समाजवाद में उनका विश्वास था। आर्थिक विकेन्द्रीकरण के साथ.साथ वे मानव स्वतन्त्रता के समर्थक थे। गुट निरपेक्षतावादी नीति को उन्होंने श्रेष्ठ माना।

एम0 एन0 राय शक्ति के केन्द्रीकरण के विरोधी थे और विकेन्द्रीकरण को आवश्यक मानते थे। केन्द्रीकरण स्वतंत्र अमिक्रम तथा स्वतंत्र निर्णय का निषेध करता है। राजनीतिक दल, जिनके देशव्यापी

संगठन तथा विशाल वित्तीय साधन होते हैं, केन्द्रीकरण के माध्यम बन जाते हैं। इसीलिए राय चाहते हैं कि शासन में राजनीतिक दलों की भूमिका कम से कम होनी चाहिए। उनका विश्वास है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए दलीय संगठनों के द्वारा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा गाँवों तथा कारखानों में सघन कार्य करना अधिक अच्छा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था का सार नागरिकों में इस भावना का विकास करना है कि शासनतंत्र में उनका भी साझा है। स्वतंत्रता को साकार बनाने के लिए सबसे आवश्यक है कि व्यक्ति पर सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रतिबंध कम से कम हों। समाज के आमूल पुनर्निर्माण करने के लिए व्यक्ति की प्राथमिकता आवश्यक है।

राय के अनुसार संसदीय लोकतंत्र का जो व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है उसमें भयंकर दोष है। चुनावों के बीच के काल में जनता के हाथों में कोई शक्ति नहीं रहती। संकट के समय में विधि का शासन भी व्यक्ति को सुरक्षा देने में असमर्थ रहता है। इसलिए राय ने संगठित लोकतंत्र का निरूपण किया, जिसके अन्तर्गत शिखर पर बैठा प्रचण्ड शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति आदेश नहीं देगा बल्कि शक्ति जनता की स्थानीय समितियों के हाथों में होगी। केवल संगठित लोकतंत्र ही राज्य के ऊपर वास्तविक नियंत्रण कायम रख सकता है। राय की संगठित लोकतंत्र और दलविहीन लोकतंत्र की धारणा के अनुसार राज्य का ढाँचा संगठित स्थानीय लोकतांत्रिक निकायों के आधार पर निर्मित होना चाहिए। राय व्यक्तिवाद को लोकतंत्र का सैद्धान्तिक आधार मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति, परिवार ही नहीं बल्कि समाज से भी पहले का है। उन्होंने स्त्रियों की स्वतंत्रता की वृद्धि करने का समर्थन किया है और वे पितृसत्ता के विरोधी हैं।

4.1.14. निष्कर्ष

आधुनिक भारत में दर्शन के लेखकों तथा राजनीति के प्रमुख विद्वानों में से एक थे मानवेन्द्र नाथ राय। वे महान वक्ता भी थे। उनकी विद्वत्ता वास्तव में बहुत ही चित्ताकर्षक थी। राय का भारतीय चिन्तन के इतिहास में एक व्याख्याकार तथा इतिहासकार के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। राय एक अतिदृढ़ तथा आक्रामक भौतिकवादी थे। राय द्वारा प्रतिपादित नवीन मानववाद जीवन में मूल्यों को प्रथम स्थान देने का उपदेश देता है। वह स्वतंत्रता की शाश्वत प्रेरणा को सर्वोच्च मानता है। आधुनिक विश्व की राजनीतिक विषमावस्था का मुख्य कारण मनुष्य के द्वारा नैतिक मूल्यों का परित्याग है और केवल औपचारिक संस्थाओं की पूजा करने में लगा रहना है। किन्तु राय का कहना है कि लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जबकि सार्वजनिक मामलों का संचालन आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तियों के हाथों में होगा।

समाजवादी चिन्तन के इतिहास में राय का स्थान एक नैतिक संशोधनवादी का है। उन्होंने एक मार्क्सवादी के रूप में अपना बौद्धिक जीवन आरंभ किया किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने मार्क्स की सभी प्रस्तावनाओं को नये ढ़ंग से व्याख्या कर दी। राय ने नवीन मानववाद के नाम पर सुखवाद की नींव को मजबूत करने का प्रयत्न किया है। एक भौतिकवादी होने के नाते वे जीवन को ही साध्य मानते हैं। जीवन का एकमात्र उद्देश्य जीवित रहना है और जीवित रहने का अर्थ है उन सब इच्छाओं की पूर्ति के लिए शक्ति और साधन प्राप्त करना जो स्वभावतः मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार राय बेंथमवादी हैं, जिन्होंने भारतवासियों को यह उपदेश दिया कि इच्छाओं की पूर्ति से उत्पन्न होनेवाला आनन्द ही जीवन में सब कुछ है। राय ने वेदान्त की उस प्रमुख परम्परा का विरोध किया है जो इच्छाओं को जीतने का

उपदेश देती है। इसीलिए राय को भौतिकवादी ब्रह्माण्डविद्या और यांत्रिक पद्धति का प्रवक्ता कहा जा सकता है। निश्चय ही मानवेन्द्र नाथ राय भौतिकवाद, इन्द्रयानुभववाद तथा वस्तुवाद के प्रबल समर्थक हैं।

राय का मानना था कि राजनीति का आध्यात्मीकरण नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक अथवा नैतिक राजनीति प्रायः ठगों और धूर्तों का आश्रय हुआ करती है। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि राजनीति के नैतिक आधारों के महत्व को न स्वीकार करना उनकी भारी भूल है। सिसरो, सिनेका तथा ईसा मसीह इस आदर्श के प्रतिपादक थे कि राजनीति का आधार नैतिक होना चाहिए। मानव चिन्तन के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उनका यह भी निष्कर्ष गलत था कि ''राष्ट्रवाद एक पुराना और सड़ा-गला आदर्श है। दरअसल वे एक मूल-विहीन बुद्धिवादी थे और इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद की गहरी दबी हुई भावनाओं को परखने में वे असफल रहे। क्रोध के उन्माद में वे यहाँ तक कह दिया कि राष्ट्रवाद की पराजय भारतीय स्वतंत्रता की शर्त है।'' उन्होंने महात्मा गाँधी तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विचारधारा की तुलना फासीवाद से की और ब्रिटिश सरकार से इस फासीवाद का उन्मूलन करने का अनुरोध किया।

निश्चय ही राय की प्रतिभा ध्वंसात्मक थी, न कि रचनात्मक। उन्होंने कोई नयी चिन्तनधारा नहीं दी है। उन्होंने चिन्तन के विभिन्न तत्वों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। वे बुद्धिवादी पुनर्जागरण, भौतिक यथार्थवादी ब्रह्माण्डशास्त्र, मानववादी आचारनीति तथा स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहते थे और इसी दिशा में उन्होंने प्रयत्न किया। परन्तु, सच तो यही है कि आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पर लिखनेवाले चिन्तकों में एम0 एन0 राय सबसे अधिक विज्ञ और विद्वान थे। उन्होंने वैज्ञानिक आधार को ग्रहण कर भारतीय समुत्थान के लिए नूतन मानववाद का दर्शन प्रस्तुत किया, जो विचारणीय है।

वस्तुतः श्री मानवेन्द्रनाथ राय नवमानववाद को सर्वश्रेष्ठ मानते थे, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता बन सकता है, ऐसा उनका विचार था। इस वाद में न तो राष्ट्रवाद की भावना का समावेश है और न ही रंगभेद का। उन्होंने विचारों में मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सर्वोपरि माना है। श्री राय की इस मान्यता के समर्थक और आलोचक दोनों ही थे, किन्तु उनका यह नवमानवतावादी दर्शन अपना विशिष्ट स्थान रखता है ।

इस प्रकार राय के संपूर्ण चिंतन पर नजर डालें तो हमें प्रतीत होता है कि उनके चिंतन का मूल आधार मानव के महत्व को ही प्रतिष्ठापित करना रहा है, जिस तरह से ईसा से सदियों पूर्व प्रोटेगौरस ने कहा था कि '' मनुष्य ही समस्त की कसौटी है।'' प्रोटेगौरस भी जब मनुष्य की बात करता है, तो उसका आशय भी किसी समूह अथवा बहुमत से नहीं है, बल्कि उसकी दृष्टि में भी मनुष्य एक इकाई के रूप में रहा है। इसी यूनानी मानववादी धारणा से राजनीतिक चिंतन जगत में उदारवादी आंदोलन प्रेरित हुआ। राय के अनुसार जब हम यह कहते हैं कि मानव समग्र की कसौटी है तो ऐसा कहकर हमने कोई नई मांग पेश नहीं की है।

4.1.15. कठिन शब्दावली

(1) षड़यंत्र - आरोप
(2) विच्छिन्न - अलग
(3) अभिप्रेरणात्मक - प्रेरणा देने वाला
(4) समग्र - संपूर्ण
(5) पुनर्जागरण - पुनः जागृत होना
(6) हृदयंगम - अपना लेना
(7) अपरिहार्य - अनिवार्य
(8) समुत्थान - सबका उत्थान, सबकी उन्नति

4.1.16. अभ्यास प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न

(1) एम0 एन0 राय का जन्म कब हुआ?
(क) 6 जनवरी, 1886 (ख) 6 फरवरी, 1866
(ग) 6 फरवरी, 1886 (घ) 5 जनवरी, 1898

(2) एम0 एन0 राय के राजनीतिक विचारों पर किनकी छाप है?
(क) बी0 सी0 पंत (ख) अरविन्द घोष
(ग) सुरेन्द्र नाथ बनर्जी (घ) उपर्युक्त सभी

(3) अमेरिका में एम0 एन0 राय की मुलाकात किस भारतीय क्रांतिकारी से हुई?
(क) लाला लाजपत राय (ख) भगत सिंह
(ग) सुभाष चन्द्र बोस (घ) उपर्युक्त सभी

(4) सन् 1920 में एम0 एन0 राय किसके आमंत्रण पर रूस गए?
(क) मार्क्स (ख) लेनिन
(ग) स्टालिन (घ) लाला लाजपत राय

(5) इनमें से कौन एम0 एन0 राय की पुस्तक है?
(क) इण्डिया इन ट्रांजीशन
(ख) इण्डियन प्राब्लम एण्ड इट्स सोल्यूशन
(ग) वन ईयर ऑफ नन-को-ऑपरेशन
(घ) उपर्युक्त सभी

(6) 'मेटीरियलिज्म' निम्नलिखित में से किसकी रचना है?
(क) विपिन चन्द्र पाल (ख) सुभाष चन्द्र बोस
(ग) मानवेन्द्र नाथ राय (घ) श्यामा प्रसाद मुखर्जी

(7) एम0 एन0 राय ने अन्तिम समय में मार्क्सवाद को त्यागकर किस वाद का प्रचार किया?
(क) उदार मानववाद (ख) व्यवहारवाद
(ग) उत्तर-व्यवहारवाद (घ) इनमें से कोई नहीं

(8) 'द्वितीय विश्वयुद्ध प्रजातंत्र और फासीवाद के बीच संघर्ष था' किसने कहा था?

(क) गाँधीजी (ख) विनाके

(ग) मानवेन्द्र नाथ राय (घ) जवाहर लाल नेहरू

(9) एम0 एन0 राय विरोधी थेः

(क) साम्राज्यवाद (ख) उपनिवेशवाद

(ग) अन्तर्राष्ट्रवाद (घ) इनमें से कोई नहीं

(10) एम0 एन0 राय ने फासीवाद के विरूद्ध एक अनवरत संघर्ष छेड़ा क्योंकिः-

(क) फासीवाद पिछड़ेपन के दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है

(ख) फासीवाद पूँजीवाद का अन्तिम पक्ष पोषण है

(ग) फासीवाद का उद्देश्य पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को बढ़ावा देना है।

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तरः- (1) ग (2) क (3) क (4) ख (5) घ

(6) ग (7) क (8) ग (9) ख (10) घ

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) एम0 एन0 राय तथा मार्क्सवाद पर निबंध लिखें।

(2) एम0 एन0 राय के नवमानववाद को स्पष्ट करें।

(3) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एम0 एन0 राय की भूमिका का उल्लेख करें।

(4) एम0 एन0 राय का महत्मा गाँधी के सम्बन्ध में विचार का उल्लेख करें।

(5) एम0 एन0 राय के मौलिक मानववाद को स्पष्ट करें।

(6) एम0 एन0 राय की रचनाओं का उल्लेख करें।

(7) एम0 एन0 राय 1915 में विदेश क्यों चले गए?

(8) एम0 एन0 राय का फासीवाद के संबंध में क्या विचार है?

(9) एम0 एन0 राय साम्यवाद से प्रभावित कैसे हुए?

(10) एम0 एन0 राय का महात्मा गाँधी एवं कांग्रेस के सम्बन्ध में क्या कथन है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः-

(1) एम0 एन0 राय के भौतिकवादी दर्शन एवं इतिहास दर्शन की विवेचना करें।

(2) एम0 एन0 राय के मार्क्सवाद पर विचार लिखिए।

(3) लोकतंत्र के प्रति एम0 एन0 राय के दृष्टिकोण को स्पष्ट करें।

(4) एम0 एन0 राय के राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण करें।

(5) एम0 एन0 राय के नव-मानवतावाद की धारणा को स्पष्ट करें।

(6) एम0 एन0 राय के मार्क्सवादी आलोचना का उल्लेख करें।

(7) एम0 एन0 राय का महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में विचार का उल्लेख करें।

(8) एम0 एन0 राय के प्रमुख राजनीतिक विचारों का उल्लेख करें।

4.1.17. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जैन पुखराज एवं मेहता जीवन, राजनीति विज्ञान, एस0 बी0 पी0 डी0 पब्लिकेशन्स, आगरा, 2013, पृ0 167-174.
2. वर्मा डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, 1983, पृ0 सं0-496-526.
3. मुंशी, एस0 एन0 तथा दीक्षित, सी0 'लाइफ ऑफ एम0 एन0 राय एण्ड न्यू ह्यूमेनिज्म', रिनॉसेन्स पब्लिसर्श, कलकत्ता, 1953
4. ओझा, वी0 एन0, राय एण्ड हिज फिलॉसोफिकल आइडियाज, शकन्द प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, 1969
5. कर्णिक, वी0 बी0, एम0 एन0 राय: पॉलिटिकल बायोग्राफी, नव जागृति समाज, बॉम्बे, 1978
6. कपूर, कुम कुम, एम0 एन0 राय, नवोग्र-मानववाद और मार्क्स, क्लासिक पब्लिसिंग हाउस, जयपुर, 1991
7. घोष, एस0, सोशलिज्म, डेमोक्रेसी एण्ड नेशनलिज्म इन इण्डिया, एलाइड पब्लिसर्श, बॉम्बे, 1973
8. तलवार, एस0, पोलिटिकल आइडियाज ऑफ एम0 एन0 राय, खोसला पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली, 1978

इकाई - 2 भारत में समाजवादी आंदोलन का उद्भव एवं विकास

● आचार्य नरेन्द्र देव

इकाई की रूपरेखा

4.2.1. उद्देश्य
4.2.2. प्रस्तावना
4.2.3. भारत में समाजवादी आंदोलन का उद्भव
4.2.4. समाजवादी आंदोलन का विकास
4.2.5. आचार्य नरेन्द्र देव का परिचय
4.2.6. नरेन्द्र देव की रचनाएँ
4.2.7. नरेन्द्र देव के चिन्तन का दार्शनिक आधार
4.2.8. नरेन्द्र देव के राजनीतिक विचार
4.2.9. नरेन्द्र देव एक मार्क्सवादी के रूप में
4.2.10. नरेन्द्र देव एक क्रांतिकारी के रूप में
4.2.11. नरेन्द्र देव का गाँधी के सम्बन्ध में विचार
4.2.12. नरेन्द्र देव का लोकतांत्रिक समाजवाद का सिद्धांत
4.2.13. निष्कर्ष
4.2.14. कठिन शब्दावली
4.2.15. अभ्यास प्रश्न
4.2.16. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.2.1. उद्देश्य

- भारत में समाजवादी आंदोलन तथा चिन्तन को समझ सकेंगे।
- समाजवादी आन्दोलन के उद्भव एवं विकास को समझ सकेंगे।
- आचार्य नरेन्द्र देव के समाजवादी चिन्तन को समझ सकेंगे।
- उनके जीवन परिचय को जान सकेंगे।
- उनके चिन्तन के दार्शनिक आधार को समझ सकेंगे
- उनके राजनीतिक विचार को समझ सकेंगे।
- उन्हें एक मार्क्सवादी के रूप में समझ सकेंगे।
- उन्हें एक क्रांतिकारी के रूप में समझ सकेंगे।
- नरेन्द्र देव का महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में विचार को समझ सकेंगे।
- नरेन्द्र देव के लोकतांत्रिक समाजवाद के सिद्धांत को समझ सकेंगे।

4.2.2. प्रस्तावना

भारतीय समाजवादी विचारकों का मुख्य उद्देश्य यूरोपीय समाजवादियों की तरह गरीब एवं मजदूर वर्ग के हितों की रक्षा करना था। उनके द्वारा सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उत्पादन के मुख्य साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने की बात कही गयी परन्तु यूरोपीय समाजवादियों और भारतीय समाजवादियों में भौतिक मूल्य तथा आध्यात्मिक मूल्य को लेकर अन्तर देखा गया। यूरोपीय समाजवादी भौतिकता को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिकता को अस्वीकार करते थे, जबकि भारतीय समाजवादी दोनों ही अवधारणाओं को स्वीकार करते थे। हालांकि समाजवादी होने के नाते उनके द्वारा मजदूर वर्गीय हितों पर ज्यादा ध्यान दिया जाता रहा। ऐसे ही एक आधुनिक भारतीय समाजवादी विचारक का नाम आचार्य नरेन्द्र देव था, जिन्हें भारतीय समाजवाद के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य नरेन्द्र देव नैतिक समाजवादी थे। उन्हें नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता में विश्वास था। वे समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी मानते थे। इसलिए उन्होंने समाजवाद के मानववादी आधार पर बल दिया।

4.2.3. भारत में समाजवादी आन्दोलन का उद्भव

भारत में समाजवादी चिन्तन का उद्भव लगभग बीसवीं शताब्दी की घटना है। इस दृष्टि से पश्चिम की स्थिति भिन्न है। वहाँ महान समाजवादी विचारक उन्नीसवीं शताब्दी में ही हो चुके थे। मानव भ्रातृत्व, एकता तथा आध्यात्मिक समानता से संबंधित कुछ भावुकतापूर्ण तथा लोकोपकारी आदर्श ऋगवेद तथा बौद्ध धर्मग्रन्थों में, विशेषतः 'धम्मपद' में, मिलते हैं। लेकिन पश्चिम के प्रभाव से ही भारत में आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के दर्शन के रूप में समाजवादी विकसित तथा लोकप्रिय हुआ है। संभवतः लाला लाजपत राय पहले भारतीय थे जिन्होंने समाजवाद तथा बौलशेविकवाद के सम्बन्ध में कुछ लिखा। लेकिन एम0 एन0 राय का कहना कि लाजपत राय 'बुर्जूआ राजनीतिज्ञ' थे, उन्हें समाजवाद से कोई सहानुभूति नहीं थी। यद्यपि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना का श्रेय मुख्यतः नारायण मल्हार जोशी को था। जोशी 1909 में गोपाल कृष्ण गोखले की सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी के सदस्य बन गए थे। 1911 में उन्होंने बम्बई में सोशल सर्विस लीग की स्थापना की। तथापि लाला लाजपत राय ने 1920 में भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व कर समाजवाद को खड़ा किया। लाला जी ने समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने के कार्य में भी योग दिया। वे जमींदारी तथा पूँजीपतियों की शक्ति में वृद्धि करने के खिलाफ थे। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि समाज का वर्तमान संगठन अनुचित तथा अन्यायपूर्ण है और आदिम युग की व्यवस्था से भी अधिक बर्बर है। उन्होंने सुझाव दिया कि ट्रेड यूनियन काँग्रेस को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ में अपने प्रतिनिधि भेजने चाहिए। इसी तरह समाजवादी हुए बिना भी चितरंजन दास ने भारत में श्रम संघीय आन्दोलन के निर्माण में सहायता दी थी।

मई 1923 में काँग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने की दिशा में इसका विशेष महत्व था। क्योंकि उस समय तक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद अस्थिर विचारों का अस्पष्ट पुंज था। मेरठ षड़यंत्र अभियोग साम्यवादी विचारधारा को कलंकित कर दी थी। 1918 में इलाहाबाद में एक किसान सभा स्थापित की गयी थी, किन्तु उस पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव नहीं था। 1934 में इलाहाबाद में केन्द्रीय किसान संघ स्थापित किया गया। अप्रैल 1936 में

अखिल भारतीय किसान सभा का संगठन किया गया। इस प्रकार श्रमसंघीय आन्दोलन, युवक संघ तथा भारतीय स्वातंत्र्य संघ की संयुक्त प्रान्तीय शाखा आदि पूर्णतः समाजवादी विचारधारा से उत्प्रेरित थे।

परिणामस्वरूप मई 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना भारत में समाजवाद के संगठनात्मक विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। उसी समय 1931 में बिहार समाजवादी दल स्थापित किया गया और 1934 में बम्बई समाजवादी गुट कायम हुआ। कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना से सभी प्रान्तीय संगठनों और गुटों को अखिल भारतीय आधार तथा मंच मिल गया। इस प्रकार समाजवादियों का पहला अखिल भारतीय सम्मेलन 17 मई, 1934 को पटना में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में हुआ। इस दल की स्थापना में जयप्रकाश नारायण का मुख्य हाथ था।

4.2.4. भारत में समाजवादी आन्दोलन का विकास

1942 के आन्दोलन में साम्यवादी तथा रायवादी काँग्रेस के विरूद्ध घृणा का प्रचार करने में लगे थे। उसके नेताओं को फासीवादी कहकर निन्दित करने में लगे थे, उस समय समाजवादियों ने वीरतापूर्ण भूमिका अदा किया। 1948 के नासिक सम्मेलन में समाजवादियों ने कांग्रेस को छोड़ देने का निर्णय किया, क्योंकि कांग्रेस संगठन के भीतर आन्तरिक गुटों के निर्माण को स्वीकृति नहीं देती थी। इस प्रकार चैदह वर्ष तक कांग्रेस में रहने के बाद समाजवादियों ने उस दल का परित्याग कर दिया और भारतीय समाजवादी दल कायम कर लिया। 1952 के आम चुनावों के बाद समाजवादी दल तथा जे0 बी0 कृपलानी के नेतृत्व में संगठित कृषक मजदूर दल ने परस्पर विलीन होने का निर्णय किया। दोनों दल संयुक्त होकर प्रजा समाजवादी दल कहलाने लगा।

भारतीय समाजवादी चिन्तन का विकास यूरोपीय समाजवाद के संदर्भ से भिन्न था। भारत में समाजवाद का विकास सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण की एक योजना के रूप में ही नहीं हुआ, बल्कि वह क्रूर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धनों से राजनीतिक मुक्ति की एक विचारधारा के रूप में भी विकसित हुआ। उस समय भारत की मूल समस्या देश की राजनीतिक स्वतंत्रता थी। कोई भी लोकप्रिय दल उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। साथ ही भारतीय समाजवादी चिन्तन के लिए यह भी आवश्यक था कि वह खेतिहर मजदूरों के उद्धार का भी कोई सिद्धांत और योजना प्रस्तुत करे। पश्चिमी यूरोप में सामंतवाद का 18 वीं शताब्दी तक प्रायः उन्मूलन हो चुका था। लेकिन भारत में सामंतवाद 20 वीं शताब्दी के मध्य तक फलता-फूलता रहा। जिस पर प्रहार भारतीय समाजवादी विचारकों को करना पड़ा। समाजवादियों को पूँजीपतियों को ही चुनौती नहीं देनी थी, बल्कि भूपतियों के लगान तथा भूमि से बिना श्रम होनेवाली कमाई का भी विरोध करना था। इसीलिए साम्यवादियों ने उसे 'वामपंथी सुधारवाद' बताया और उसकी निन्दा की।

स्वतंत्रता की प्राप्ति तथा महात्मा गाँधीजी की मृत्यु के पश्चात् काँग्रेस समाजवादी दल की विचारधारा में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया। 1949 के पटना सम्मेलन में दल ने लोकतांत्रिक केन्द्रवाद के बौलशेविक सिद्धांत के प्रति भक्ति का परित्याग कर दिया। उसने इस बात पर बल दिया कि सार्वभौम जनाधार प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इसका तात्पर्य यह था कि नेताओं की पूजा छोड़कर दल के साधारण सदस्यों की एकता पर बल दिया जाय। जनाधार प्राप्त करने के लिए वैसे वामपंथी विरोधी दलों के साथ, जो राष्ट्रवाद, समाजवाद और लोकतंत्र में आस्था रखते थे, चुनाव समझौते एवं मेल-मिलाप करना तथा कभी-कभी उनके साथ विलीन होना भी आवश्यक था। तभी से दल की नीति में एक सामान्य

परिवर्तन दिखने लगा। उसके द्वारा क्रांतिकारी कार्य, नगरों में कार्य तथा आन्दोलनात्मक कार्यप्रणाली के स्थान पर किसानों में रचनात्मक कार्य तथा संसदीय कार्य पर जोर दिया जाने लगा।

1949 के बाद समाजवादी दल ने सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है और लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। 1952 के गया सम्मेलन में दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सम्मेलन के सदस्यों में से नाम निर्देशित करने और चुनने की लोकतांत्रिक प्रणाली अपनायी गयी। 1953 में इलाहाबाद में यह निर्णय लिया गया कि चुनावों में त्रिकोण संघर्षों से बचने के लिए विरोधी दलों के साथ चुनाव समझौते किए जाएँ। लेकिन संयुक्त मोर्चों तथा सम्मिलित सरकारों का समर्थन नहीं किया गया। 1955 में गया से जो नीति सम्बन्धी वक्तव्य प्रकाशित किया गया उसमें यह निश्चय किया गया कि दल के पृथक व्यक्तित्व को बनाए रखने के लिए काँग्रेस, साम्यवादियों तथा हिन्दू सम्प्रदायवादी दलों के साथ कोई समझौता अथवा तालमेल नहीं किया जाएगा। लेकिन 1956 में बंगलौर में आनेवाले चुनावों को देखते हुए इस कठोर नीति में कुछ परिवर्तन किया गया और विशेष परिस्थितियों में चुनावी तालमेल करने की छूट दी गयी।

बम्बई में प्रजा समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक 16 अक्टूबर, 1959 को हुई। उसमें भारत के लिए बारह सूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया गया। उसमें कृषक उत्पादन को बढ़ावा देना प्राथमिक आवश्यकता माना गया और उसके लिए सेवा सहकारी समितियों का समर्थन किया गया। भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करना तथा खेती की उपजों के समर्थन मूल्य को निश्चित करने पर बल दिया गया ताकि किसानों को समुचित पारिश्रमिक मिल सके। बेकारी को कम करने तथा दलित और पिछड़े वर्गों के जीवनस्तर को उठाने पर भी बल दिया गया। साथ ही सरकार तथा लोकप्रशासन के क्षेत्रों में सिफारिश की गयी कि कार्यपालिका को न्यायपालिका से हर स्तर पर पृथक किया जाय। भ्रष्टाचार-विरोधी न्यायाधिकरण स्थापित किए जाएँ जिनकी हैसियत उच्च न्यायालयों के समकक्ष हो। प्रशासन का विकेन्द्रीकरण किया जाय।

इस प्रकार भारतीय समाजवादी साहित्य में कोई गहराई तथा परिपक्वता देखने को नहीं मिलती है। उनका कोई मौलिक सैद्धांतिक योगदान नहीं है। तथापि उसने भारत के खेतिहर, जातिबद्ध तथा अविकसित अर्थतंत्र और राजतंत्र के संदर्भ में मौलिक समाजवादी चिन्तन की आवश्यकता पर बल दिया है। भारतीय समाजवादी प्रचलित जाति-संघर्ष तथा वर्ग-संघर्ष का अन्त करना चाहते हैं। वे विकेन्द्रीकरण की धारणा के अधिक उग्र समर्थक हैं। उसका आधारभूत राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धांत राष्ट्रवाद, धर्म-निरपेक्षतावाद, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण तथा नियोजित विकास का समन्वय करना है।

4.2.5. आचार्य नरेन्द्र देव का परिचय

आधुनिक भारतीय समाजवादी विचारक का नाम आचार्य नरेन्द्र देव था, जिन्हें भारतीय समाजवाद के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य नरेन्द्र देव का जन्म 30 अक्टूबर, 1889 में सीतापुर में हुआ तथा उनकी मृत्यु 19 फरवरी, 1956 में हुआ। आचार्य नरेन्द्र देव को भारतीय संस्कृति से अटूट प्रेम था जो उन्हें अपने पिता से विरासत में मिली थी। 1905 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में नरम और गरम दल के बीच टकराव चल रहा था, तब उस अधिवेशन में आचार्य नरेन्द्र देव एक दर्शक के रूप में उपस्थित थे। आचार्य को गरम दल वालों की योजना और सिद्धांत अच्छा लगा और वे उनमें शामिल हो गए। उन्होंने स्वदेशी का व्रत लिया, जिसका उन्होंने आजीवन पालन किया। आचार्य

नरेन्द्र देव ने 1913 में स्नातकोत्तर पास किया तथा 1915 में वे विधि में स्नातक हुए। उन्होंने फैजाबाद न्यायालय में वकालत शुरू किया। आचार्य नरेन्द्र देव एक साथ दो कार्यों में ज्यादा रूचि रखते थे- पठन-पाठन तथा राजनीति में भागीदारी। 1936 में नरेन्द्र देव को जवाहर लाल नेहरू ने कांग्रेस कार्य समिति का सदस्य बना दिया। 1939 में बिहार के गया जिले में प्रसिद्ध किसान सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य नरेन्द्र देव ने ही की थी। अहमदाबाद की जेल में जवाहरलाल नेहरू के साथ आचार्य नरेन्द्र देव का 1942 से 1946 तक समय बीता। 1947 में कांग्रेस की अध्यक्षता हेतु आचार्य नरेन्द्र देव का नाम सामने आया था, लेकिन ऐसा हो न सका। 1954 में कांग्रेस की अध्यक्षता आचार्य नरेन्द्र देव के द्वारा की गयी। 1955 में इन्होंने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की नीति तैयार की जिसे उनका प्रमुख विचार लेख कहा जाता है। बाद में इनके द्वारा लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति का प्रभार सँभाला गया।

आचार्य नरेन्द्र देव हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों के ही उत्कृष्ट वक्ता तथा लेखक थे। उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन बाल गंगाधर तिलक तथा अरविन्द घोष के अतिवादी राष्ट्रवाद के अनुयायी के रूप में आरंभ किया। नरेन्द्र देव महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हो गए। बीस वर्ष से भी अधिक उनका काशी विद्यापीठ के साथ सम्बन्ध रहा। 1934 में उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल के उद्घाटन सम्मेलन का सभापतित्व किया। उनकी गणना प्रमुख समाजवादी बुद्धिजीवियों तथा प्रचारकों में थी। उनकी भारत के किसान आन्दोलन में भी गहरी रूचि थी। वे अखिल भारतीय किसान सभा के संस्थापकों में से थे। वे दो बार उस सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। वे इस पक्ष में नहीं थे कि समाजवादी कांग्रेस से पृथक हों, परन्तु दल के निर्णय के सामने उन्हें झुकना पड़ा। उन्होंने कांग्रेस की सत्तावादी तथा केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों की आलोचना की।

आचार्य नरेन्द्र देव प्रजातांत्रिक समाजवाद के प्रणेता माने जाते हैं, तथा उन्हें भारतीय समाजवाद के जनक के रूप में जाना जाता है। उन्होंने एक तरफ महान शिक्षा शास्त्री, राजनीतिक चिन्तक तथा सामाजिक चिन्तक के रूप में अपने को स्थापित किया तो दूसरी तरफ मार्क्सवाद के गहन अध्ययन और मनन के आधार पर स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास के लिए भी अपना स्वतंत्र विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने जीवन के मुख्य ध्येय समाजवादी सिद्धान्तों तथा नीति-रीति को स्पष्ट करना, उसकी पृष्ठभूमि में काँग्रेस की गतिविधि की समीक्षा करना, राष्ट्र की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन कर उसका समाजवादी क्राँतिकारी हल ढूंढना तथा काँग्रेस की एकता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए उसे गतिशील तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रांति का उपकरण बनाना निर्धारित किया।

4.2.6. नरेन्द्र देव की रचनाएँ

आचार्य नरेन्द्र देव एक प्रखर वक्ता के साथ-साथ कुशल लेखक भी थे। उन्हें कई भाषाओं पर महारथ हासिल था। उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ दो हैं- (1) सोशियलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, जिसे उन्होंने 1946 में प्रकाशित किया और (2) राष्ट्रीयता व समाजवाद, जिसे उन्होंने 1949 में प्रकाशित किया। इन रचनाओं में नरेन्द्र देव ने 1935 के भारतीय शासन अधिनियम की समाजवादी दृष्टि से समीक्षा के साथ तत्कालीन परिस्थितियों को उद्धृत किया है। इन रचनाओं में समाजवादी दृष्टिकोण को प्रसारित किया है।

4.2.7. नरेन्द्र देव के चिन्तन का दार्शनिक आधार

आचार्य नरेन्द्र देव बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे संस्कृत तथा पाली भाषा का ज्ञानी थे। वे आस्था से बौद्ध नहीं थे। तथापि उन्हें बौद्ध चिन्तन से सहानुभूति थी। उनका विचार था कि आस्तिकता भारतीय संस्कृति का सार नहीं है, उसका मूल तत्व यह है कि विश्व नैतिक नियमों द्वारा शासित होता है। यद्यपि नरेन्द्र देव ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन की विशद व्याख्या नहीं की, तथापि उन्होंने उसके सामान्य सिद्धांतों का विवेचन किया। उनका मत था कि वास्तविकता जटिल है, किन्तु द्वन्द्वात्मक पद्धति वास्तविकता को उसके समग्र तथा जटिल रूप में समझने का प्रयत्न करती है। वे द्वन्द्ववाद के सिद्धांत तथा पद्धति को स्वीकार करते थे। वे मार्क्सवाद को भौतिकवादी एकत्ववाद के रूप में मानते थे और गति की सार्वभौमता को स्वीकार करते थे जिसका अर्थ है कि विश्व एक प्रक्रिया है। नरेन्द्र देव वैज्ञानिक समाजवादी होने का दाबा करते थे। उनका कहना था कि हमारे सामने जो काम है उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम समाजवाद के सिद्धांतों और उद्देश्यों को आत्मसात कर लें तथा परिस्थितियों के सही ज्ञान के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझें और उसे अपने कार्यकलाप का आधार बनाने का प्रयत्न करें। हमें वैज्ञानिक समाजवाद का आश्रय लेना चाहिए और सामाजिक सुधारवाद से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

नरेन्द्रदेव नैतिक समाजवादी थे। उन्हें नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता में विश्वास था। उन्होंने हिन्दू तथा बौद्ध चिन्तन का गंभीर अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप मूल्यों की पवित्रता में उनकी आस्था अधिक गहरी हो गयी थी। उन्होंने सत्य की व्यवहारवादी कसौटी को स्वीकार करने से साफ इंकार किया। वैसे तो उनकी दृष्टि में सत्य प्राथमिक तथा बुनियादी चीज थी परन्तु इसके बाबजूद उन्होंने गाँधीजी के अहिंसा सिद्धांत को सम्पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया।

4.2.8. नरेन्द्र देव के राजनीतिक विचार

आचार्य नरेन्द्र देव के राजनीतिक और सामाजिक विचारों पर चर्चा करने से पूर्व यह स्पष्ट है कि भले ही हम इन्हें मार्क्सवाद एवं गाँधीवाद जैसी विचारधारा के समीप ले जाने का प्रयास करें परन्तु सच तो यह है कि वे मार्क्सवादी होकर गाँधी के प्रेमी थे तो गाँधी के साथ रहकर भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण रखते थे। आचार्य नरेन्द्र देव ने मार्क्स से वैज्ञानिकता और गाँधी से मानवीयता को ग्रहण किया। इन पर भारतीय संस्कार का भी व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता रहा तथा गौतम बुद्ध के दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार आचार्य नरेन्द्र देव नैतिक मानवतावादी है।

आचार्य नरेन्द्र देव को इतिहास की भौतिक व्याख्या में विश्वास था। एक मार्क्सवादी होने के नाते वे मानते थे कि पूँजीवाद के विकास की संभावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं। एकाधिकार की वृद्धि ने पूँजीवाद के प्रसारवादी शिकंजे को अधिक मजबूत बना दिया है। मानव जाति को युद्ध की विभीषिका तथा संकटों से बचाने का एकमात्र उपाय वैज्ञानिक समाजवाद को अंगीकार करना है। नरेन्द्र देव पर बुखारिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टोरीकल मैटीरियलिज्म' का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने बुखारिन की वर्गों की कसौटी तथा विभाजन के सिद्धांत को स्वीकार किया। वे भी मानते थे कि समाज में पूँजीपतियों तथा सर्वहारा के अतिरिक्त अन्य वर्ग भी होते हैं, जैसे मध्य वर्ग, संक्रमण वर्ग तथा मिश्रित वर्ग।

लोकतांत्रिक समाजवाद के समर्थक होने के नाते नरेन्द्र देव राज्य के नौकरशाही हस्तक्षेप के विरूद्ध थे। इसलिए उनका प्रस्ताव था कि मजदूरों का एक वर्ग के रूप में उद्योग के प्रबंध में साझा होना

चाहिए। उन्हें कोरे सुधारवाद और संविधानवाद से सहानुभूति नहीं था। उनका कहना था कि जनसमुदाय को क्रियाशील बनाने तथा देश को लोकतंत्र के लिए तैयार करने का एकमात्र उपाय यह है कि किसी लोकहितकारी आर्थिक विचारधारा को अंगीकार करके राष्ट्रीय संग्राम का समाजीकरण किया जाय। नरेन्द्र देव ने देश में समाजवादी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। उस समय भारत पूँजीवादी लोकतांत्रिक क्रांति के दौर से गुजर रहा था। उनकी भावना थी कि समाजवाद को, राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम में सम्मिलित होना चाहिए। उनका कहना था कि यदि समाजवादियों ने अपने को देश में चल रहे राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संघर्ष से पृथक रखा तो उनका यह कार्य आत्महत्या करने के समान होगा। वे स्वाधीनता-संग्राम को सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने समाजवादियों से आग्रह किया कि एक औपनिवेशिक देश के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता समाजवाद के मार्ग में एक अपरिहार्य अवस्था है।

नरेन्द्रदेव ने कांग्रेस के अगस्त 1942 के प्रस्ताव का समर्थन किया क्योंकि यह प्रस्ताव स्वतंत्रता के सामाजिक पहलू की व्याख्या करता है। वह खेतों तथा कारखानों की सम्पूर्ण शक्ति को श्रमिक वर्ग में निहित करना चाहता है। उनकी दृष्टि में अगस्त प्रस्ताव का उद्देश्य जनसाधारण की सर्वोच्चता स्थापित करना था। नरेन्द्र देव जनसमुदाय की एकता के समर्थक थे उसे देश की राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार की मुक्ति के लिए संघर्ष करना था। ऐसी स्थिति में औद्योगिक मजदूरों, किसानों तथा निम्न मध्य वर्गों का संयुक्त मोर्चा आवश्यक हो गया था। नरेन्द्र देव भारत के कृषक पुनर्निर्माण में विश्वास करते थे। उनकी इच्छा थी कि किसानों के आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए किसान सभाओं को संगठित किया जाय। उन्होंने ग्राम विकास के लिए साक्षरता अभियान का समर्थन किया। वे जनसमुदाय की शिक्षा को प्रगति की आवश्यक शर्त मानते थे। भारत में किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की समस्याएँ बड़ी विकराल थी। नरेन्द्र देव स्टालिन की इस बात से पूर्णतः सहमत थे कि किसानों के विशाल समुदाय को समाजवादी विचारधारा से अनुप्राणित करना आवश्यक है। बहुसंख्यक किसानों को देश के समाजवादी पुनर्निर्माण की योजना से सम्बद्ध करने के लिए सहकारी समितियों को संगठित करना और उन्हें सुदृढ़ बनाना अति आवश्यक था। उनका आग्रह था कि किसानों के ऋण निरस्त कर दिए जायँ और लाभ के लिए सस्ते ब्याज पर ऋण की व्यवस्था की जाय। वे इस पक्ष में थे कि गाँवों में सहकारी व्यवस्था कायम करके लोकतांत्रिक ग्राम सरकार की स्थापना की जाय ताकि भारत के गाँवों में किसी न किसी रूप में नवीन जीवन आन्दोलन प्रारंभ किया जाय। इस प्रकार राजनीति में नरेन्द्र देव ऐहिकवादी राष्ट्रवाद के समर्थक थे। वे पुनरूत्थानवादी कदापि नहीं थे।

4.2.9. नरेन्द्र देव एक मार्क्सवादी के रूप में

आचार्य नरेन्द्र देव को एक मार्क्सवादी विचारक और बहुत हद तक प्रयोगकर्त्ता के रूप स्वीकार किया जाता है। उनका मानना था कि मार्क्सवादी क्रांति के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता अनिवार्य है। भारत को सबसे पहले स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। अपनी इसी धारण को उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेकर भी साबित किया। नरेन्द्र देव न केवल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल हुए बल्कि तथाकथित भारतीय समाजवादियों को भी इस आन्दोलन में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। उनका कहना था कि यह लड़ाई बुर्जुआ व्यवस्था के विरूद्ध है, इसलिए पक्का मार्क्सवादी इस लड़ाई में जरूर भाग लेगा। भारत में अंग्रेजों का शासन पूँजीवाद और बुर्जुआई व्यवस्था का परिचायक है, इसलिए इसे जितना जल्द हो सके, समाप्त करना चाहिए।

आचार्य नरेन्द्र देव को मजदूर वर्ग एवं किसान वर्ग से वास्तविक हमदर्दी थी, तभी तो वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं कांग्रेस के मार्फत इन्हें जागरूक करते रहे। नरेन्द्र देव ने हमेशा ही किसान आन्दोलन की सक्रियता एवं सफलता को मार्क्सवादी आन्दोलन से जोड़कर देखा। इनका मानना था कि अंग्रेज पूँजीवादी कुव्यवस्था के एजेण्ट हैं तथा भारत में देशी नरेशों और सामन्तों की इनसे साँठ-गाँठ हो गयी है। अब भारत में पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थक केवल अंग्रेज ही नहीं हैं बल्कि देशी नरेश और सामन्त भी हैं। अतः इन सभी के खिलाफ लड़ाई शुरू की जानी चाहिए, ताकि वर्गविहीन समाज की स्थापना की जा सके। इस प्रकार नरेन्द्र देव वर्गविहीन समाज की स्थापना की बात करते थे जिसे मार्क्सवादी व्यवस्था का लक्ष्य कहा जाता है।

यद्यपि उनका गाँधीजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, तथापि उन्होंने वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत का परित्याग नहीं किया। नरेन्द्र देव ने यहाँ तक कह दिया कि गाँधीवादी अहिंसा वर्गविहीन समाज में अन्ततः पर्यवसित होने की क्षमता रखती है। अहिंसा-व्रत के अपने इस अनुसन्धान से गाँधीवाद को यह तथ्य मिला है कि वर्ग-भेदों और सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं को मिटाए बिना समाज में से हिंसा का उन्मूलन नहीं हो सकता। अतः वर्गहीन समाज इसका ध्येय है और समत्वयुक्त समाज की एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था इसे करनी है जिससे जनतंत्रता का भाव नष्ट न हो और मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो। नरेन्द्र देव ने भारत की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने मार्क्सवादी आधार पर मानव समाज का विश्लेषण किया है तथा आदिम अवस्था से लेकर समाजवाद तक के सामाजिक विकास की प्रक्रिया पर विचार प्रस्तुत किया है। आचार्य नरेन्द्र देव ने बतलाया है कि उत्पादन की शक्तियों का विकास होने पर किस प्रकार वर्गों की उत्पति हुई तथा समाज में धनी-निर्धन का भेद प्रकट हो गया। स्वामी और दास, सामन्त और कृषक पूंजीपति और मजदूर या सर्वहारा आदि के वर्गों का विवेचन करते हुए उन्हें भारतीय समाज पर लागू करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''यहाँ पर किन-किन स्थानों पर गुलामी की यादगारें भी मिलेंगी, सामन्तशाही जमाने का आर्थिक ढाँचा दिखायी पड़ेगा (विशेषतः देशी रियासतों में) और पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली के युग में तो हम रह ही रहे हैं। अतः जब हम किसी युग की बात करते हैं तब हमारा मतलब इस समाज में प्रचलित आर्थिक प्रणाली से होता हैं।'' आचार्य नरेन्द्र देव ने मार्क्स के सुप्रसिद्ध दास कैपिटल का उद्धरण देते हुए तीन प्रमुख बातों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जिन्हें मार्क्स विशेष रूप से रेखांकित करता है। वे अनेक बार मार्क्सवाद के ऐसे व्याख्याता के रूप में प्रकट होते हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारतीय परिस्थितियों के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी ढंग पर कोई ऐसी प्रखर समाजवादी विचारधारा

प्राप्त करना चाहते हैं जिसे केवल भारत में ही नहीं सम्पूर्ण एशिया में लागू किया जा सके। सच्चे मार्क्सवादी की तरह आचार्य नरेन्द्र देव यह मानते हैं कि समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन होने के साथ उसकी मानसिक विचारधारा में भी परिवर्तन होता है। उन्होंने स्वीकार किया कि मार्क्सवाद समाज की प्रगति के नियमों का वैज्ञानिक विवेचन करने वाली एक नयी विचारधारा है। उन्हीं के शब्दों में'' मार्क्स की विशेषता यह थी कि उसने अपने साथी एंजेल्स की सहायता से वैज्ञानिक ढंग से नियमों की विवेचना करते हुए उन्हें एक विचार पद्धति में संगठित किया जिसे हृदयंगम करके हम समाज के भूत और वर्तमान इतिहास को समझ सकते हैं तथा भविष्य के लिए अपना कर्तव्य निर्धारित कर सकते हैं।'' आचार्य नरेन्द्र देव मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तथा द्वन्दात्मक भौतिकवाद के स्थान पर भौतिक अद्वैतवाद अथवा पदार्थवादी अद्वैतवाद शब्द का प्रयोग करते हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर पूंजीवाद का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि आन्तरिक शक्तियों के परिणाम-स्वरूप किस प्रकार समाज आदिम साम्यवादी युग से आरम्भ होकर आधुनिक युग की पूंजीवादी व्यवस्था तक पहुँचता है। पूंजीवाद को वे श्रम के शोषण पर आधारित एक त्रुटिपूर्ण व्यवस्था मानते हैं। आचार्य नरेन्द्र देव का कहना है कि ''जिस प्रकार धर्म मानवता को विकृत तथा खण्डित करता है उसी प्रकार उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया मानव श्रम के गौरव को नष्ट कर देती है। आचार्य नरेन्द्र देव उन आधुनिक अर्थशास्त्रियों में इतिहास के ज्ञान की कमी मानते हैं और कहते हैं कि वे कोरे अर्थशास्त्री हैं। अर्थशास्त्र के नियम शाश्वत नहीं है, वे सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस सन्दर्भ में मार्क्सवाद की इतिहास की गत्यात्मकता को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि यदि आर्थिक नियम अटल होते तो सामाजिक तथा आर्थिक विकास की सम्भावना ही न रह पाती। पूंजीवादी राज्य का विवेचन करते हुए आचार्य नरेन्द्र देव लिखते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता मानव को स्वतंत्र नहीं करती। वर्तमान सामाजिक प्रणाली पूंजीवादी है। आचार्य नरेन्द्र देव का मत है कि पूंजीवादी उत्पादन यहाँ मुट्ठी भर पूंजीपतियों में सम्पत्ति को केंद्रित करता है वहाँ वह असंख्य अकिंचन भी पैदा करता है। इस सर्वहारा मजदूर के प्रति सहृदयता दशति हुए वे स्वीकारते हैं कि वर्तमान प्रणाली के दोषों को दूर करने का साधन सर्वहारा मजदूर ही है।

मार्क्स के विचार के समान उन्होंने कहा कि पूँजीवाद में खुद अपने विनाश के कारण मौजूद होते हैं। जब पूँजीवाद पूर्णतः एकाधिकार की अवस्था में चला जाता है, चारों तरफ उसी का साम्राज्य स्थापित हो जाता है एवं गरीबों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है तब क्रांति अवश्यम्भावी हो जाती है जिससे पूँजीवादी व्यवस्था खत्म हो जाती है। आचार्य नरेन्द्र देव की यह मार्क्सवादी भविष्यवाणी सही साबित हुई कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सम्पूर्ण संसार में अपार परिवर्तन होगा और पूँजीवादी साम्राज्य काफी कमजोर पड़ जाएगा। भारत के सम्बन्ध में उनका मानना था कि यहाँ लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना होगी जिसमें लोकतांत्रिक ढ़ंग से समाजवादी लक्ष्य की पूर्ति की जायेगी। ऐसा ही भारत में देखा गया।

लेकिन मेरे विचार में नरेन्द्र देव की यह धारणा सही नहीं है कि मार्क्स द्रव्य तथा मानस दोनों को समान महत्व देता था। मार्क्स के अनुसार भौतिक वास्तविकता तथा चेतना, इन दोनों में से पहली वस्तु निस्सन्देह प्राथमिक तथा आधारभूत है। नरेन्द्र देव की व्याख्या तो वस्तुतः मार्क्स के मूल सिद्धांत का संशोधन है। वे द्वन्द्ववाद के सिद्धांत तथा पद्धति को स्वीकार करते थे, किन्तु इसमें संदेह है कि वे मार्क्सवादी के रूप में भौतिकवाद के समग्र दर्शन को अंगीकार करने के लिए उद्धत थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्स के दोनों प्रमुख सिद्धान्तों प्रथम वर्ग संघर्ष तथा द्वितीय द्वन्दात्मक भौतिकवाद को

आचार्य नरेन्द्र देव ने स्वीकार किया था। उनका मत था कि इतिहास एक गतिमान प्रवाह है, जिसे केवल गत्यात्मक पद्धति द्वारा ही समझा जा सकता है। उन्होंने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया। उनका कहना था कि केवल कोरे संविधानवाद या सुधारवाद द्वारा ही समाजवादी व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती है।

एक कट्टर मार्क्सवादी के रूप में आचार्य नरेन्द्रदेव भी समाज में व्याप्त उस दुर्व्यवस्था को समाप्त करना चाहते हैं, जिसमें समाज संचालन का सूत्र उन हाथों में रहे, जिनके पास अटूट सम्पदा हो। अर्थात् आचार्य भी पूँजीवाद के पक्ष में नहीं थे। लेकिन, साथ ही वे सामाजिक-भौतिक अभ्युदय को वास्तविक आध्यात्मिक लक्ष्य के साधन के रूप में देखने के पक्ष में थे।

4.2.10. नरेन्द्र देव एक क्रांतिकारी के रूप में

बहुत पहले से लेकर आज तक पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थकों तथा अन्य लोगों द्वारा यह कहा जाता है कि भारत में मार्क्सवादी क्रांति नहीं हो सकती है, क्योंकि भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रहन-सहन मार्क्सवादी क्रांति के प्रतिकूल है लेकिन नरेन्द्र देव ने इसे बिल्कुल निराधार, क्रांति विरोधी, बुर्जुआई व्यवस्था के हितैषी विचार कहा। इनका मानना है कि भारत में मार्क्सवादी क्रांति लायी जा सकती है। मार्क्स की तरह वे कहते हैं कि भारत में वे तमाम परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं जिन्हें क्रांति के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। यहाँ भयंकर गरीबी, बेरोजगारी, अत्याचार, शोषण और सामाजिक भेदभाव की स्थिति है, जिन्हें मार्क्सवादी क्रांति के संकेत के रूप में देखा जा सकता है। आचार्य नरेन्द्र देव ने मार्क्सवादी क्रांति के विरोधियों के इस दृष्टिकोण का खंडन किया कि कृषि-प्रधान देश में क्रांति नहीं हो सकती। इनका कहना था कि देश चाहे उद्योग-प्रधान हो या कृषि-प्रधान, यदि वहाँ शोषण और व्यापक आर्थिक असमानता है तो क्रांति होगी ही। भारत भले ही कृषि-प्रधान देश है लेकिन यहाँ सामन्ती व्यवस्था ने भयंकर आर्थिक विषमता को कायम कर दिया है जिसे क्रांति के सूचक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

मार्क्सवाद को अमली जामा पहनाने वाले लेनिन के विचार से आचार्य नरेन्द्र देव सहमत हैं कि साम्राज्यवादी व्यवस्था में ढ़ील भी क्रांति का कारण बन सकती है। लेनिन ने जिस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा के प्रसार के लिए समाज के बौद्धिक जन के सहयोग लेने पर जोर दिया, ठीक उसी प्रकार आचार्य नरेन्द्र देव ने क्रांति के लिए राजनीतिक शिक्षा और जागृति की अनिवार्यता को स्वीकार किया। इनका मानना था कि जनता को शिक्षा के द्वारा रूढ़िवादिता एवं शोषण की व्यवस्था से परिचित कराया जाना चाहिए, तभी क्रांति को गति मिल पायेगी।

आचार्य नरेन्द्र देव को विश्वास था कि आम हड़ताल भावनात्मक- विचारधारात्मक तथा कार्यनीतिक दोनों ही दृष्टियों से लाभदायक है। उनका विचार था कि आम हड़ताल के दो परिणाम होंगे। प्रथम, उससे देश की अर्थ-व्यवस्था पूर्णतः जर्जरित हो जाएगी और संपूर्ण आर्थिक ढ़ाँचे ठप्प हो जाने से विदेशी शोषक देश छोड़कर भाग जाएंगे। द्वितीय, आम हड़ताल को सफलतापूर्वक संगठित करने के फलस्वरूप जनता में प्रचण्ड शक्ति का उदय होगा जो सामाजिक क्रांति की भूमिका का काम करेगी। इसके अलावे आचार्य नरेन्द्र देव ने क्रांति के लिए एक ऐसे राजनीतिक दल के गठन को आवश्यक माना जिसके द्वारा भी क्रांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सके, लोगों में व्याप्त जातीय एवं साम्प्रदायिक भावना को समाप्त करते हुए वर्गीय धारणा को कायम किया जा सके। अतः समाजवादी व्यवस्था लागू करने के लिए

समाज में आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति आवश्यक है। उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि ''क्रान्ति नये समाज की प्रसव वेदना है, एक पतित समाज से उन्नत समाज की ओर जाने के लिये क्रान्ति एक अनिवार्य सीढ़ी है। इस प्रकार आचार्य नरेन्द्र देव एक क्रांतिकारी के रूप में मार्क्स के इस कथन का समर्थन करते थे। कहने का तात्पर्य यह कि नूतन समाज का जन्म देने में बल ही पुराने समाज की सहायता करता है।

4.2.11. नरेन्द्र देव का गाँधी के सम्बन्ध में विचार

जब महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन आरंभ किया तो आचार्य नरेन्द्र देव उसमें सम्मिलित हो गए। नरेन्द्र देव गाँधी के साथ तो रहे परन्तु इनका दृष्टिकोण गाँधीवादी न होकर मार्क्सवादी रहा। उन्होंने गाँधी की धर्मनिरपेक्षता की नीति को स्वीकार किया। उनका मानना है कि साम्प्रदायिकता से समाज कलुषित होता है तथा समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना कठिन होता है। उसी समाज को सभ्य समाज कहा जाता है जहाँ सम्प्रदाय विशेष के बीच प्रेम हो, टकराव नहीं। लेकिन आचार्य नरेन्द्र देव गाँधी के समान धर्मनिरपेक्षवादी होकर भी एक सांस्कृतिक पुनरूत्थानवादी नहीं हैं। उन्हें सामाजिक योजना के संचालन के लिए धर्मशास्त्रीय तथा काल्पनिक धारणाओं में कोई विश्वास नहीं है।

आचार्य नरेन्द्र देव गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम तथा संविधानवादी नीति के विरोधी हैं। इसका मुख्य कारण है कि आचार्य नरेन्द्र देव जैसे क्रांतिकारी नेता के लिए सविनय अवज्ञा और असहयोग जैसी नीति को स्वीकार करना कठिन है। इनका मानना है कि गाँधीवादी हथियार से स्वतंत्रता प्राप्ति संभव नहीं है और इससे वर्गीय षड़यंत्र को भी समाप्त नहीं किया जा सकता है। किसी भी व्यवस्था में क्रांति लानी है तो सर्वोत्तम उपाय समाजवादी प्रतिमान ही है। आचार्य नरेन्द्र देव आगे कहते हैं कि ''समाजवादी विचारधारा को लेकर और लोगों को आर्थिक दृष्टि से चेतन तथा राजनीतिक दृष्टि से संगठित करके हम भारत के लोगों को स्वतंत्रता की ओर ले जा सकते हैं।''

गाँधीजी को संविधानवाद यानि संवैधानिक सुधार के मार्फत विकास में विश्वास है लेकिन आचार्य नरेन्द्र देव इसके विरोधी हैं। आचार्य नरेन्द्र देव 1935 के भारतीय शासन अधिनियम का प्रबल विरोध किया क्योंकि वे मानते थे कि यह भारत में ब्रिटिश हुकूमत को स्थायी बनाने के लिए बुर्जुआई प्रयास है। साथ ही उन्होंने औपनिवेशिक काल में हिंसात्मक विरोध का भी समर्थन किया। आचार्य नरेन्द्र देव आम हड़ताल को एक हथियार के रूप में महत्व देते हैं। उनका मानना है कि जब संपूर्ण देश में एक आम हड़ताल की जाएगी तो ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भागना ही पड़ेगा।

आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में मार्क्सवाद व गाँधीवाद का सन्तुलित समन्वय यथार्थ रूप में परिलक्षित होता है। दोनों ही प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णरूपेण आत्म अभिव्यक्ति का, स्वयं को अपनी योग्यता, अन्तर्निहित प्रसुप्त शक्तियों के अधिकतम विकास का पूर्ण अवसर देना चाहते हैं। प्रतिबन्ध केवल यह है कि अज्ञानवश यह विकास ऐसी दिशा में नहीं जिससे दूसरों के विकास में बाधा पड़े। ऐसा पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब प्रत्येक को अपने अनुकूल शिक्षा सुलभ हो। किसी बच्चे को शिक्षा प्राप्ति से वंचित कर दे, यह समाज के माथे पर बहुत बड़ा कलंक है। मार्क्स तथा गाँधी दोनों ही समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को समाप्त करना चाहते थे। दोनों के मतानुसार अपने अनुरूप शिक्षा अपने अर्थ और काम की तुष्टि की सुविधा मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई ऐसी व्यवस्था जिसमें एक के श्रम का लाभ दूसरे

को पहुँचे, जिसमें मानव को जीविकोपार्जन के लिए अपमान या तिरस्कार का पात्र बनना पड़े सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार मार्क्स तथा गाँधी दोनों समाज में व्याप्त पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध थे।

लेकिन गाँधी के निधन के बाद आचार्य नरेन्द्र देव के दृष्टिकोण में बदलाव आया और इनके द्वारा गाँधीवादी सत्याग्रह की बात स्वीकार की जाने लगी। दिसम्बर 1955 के द्वितीय गया सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि ''जबतक शोषण और अत्याचार जारी रहेगा, सत्याग्रह और हड़ताल का क्रम भी जारी रहेगा।'' किन्तु आचार्य नरेन्द्र देव इनका प्रयोग एक वर्गहीन, समाजवादी समाज की रचना के लिए चाहते थे। इन्होंने वर्गहीन समाज की रचना करनी चाही लेकिन बाद के दिनों में गाँधीवादी हथियार उठाकर, गाँधी के समान उन्होंने भी कहा कि बुरे साधनों से हम अच्छे उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार आचार्य नरेन्द्र देव गाँधीवादी मूल्यों से भी प्रभावित दिखे। निश्चय ही आचार्य नरेन्द्रदेव के विचारों पर महात्मा गाँधी के अद्भुत व्यक्तित्व का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है विचारधारा के दृष्टिकोण से आचार्य नरेन्द्रदेव गाँधीवादी नहीं थे। फिर भी आचार्य जी ने महात्मा गाँधी की तरह आजीवन सत्य की उपासना, तन-मन-धन से राष्ट्र सेवा में लगा दिया, दीन-हीन मानवता की सेवा को सर्वोकृष्ट धर्म बताते हुए सदा निर्धनों की सेवा की तथा समाज में उन्हें उनका उचित अधिकार दिलाने हेतु संघर्षरत रहे। आचार्य जी का महात्मा गाँधी से भावात्मक लगाव था, पर वे महात्मा गाँधी के पूर्ण अहिंसा के सिद्धान्त, समाज संगठन के गाँधीवादी स्वरूप को तथा पूँजीवाद की पूर्णतः समाप्ति आदि के मुद्दों पर अपना स्वतंत्र विचार रखते थे। उनकी वैचारिक दृढ़ता प्रेरणादायक है। इससे यह स्पष्ट संदेश प्राप्त होता है कि विश्व के श्रेष्ठतम मानव का भी अन्ध भक्त अनुयायी न बनकर अपनी विचार शक्ति का यथेष्ट विकास करना चाहिये। त्रुटियाँ चाहे किसी की हो, उन्हें अस्वीकार करना चाहिये तथा अन्याय करना ही नहीं बल्कि अन्याय सहना भी पाप है, इस सिद्धान्त को स्वीकारते हुए सदैव न्याय प्राप्ति हेतु यथासम्भव हिंसा, द्वेष, घृणा, प्रतिशोध की अग्नि से दूर रहते हुए संघर्ष करना चाहिए। सभी मानव एक ही परम पिता के सन्तान हैं, अतः सभी को समाज में अपना समुचित विकास करने के समान अवसर और साधन समान रूप में मिलना चाहिये। अपनी योग्यता एवं कार्य कुशलता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन का साधन समान रूप से मिले। किसी के साथ अन्याय न हो, दरिद्रनारायण की सेवा को देश सेवा समझें, सत्य अवलम्बन लेकर नैतिकता से ओत-प्रोत, उत्तम मानवीय मूल्यों रूपी अलंकारों से सुसज्जित जीवन यापन करें, यह संदेश आचार्य जी ने आज के पथभ्रमित समाज को दिए, जो सम्पूर्ण विश्व के लिए लाभप्रद और कल्याणकारी है।

4.2.12. नरेन्द्र देव का लोकतांत्रिक समाजवाद का सिद्धांत

आचार्य नरेन्द्र देव मार्क्सवाद के प्रशंसक थे। ये मार्क्स को मानववादी मानते थे। बाद के दिनों में जब सोवियत व्यवस्था में कुछ खामियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं तब भी मार्क्सवाद उनके दिल एवं दिमाग से समाप्त नहीं हुआ लेकिन उनका विचार नवीन रूप लेता रहा। आचार्य नरेन्द्र देव के बदले हुए मार्क्सवादी दृष्टिकोण का नाम ही लोकतांत्रिक समाजवाद है, जिसमें एक साथ लोकतांत्रिक तथा समाजवादी दोनों मान्यताएँ दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए प्रजा समाजवादी पार्टी के द्वितीय सम्मेलन में आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा कि ''मार्क्सवाद में पहले तो लोहे का परदा लगता है लेकिन जब सुधार होने लगता है तो धीरे-धीरे परदा हटना शुरू हो जाता है। सोवियत संघ में यही हो रहा है और चीन में भी यही होगा। इसलिए क्यों नहीं हम भारत में बगैर परदा लगाए बेहतर भविष्य को प्राप्त कर लें।'' अभिप्राय यह है कि मार्क्सवाद भी

अन्ततः लोकतांत्रिक व्यवस्था चाहता है तो क्यों नहीं हम लोकतांत्रिक व्यवस्था के माध्यम से समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त कर लें। आचार्य नरेन्द्र देव ने महसूस किया कि भारत का भविष्य लोकतांत्रिक समाजवाद से ही उज्जवल हो सकता है।

उनके लोकतांत्रिक समाजवाद के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांत निम्नलिखित हैं:-

1. शोषित वर्ग के हितैषी - आचार्य नरेन्द्र देव के द्वारा सदैव समाज के शोषित वर्ग के हित में आवाज उठायी जाती रही। अपने लोकतांत्रिक समाजवादी सिद्धांत में भी उन्होंने इस वर्ग के कल्याण में कुछ ज्यादा ही ध्यान दिया। उनका कहना है कि लोकतांत्रिक समाजवाद में इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी का शोषण न हो तथा जो पहले से शोषित हैं, उनका कल्याण किया जा सके।

2. जातिरहित संरचना - उन्होंने भारतीय लोकतांत्रिक समाजवाद की सफलता के लिए जातिरहित सामाजिक संरचना को अनिवार्य बताया। उनका मत है कि जबतक समाज में जाति-व्यवस्था बनी रहेगी, तबतक समाज में वास्तविक न्याय एवं शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जातीय संरचना वाले समाज में लोकतंत्र अपने लक्ष्य को भी प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः आचार्य नरेन्द्र देव ने जातिविहीन सामाजिक संरचना को लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए अनिवार्य शर्त बताया है।

3. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण - उन्होंने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को भारतीय लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए आवश्यक माना। वे गाँधी के समान गाँवों के देश भारत में सांस्कृतिक क्रांति के लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण को आवश्यक माना, क्योंकि यह निरंकुशता एवं फासीवाद विरोधी व्यवस्था है।

4. उद्योग का समाजीकरण - आचार्य नरेन्द्र देव ने देश में पूँजी की वृद्धि और जन-कल्याण हेतु उद्योगों के समाजीकरण तथा अर्थव्यवस्था के नियोजन को आवश्यक माना। उनका कहना है कि उद्योगों की स्थापना समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। ऐसे उद्योग स्थापित किए जाने चाहिए जिससे बेरोजगारी नहीं बढ़े बल्कि उनका उन्मूलन हो जाय। उद्योग के प्रबंध में मजदूरों की भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए, ताकि हमेशा उनके साथ न्याय होता रहे और उन्हें समाजवादी व्यवस्था का पूर्ण लाभ मिलता रहे।

5. सहकारी समितियों का गठन - समाजवादी संरचना में सहकारी समितियाँ अति आवश्यक होती है जिनसे घरेलू वस्तुओं का वितरण बेहतर ढंग से सम्पादित किया जाता है। आचार्य नरेन्द्र देव ने सहकारी समितियों की आवश्यकता केवल वस्तु-वितरण में न्याय हेतु ही नहीं बल्कि कृषि के विकास एवं सहयोग के लिए भी आवश्यक माना है।

6. परिवर्तन के अहिंसक उपायों को मानना - आचार्य नरेन्द्र देव जो कभी हिंसात्मक परिवर्तन का समर्थन करते थे और गाँधीजी के सत्याग्रह नीति के विरोधी थे, उन्होंने ही लोकतांत्रिक समाजवाद में परिवर्तन के अहिंसक उपायों के प्रयोग करने की बात कहकर पक्के गाँधीवादियों में चर्चित हो गए। उन्होंने कहा कि लोकतांत्रिक समाजवाद में सभी लोग मिल-जुलकर रहेंगे तथा कोई किसी का शोषण नहीं करेगा, मजदूर अपनी माँग व्यवस्था के समक्ष शान्तिपूर्ण तरीके से रखेंगे तथा गाँधीवादी सत्याग्रह का प्रयोग करेंगे। अतः गाँधीवादी सत्याग्रह उनके लोकतांत्रिक समाजवाद का महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

7. सम्पत्ति का अधिकार - मार्क्सवादी व्यवस्था के समाजवादी चरण में व्यक्तिगत सम्पत्ति को छीन लिया जाता है, किसी को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं होता। लेकिन आचार्य नरेन्द्र देव के लोकतांत्रिक समाजवाद में ऐसा नहीं होता है। इसमें लोगों को सम्पत्ति का अधिकार होता है लेकिन

उसका प्रयोग राष्ट्रीय हित में करने की बात की जाती है। उन्होंने कहा कि सम्पत्ति के बल पर कोई गलत नहीं कर सकता और न ही किसी की सम्पत्ति को जब्त किया जा सकता है।

8. सामाजिक नैतिकता पर जोर - आचार्य नरेन्द्र देव लोकतांत्रिक समाजवाद को केवल राजनीतिक व्यवस्था से ही नहीं जोड़ते बल्कि सामाजिक व्यवस्था से भी जोड़ते हैं। उनका विचार है कि कोई भी राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था से अलग नहीं हो सकती। सामाजिक व्यवस्था अगर शोषणमुक्त, अत्याचारमुक्त और भेदभावविहीन हो तो राजनीतिक व्यवस्था की सफलता निश्चित है। इसीलिए उन्होंने अपने लोकतांत्रिक समाजवाद में सामाजिक नैतिकता पर ज्यादा बल दिया है।

9. एक सांस्कृतिक आन्दोलन - आचार्य नरेन्द्र देव का भारतीय लोकतांत्रिक समाजवाद एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। उन्होंने लोकतांत्रिक समाजवाद में सांस्कृतिक आन्दोलन जैसे उद्देश्य को भी रखा है जो समसामयिक समाज की अनिवार्य आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति काफी दयनीय है, स्त्रियाँ सांस्कृतिक पिछड़ेपन की शिकार हैं इसलिए उन्हें राष्ट्र-निर्माण की धारा में लाना होगा। अतः आवश्यक है कि लोकतांत्रिक समाजवाद सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में भी कार्य करे। इसके लिए उन्होंने दबाबरहित समाज तथा लिंग-विभेद को समाप्त करने की वकालत किया।

10. अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप - वैसे तो आचार्य नरेन्द्र देव के द्वारा लोकतांत्रिक समाजवाद की अवधारणा भारतीय सामाजिक- राजनीतिक स्वरूप को ध्यान में रखकर प्रतिपादित किया गया, लेकिन उन्होंने कहा कि इसको अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रभावी बनाया जा सकता है। संसार की खुशहाली मानवीयता की खुशहाली है।

इस प्रकार लोकतांत्रिक समाजवाद सम्बन्धी आचार्य नरेन्द्र देव के विचार से स्पष्ट होता है कि यह मार्क्स के द्वारा दिए गए सिद्धांत को भारतीय सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति में प्रभावी बनाने का एक प्रयास है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने समाजवाद के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''समाजवाद का ध्येय वर्गविहीन समाज की स्थापना है। समाजवाद प्रचलित समाज का इस प्रकार संगठन करना चाहता है कि वर्तमान परस्पर विरोधी स्वार्थी वाले शोषक और शोषित-पीड़ित वर्गों का अन्त हो जाय, वह सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का एक ऐसा समूह बन जाय जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्य की उन्नति हो तथा वह मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सके।''

आचार्य नरेन्द्रदेव ने समाजवादी आन्दोलन या समाजवादी के सिद्धान्तों के आधार पर स्वतंत्र भारत की जनता की आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिए जनता के हाथ में समस्त सत्ता का हस्तान्तरण चाहते थे। वे आर्थिक जीवन के विकास के लिए राज्य द्वारा आयोजन एवं नियंत्रण, दस्तकारियों, जैस-लोहा, कपास, जूट, रेलों, जहाजों, खानों तथा बैकों आदि का राष्ट्रीयकरण करना चाहते थे ताकि उत्पादन, वितरण और विनिमय के समस्त साधनों का उत्तरोतर समाजीकरण सम्भव हो सके। आचार्य की मंशा थी कि आर्थिक जीवन के लिए अंश का समाजीकरण न हो, उसमें विदेशी व्यापार, उत्पादन वितरण और राज्य के एकाधिकार, नरेशों, जमींदारों और अन्य शोषक वर्गो का अन्त करना, भूमि का किसानों में पुर्नवितरण करना, सहकारी और सामूहिक कृषि की वृद्धि का समष्टिकरण एवं किसानों और मजदूरों का ऋण रद्द किया जाने का प्रयास शामिल था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य नरेन्द्रदेव ने समाजवाद के सिद्धान्त द्वारा स्वतंत्र भारत के विकास के लिए आर्थिक विचार मूल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ताकि स्वतंत्र भारत की समुचित आर्थिक समृद्धि की जा सके।

4.2.13. निष्कर्ष

आचार्य नरेन्द्र देव नैतिक समाजवादी थे। उन्होंने समाजवादी विचारों पर पुस्तक तथा अनेक लेख लिखे हैं। उनकी राजनीतिक रचनाएँ बहुत मौलिक यानी गंभीर नहीं हैं; किन्तु वे ओजपूर्ण तथा प्रसादगुण सम्पन्न हैं। उनकी रचनाओं का व्यवहारिक उद्देश्य है, क्योंकि उसके मूल में समाजवादी आन्दोलन तथा किसान आन्दोलन को बल देने का स्पष्ट झलक था। आचार्य नरेन्द्र देव नैतिक मानवतावादी थे। उन्होंने समाजवाद के मानववादी आधारों को अधिक महत्व दिया। उन्होंने मजदूर वर्ग को ज्यादा महत्व दिया है और औद्योगिक प्रबन्ध में उनको साथ रखने पर कुछ ज्यादा ही बल दिया है। उनका मत था कि गाँवों में सरकारी लोकतंत्र लागू करके एक 'लोकतांत्रिक गाँव सरकार' की नवीन अवधारणा को स्वीकार किया जाना चाहिए, ग्रामीण जीवन में सांस्कृतिक क्रांति लाने के लिए 'नवजीवन आन्दोलन' चलाया जाना चाहिए तथा समाजवादी विचारधारा से ग्रामीण कृषकों को अवगत एवं आकर्षित किया जाना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य नरेन्द्र देव मानववादी उत्साह से अनुप्रेरित थे और शोषित तथा संतप्त मानवता की मुक्ति के लिए उद्धत थे। उन्होंने उत्साहपूर्वक कहा कि मार्क्सवाद को क्रियान्वित करके एक नवीन समाज का निर्माण करना संभव है। शायद उनके मन में यह हो कि लेनिन और माओ ने जिस प्रकार मार्क्सवाद को परिस्थिति के अनुकूल बदलकर प्रयोग किया, वैसा वे भी कर पाये।

आचार्य नरेन्द्र देव के व्यक्तित्व की विशेषता इस बात में है कि वे जीवन के अन्तिम समय तक अपने विचारों में सामाजिक क्रान्ति के प्रबल समर्थक रहे तथा उनके चिन्तन में प्रतिक्रियावाद के लिए कोई स्थान नहीं है। उनके व्यक्तित्व में मौलिक चिन्तन की क्षमता है तथा वे मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारों में नवीन सूत्र जोड़ने की क्षमता रखते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि उन्होंने मार्क्सवाद लेनिनवाद को भारतीय संस्कार देने का सत्कार्य किया।

4.2.14. कठिन शब्दावली

(1) परित्याग-त्याग करना
(2) विकेन्द्रीकरण-बिखरी हुई
(3) समग्र-सम्पूर्ण
(4) अनुप्राणित - प्रेरित
(5) धर्मनिरपेक्ष - धर्म को आधार न बनाना
(6) आत्मसात-अपना लेना
(7) समत्वयुक्त-समभाव-बराबर की भावना
(8) जर्जरित-जर्जर होना
(9) कलुषित - अपवित्र, निंदित
(10) पुनरुत्थान- फिर से उठना

4.2.15. अभ्यास प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न

(1) आचार्य नरेन्द्र देव का जन्म कब हुआ था?

(क) 30 अक्टूबर, 1889 (ख) 31 अक्टूबर, 1889

(ग) 30 अक्टूबर, 1888 (घ) 31 अक्टूबर, 1890

(2) आचार्य नरेन्द्र देव का जन्म कहाँ हुआ था?

(क) उत्तर प्रदेश (ख) महाराष्ट्र

(ग) मध्यप्रदेश (घ) बिहार

(3) आचार्य नरेन्द्र देव किस विश्वविद्यालय के कुलपति रहे?

(क) पटना विश्वविद्यालय (ख) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

(ग) दिल्ली विश्वविद्यालय (घ) लखनऊ विश्वविद्यालय

(4) आचार्य नरेन्द्र देव किस चिन्तन से प्रभावित थे?

(क) गाँधीवाद (ख) मार्क्सवाद

(ग) उदारवाद (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(5) आचार्य नरेन्द्र देव की रचना है।

(क) माई एक्सपेरीमेंट विद् ट्रुथ (ख) डिस्कवरी ऑफ इंडिया

(ग) राष्ट्रीयता और समाजवाद (घ) उपर्युक्त सभी

(6) वैज्ञानिक समाजवाद के प्रतिपादक हैं-

(क) आचार्य नरेन्द्र देव (ख) डॉ0 राम मनोहर लोहिया

(ग) जय प्रकाश नारायण (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(7) आचार्य नरेन्द्र देव का निधन कब हुआ?

(क) 16 फरवरी, 1956 को (ख) 18 फरवरी, 1956 को

(ग) 18 फरवरी, 1957 को (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं

(8) किसने 1955 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का नीति वक्तव्य तैयार किया ?

(क) डॉ0 राम मनोहर लोहिया (ख) जय प्रकाश नारायण

(ग) आचार्य नरेन्द्र देव (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

(9) आचार्य नरेन्द्र देव काँग्रेस कार्य समिति के सदस्य बनाए गएः-

(क) 1945 में (ख) 1936 में

(ग) 1938 में (घ) 1939 में

(10) कौन ऐसे मार्क्सवादी रहे जो गाँधीवादी मूल्यों से भी प्रभावित था ?

(क) लेनिन (ख) माओ

(ग) स्टालिन (घ) आचार्य नरेन्द्र देव

उत्तरः- (1) क (2) क (3) घ (4) ख (5) ग

(6) क (7) ख (8) ग (9) ख (10) घ

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) भारतीय धर्म के बारे नरेन्द्र देव के क्या विचार हैं?
(2) नरेन्द्र देव के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद का वर्णन करें।
(3) नरेन्द्र देव किस विचारधारा से प्रभावित थे?
(4) नरेन्द्र देव के चिन्तन का दार्शनिक आधार क्या था?
(5) नरेन्द्र देव का वर्ग-संघर्ष में विश्वास था? स्पष्ट करें।
(6) नरेन्द्र देव क्रांतिकारी थे? स्पष्ट करें।
(7) नरेन्द्र देव मार्क्सवादी थे? स्पष्ट करें।
(8) नरेन्द्र देव गाँधीवाद के अनुयायी थे? स्पष्ट करें।
(9) नरेन्द्र देव का लोकतांत्रिक समाजवाद क्या है?
(10) नरेन्द्र देव का कृषि संबंधी विचार का उल्लेख करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) नरेन्द्र देव के चिन्तन के दार्शनिक आधार को स्पष्ट करें।
(2) नरेन्द्र देव के सामाजिक विचारों का वर्णन करें।
(3) नरेन्द्र देव के राजनीतिक विचारों का वर्णन करें।
(4) नरेन्द्र देव के मार्क्सवादी विचारों का उल्लेख करें।
(5) नरेन्द्र देव के क्रांतिकारी विचारों का उल्लेख करें।
(6) 'नरेन्द्र देव गाँधीजी के साथ रहकर भी गाँधीवादी न होकर मार्क्सवादी रहे', स्पष्ट करें।
(7) नरेन्द्र देव के लोकतांत्रिक समाजवाद के सिद्धांत की व्याख्या करें।

4.2.16. संदर्भ ग्रंथसूची

(1) जैन पुखराज एवं मेहता जीवन, राजनीति विज्ञान, एस0 बी0 पी0 डी0 पब्लिकेशन्स, आगरा, 2013, पृ० सं0 210-216.
(2) वर्मा डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक, आगरा, 1983, पृ० सं० 525-535.
(3) फाड़िया डॉ० बी० एल०, 2008, राजनीति चिंतन भारतीय एवं पाश्चात्य, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, पृष्ठ संख्या 67-74
(4) पाण्डेय रविप्रकाश, भारतीय सामाजिक विचार, विजय प्रकाशन मंदिर, सी. के. 15/53, सुडिया, वाराणसी, 1989
(5) सिंह भगवती शरण, आधुनिक भारत के निर्माता, आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली, 1991
(6) दीक्षित चन्द्रीय, डेमोक्रेटिक सोशलिज्म इन इंडिया, एस.चांद एंड कम्पनी, नई दिल्ली, 1971
(7) सिंह, भोला, द पॉलिटिकल आइडियाज ऑफ एम0 एन0 राय एण्ड जयप्रकाश नारायण (ए कम्पेरेटिव स्टडी), आशीष पब्लिसिंग कम्पनी, न्यू दिल्ली, 1985

इकाई - 3 डा॰ राम मनोहर लोहिया

इकाई की रूपरेखा

4.3.1. उद्देश्य
4.3.2. प्रस्तावना
4.3.3. जीवन परिचय
4.3.4. लोहिया की रचनाएँ
4.3.5. लोहिया के राजनीतिक विचार
4.3.5.1. इतिहास के चक्र-सिद्धांत का समर्थक
4.3.5.2. चौखम्भा राज्य योजना
4.3.5.3. वाणी-स्वातंत्र्य और कर्म-नियंत्रण
4.3.5.4. सविनय अवज्ञा का समर्थन
4.3.5.5. राजनीति और धर्म
4.3.5.6. मौलिक अधिकार
4.3.6. लोहिया के सामाजिक विचार
4.3.7. लोहिया के आर्थिक विचार
4.3.8. लोहिया के भाषा सम्बन्धी विचार
4.3.9. एशियाई समाजवाद की अवधारणा का प्रतिपादन
4.3.10. नव-समाजवाद की परिकल्पना
4.3.11. लोहिया एक मानवतावादी समाजवादी
4.3.12. निष्कर्ष
4.3.13. कठिन शब्दावली
4.3.14. अभ्यास प्रश्न
4.3.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.3.1. उद्देश्य

- डॉ॰ राम मनोहर लोहिया के कृतित्व एवं व्यक्तित्व को जान सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया के जीवन के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया की रचनाओं के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक विचार एवं चौखम्भा राज्य योजना के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया के राजनीति और धर्म के सम्बन्ध में विचार जान सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया के सामाजिक विचार को जान सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया के आर्थिक विचार को जान सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया के भाषा सम्बन्धी विचार को जान सकेंगे।

- डॉ॰ लोहिया के एशियाई समाजवादी अवधारणा एवं नव-समाजवाद की परिकल्पना को समझ सकेंगे।
- डॉ॰ लोहिया के सार्वभौम विश्व समाजवादी व्यवस्था को समझ सकेंगे।

4.3.2. प्रस्तावना

डॉ॰ राम मनोहर लोहिया समाजवादी विचारों के उग्र तथा धुआँधार प्रचारक थे। उनके भाषण तीक्ष्ण आलोचना से युक्त तथा आँकड़ों से पूर्ण हैं। देश के स्वाधीनता संग्राम में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। 1952 में कांग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि समाजवादी चिन्तन में गाँधीवादी विचारों को और अधिक अंश में सम्मिलित किया जाय। वे कुटीर उद्योगों पर आधारित विकेन्द्रीकृत अर्थतंत्र के पक्ष में थे। चूँकि लोहिया पर गाँधीवाद का प्रभाव बढ़ रहा था। इसलिए उन्होंने कहा कि समाजवादी कांग्रेस तथा साम्यवादियों के समान दूरी पर हैं। उनका आग्रह था कि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को कांग्रेस के साथ अटल मैत्री सम्बन्ध नहीं कायम करना चाहिए, बल्कि यह अच्छा होगा कि वह परिस्थितियों के अनुसार उनमें से किसी के भी साथ चुनाव संबंधी समझौते कर ले। दिसम्बर 1955 में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना हुई और लोहिया उसके पहले अध्यक्ष बने। भारत के समाजवादी आन्दोलन की प्रगति में उनका उल्लेखनीय योगदान था।

4.3.3. जीवन परिचय

डॉ॰ राम मनोहर लोहिया का जन्म 23 मार्च, 1910 में उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले के अकबरपुर गाँव में हुआ था। इनका परिवार मूलतः राजस्थानी था, लेकिन इनके पूर्वज तीन-चार पीढ़ी पूर्व राजस्थान से मिर्जापुर में आकर बस गए थे तथा वहाँ लोहे का व्यवसाय करने के कारण लोग उन्हें लोहिया के नाम से पुकारने लगे। पुनः व्यावसायिक तथा अन्य कारणों से डॉ0 लोहिया के पिता मिर्जापुर से अकबरपुर आकर बस गए। ढ़ाई वर्ष की अवस्था में ही उनकी माता की मृत्यु हो गई, उनका लालन-पालन पिता की देख-रेख में ही हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा अकबरपुर से प्रारंभ हुआ। उनके पिता बम्बई आ गए तथा उन्होंने लोहियाजी को शिक्षा हेतु वहाँ के मारवाड़ी हाई स्कूल में प्रवेश दिलाया। सन् 1925 में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। इसके बाद उन्होंने सन् 1927 में इण्टर की परीक्षा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण किया तथा सन् 1929 में कलकत्ता के विद्यासागर महाविद्यालय से स्नातक की परीक्षा पास किया। बाद में उन्होंने बर्लिन (जर्मनी) के हुम्बर्ट विश्वविद्यालय से प्रख्यात अर्थशास्त्री के मार्गदर्शन में सन् 1932 में 'नमक का अर्थशास्त्री प्रो0 सोम्बार्ट विषय पर शोध उपाधि प्राप्त किया। इस तरह सफलतापूर्वक अपनी शिक्षा पूर्ण कर राम मनोहर लोहिया सन् 1933 में जर्मनी से भारत लौट आए।

अपने पिता के गाँधीवादी राजनीति में रूचि होने के कारण डा0 लोहिया भी बचपन से ही राजनीतिक गतिविधियों में अभिरूचि रखते थे। सिर्फ 14 वर्ष के अल्पावस्था में ही लोहिया ने कांग्रेस के गया अधिवेशन में एक प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। यहीं से वे कांग्रेस की गाँधीवादी राजनीति के रंग में रंग गये तथा उससे प्रभावित होकर स्वयं खद्दर पहनने लगे और उसका प्रचार भी करने लगे। सन् 1928 में कलकत्ता में छात्र रहते हुए उन्होंने साइमन कमीशन विरोधी आन्दोलन में भाग लिया। इसी दौरान

उनका पंडित जवाहर लाल नेहरू से परिचय हुआ तथा वे उनके साथ जुड़ गए। शिक्षा समाप्त कर विदेश से लौटने के बाद वे पूर्णरूपेण राजनीति में सक्रिय हो गए।

सन् 1934 में आचार्य नरेन्द्र देव के नेतृत्व में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। अपनी समाजवादी आस्थाओं के कारण डॉ॰ लोहिया जयप्रकाश नारायण जैसे सरीखे समाजवादी नेताओं के साथ इस पार्टी में शामिल होकर उस पार्टी के मुख्य पत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट' का सम्पादन करने लगे। सन् 1935 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में पंडित जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस के अन्तर्गत एक विदेश विभाग की स्थापना की गयी, जिसकी जिम्मेदारी बतौर सचिव डा0 लोहिया को सौंपी गयी जिसका उन्होंने बखूबी निर्वाह किया। लेकिन मतभेद के कारण उन्होंने सन् 1938 में पदत्याग कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय डॉ0 लोहिया भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में सक्रिय रहते हुए ब्रिटिश शासन का युद्ध विरोधी आन्दोलन का संचालन करने लगे। फलतः उन्हें सन् 1940 में गिरफ्तार कर लिया गया। गाँधीजी द्वारा इसका विरोध किए जाने पर सन् 1941 में उनको रिहा कर दिया गया।

कांग्रेस द्वारा प्रारंभ किए गए 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में डॉ0 लोहिया ने सक्रिय भाग लिया तथा भूमिगत रहकर आन्दोलन को गति देने के लिए काँग्रेस रेडियो नामक गुप्त रेडियो की स्थापना की तथा उसके माध्यम से ब्रिटिश सरकार विरोधी उग्र और उत्तेजक प्रचार-प्रसार कर आन्दोलनकारियों को सक्रिय प्रेरणा और मार्गदर्शन प्रदान करने लगे। वे ब्रिटिश शासन के कोप से बचने के लिए नेपाल भाग गए, लेकिन पुनः गिरफ्तार कर लिए गए। वहाँ से जेल से फरार होकर वे पुनः भारत लौट आए लेकिन 1944 में बम्बई में उन्हें पुनः गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। जेल में उन्हें असहनीय अमानुषिक यातनाएँ दी गयीं तथा उन्हें हर तरह से आतंकित किया गया लेकिन उन्होंने अदम्य साहस दिखाकर उनका मुकाबला किया। फलतः अप्रैल 1946 में थककर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया।

1946 में जेल से रिहा होने के पश्चात् उन्होंने गाँधीजी के आशीर्वाद से पुर्तगाली सरकार से गोआ की मुक्ति के लिए आन्दोलन प्रारंभ किया। फलतः गोआ सरकार द्वारा उन्हें पुनः गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। पुनः गाँधीजी के हस्तक्षेप से उन्हें रिहा कर दिया गया। सन् 1947 में कांग्रेस द्वारा देश-विभाजन के मूल्य पर स्वतंत्रता की स्वीकृति में उन्हें झकझोर दिया। डॉ0 लोहिया ने कांग्रेस की नीति से बिक्षुब्ध होकर कांग्रेस छोड़ दिया तथा सोशलिस्ट पार्टी को पुनः सक्रिय किया। उसके नेतृत्व में उन्होंने विभिन्न जन-हितकारी तथा जन अधिकार-रक्षक आन्दोलनों का सफल संयोजन किया। उनकी हार्दिक आकांक्षा थी कि शुद्ध समाजवादी सिद्धांतों पर आधारित एक सशक्त संगठन की स्थापना की जाए, जिससे निर्धनों, पददलितों तथा पिछड़े हुए वर्गों के हितों और अधिकारों की सफलतापूर्वक सुरक्षा की जा सके। इस उद्देश्य से उन्होंने संसद के बाहर रहकर अपने दल के नेतृत्व में 'अंग्रेजी हटाओ', 'दाम बाँधो', 'जाति तोड़ो', 'हिमालय बचाओ' आदि आन्दोलनों का संचालन किया। स्वतंत्रता के पश्चात् 1962 तक वे इसी प्रकार के समाजवादी आन्दोलनों का संगठन और संचालन करते रहे।

सन् 1952 से लेकर 1962 तक डॉ0 लोहिया कई बार पंडित नेहरू के विरूद्ध चुनावों में खड़े हुए लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। सन् 1963 में अमरोहा निर्वाचन क्षेत्र से उप-चुनाव में विजयी होकर डॉ0 लोहिया प्रथम बार लोकसभा में प्रविष्ट हुए जहाँ उन्होंने सरकार की और विशेष रूप से पंडित नेहरू द्वारा अपनायी गयी विभिन्न नीतियों और कार्यक्रमों की प्रखर आलोचना कर प्रहार किया तथा उनके जन-विरोधी चरित्र को उजागर करने का प्रयास किया। यद्यपि उनकी भी कटु आलोचना हुई लेकिन बेपरवाह होकर वे स्वतंत्र रूप से अपने मार्ग पर चलते रहे। सन् 1964 ई0 में डॉ॰ लोहिया ने मंहगाई,

भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, लाल-फीताशाही आदि जनहितकारी मुद्दों पर विभिन्न दलों के साथ मिलकर देशव्यापी बन्दों का आयोजन किया तथा भारतीय जनता को उनके प्रति आकृष्ट किया।

सन् 1967 के चुनाव में उन्होंने गैर-कांग्रेसी आधार पर विभिन्न विरोधी दलों के गठबंधन को कायम कर 'काँग्रेस हटओ-देश बचाओ' का नारा बुलन्द किया। फलस्वरूप देश के आधे से अधिक राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों की स्थापना संभव हो सकी तथा गैर-कांग्रेसवाद भारतीय राजनीति की एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरने में सफल हुआ। 12 अक्टूबर, 1967 को लम्बी बिमारी के बाद उनका निधन हो गया। इस प्रकार आजीवन उपेक्षित, पीड़ित और शोषित वर्ग के हिमायती तथा अविचलित उत्साह, धैर्य, निष्ठा तथा त्याग-तपस्या के धनी और कभी पराजय नहीं स्वीकार करने वाले अदम्य व्यक्तित्व का मौत के हाथों दुःखद और असामयिक अन्त हो गया। उनकी यह विदाई भारतीय राजनीति के लिए अपूरणीय क्षति के समान थी। फलतः उनके द्वारा रिक्त किया गया स्थान आज भी रिक्त है। पारिवारिक बन्धनों से मुक्त डॉ॰ लोहिया आजीवन अविवाहित और जन्मजात विद्रोही प्रकृति के निष्ठावान, समाजवाद के प्रति समर्पित एवं उच्च मानवतावादी आदर्शों से प्रेरित जीवन के एक मूर्त रूप थे। वे अपने आदर्शों के लिए जीये और उन्हीं के लिए कुर्बान हो गये। डॉ0 लोहिया जीवन और मृत्यु दोनों में एक आदर्श थे, एक कर्मयोगी थे। अपने आप में अतुलनीय बुलन्द व्यक्तित्व के स्वामी थे।

4.3.4. लोहिया की रचनाएँ

डॉ॰ राम मनोहर लोहिया एक प्रखर बुद्धि वाले चिन्तक थे। एक विचारक और लेखक के अतिरिक्त डॉ॰ लोहिया एक सफल पत्रकार भी थे। उन्होंने अंग्रेजी में 'मेनकाइन्ड' तथा हिन्दी में 'जन' नामक पत्रों का सम्पादन भी किया। डॉ॰ लोहिया द्वारा हिन्दी में रचित कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं, जो निम्न हैं- समाजवादी चिन्तन (1956), सिविल नाफरमानीः सिद्धांत और अमल (1960), समाजवादी एकता (1961), क्रांति के लिए संगठन (1963), भारत, चीन और उत्तरी सीमाएँ (1963), जाति प्रथा (1964), इतिहास चक्र (1966), धर्म पर एक दृष्टि (1966), भारत में समाजवाद (1968), समाजवादी आन्दोलन का इतिहास (1969), राम, कृष्ण और शिव (1969), सुधरो अथवा टूटो (1971), अर्थशास्त्र: मार्क्स के आगे (1980)। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी में भी ग्रंथ की रचना किया, जो इस प्रकार है- ह्वील ऑफ हिस्ट्री (1966), गिल्टी मेन ऑफ इंडियाज पार्टिशन (1970), मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशियलिज्म (1963) आदि।

4.3.5. लोहिया के राजनीतिक विचार

डॉ॰ राम मनोहर लोहिया का राजनीतिक चिन्तन उनके समाजवादी दर्शन से उत्पन्न हुआ है। साधारणतः समाजवादी दर्शन का मुख्य आधार आर्थिक तत्व होता है तथा उसी के आधार पर समाजवादियों का सम्पूर्ण सामाजिक विश्लेषण होता है और वही सामाजिक परिवर्तन का तथा समाजवादी समाज की स्थापना का मुख्य निर्णायक तत्व होता है। लेकिन डॉ0 लोहिया के अनुसार आर्थिक तत्व के साथ-साथ परिवर्तनकारी तत्व की दृष्टि से सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक तत्व भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह सभी तत्व मिलकर भी उस सामाजिक चेतना का निर्माण करते हैं जो सामाजिक परिवर्तन की उस पृष्ठभूमि को तैयार करते हैं जिसका परिणाम समाजवादी समाज की स्थापना के रूप में होता है। अतः इसी आधार पर डॉ0 लोहिया अपने समाजवादी चिन्तन का सम्पूर्ण

ताना-बाना बुनते हैं। सर्वप्रथम वे इस दृष्टि से मानव इतिहास की व्याख्या करते हैं तथा उस प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं जो उसको गति प्रदान करने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह करती है। इस प्रकार उनके राजनीतिक विचार निम्न हैं-

4.3.5.1. इतिहास के चक्र-सिद्धांत का समर्थक

डॉ॰ लोहिया इतिहास के चक्र-सिद्धांत के समर्थक थे। उनके अनुसार इतिहास की गति चक्र के सदृश तथा अपरिवर्तनीय होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार उनकी यह मान्यता थी कि ''विश्व के इतिहास को प्राचीन, मध्य और आधुनिक युगों में विभाजित करना, उसमें एक अबाध या एक के बाद एक उत्थान क्रम का प्रतिपादन करना एक सांस्कृतिक बर्बरता है, जो किसी भी दृष्टि से दिलचस्प और तर्क संगत नहीं है।'' यह धारणा अरस्तू के चक्र-सिद्धांत का स्मरण दिलाती है। डॉ॰ लोहिया का इस दृष्टि से यह कथन था कि ''यदि यह सत्य है कि जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य तो यह भी सत्य है कि जो मरता है, वह फिर जन्म लेगा।'' यह सिद्धांत मनुष्य पर ही नहीं, सभ्यताओं पर भी लागू होता है। राष्ट्रों और सभ्यताओं का उत्थान-पतन एक निरन्तर घटनेवाली घटना है। इसको सिद्ध करते हुए डॉ॰ लोहिया का कथन है कि ''शक्ति और समृद्धि हर काल में बराबर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में स्थानान्तरित होती रहती है। कोई सदैव ऐतिहासिक विकास की सर्वोच्च चोटी पर नहीं बैठा रहा है। कभी विश्व का कोई राष्ट्र उत्थान की सर्वोच्च चोटी पर होता है तो कभी कोई अन्य राष्ट्र। कोई भी राष्ट्र विश्व में सदैव न तो वैभव-शक्ति एवं सम्पत्ति से परिपूर्ण होता है और न सदैव के लिए उससे वंचित।'' भारत और यूनान की सभ्यताएँ किसी समय अपने ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से सर्वोच्च शिखर पर थीं लेकिन इसका शनैः-शनैः पतन हो गया और इनका स्थान आज पश्चिमी सभ्यता ने ले लिया है।

डॉ॰ लोहिया इसके लिए एक राष्ट्र में चलने वाले आन्तरिक वर्ण-वर्ग संघर्ष को उत्तरदायी ठहराते हैं। उनके अनुसार अस्थिर वर्ण को वर्ग तथा स्थायी वर्ग को वर्ण कहते हैं। वर्ग समानता की चाह की अभिव्यक्ति है और वर्ण न्यायिक चाह की अभिव्यक्ति है। समानता की भावना अधिक शक्तिशाली होना स्वाभाविक होती है, जबकि न्याय की भावना उसकी तुलना में एक कृत्रिम भावना है। इन इच्छाओं में सर्वोच्चता प्राप्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष चलता रहता है तथा इस संघर्ष का स्वरूप ही एक राष्ट्र के स्वरूप को निर्धारित करता है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि ''अब तक समस्त मानवीय इतिहास वर्गों और वर्णों के मध्य चलने वाले इस संघर्ष का और उससे उत्पन्न बदलाव अर्थात् वर्गों की जकड़ से वर्ण बनने और वर्णों के बिखराव से वर्ग बनने का इतिहास रहा है।''

इस आन्तरिक वर्ण-वर्ग संघर्ष के आधार पर एक राष्ट्र के उत्थान-पतन की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए डॉ॰ लोहिया कहते हैं कि जब एक राष्ट्र विकासशील या उत्थान की प्रक्रिया में होता है, तब वर्ण-व्यवस्था की अनुपस्थिति और वर्ग-व्यवस्था की उपस्थिति रहती है। अपनी आय-शक्ति और सामाजिक स्थिति में भिन्नता के कारण राष्ट्र में विद्यमान ये वर्ग अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ और स्थिर करने के लिए संघर्षरत रहते हैं तथा कालान्तर में तकनीकी विकास की चरम सीमा और वर्ग-संघर्ष की तीव्रता के कारण उसमें अव्यवस्था उत्पन्न होती है जो उसके पतन का कारण सिद्ध होती है। तब वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने के लिए न्याय के आधार पर राष्ट्रीय स्थिति को स्थिर करने हेतु वर्णों का निर्माण किया जाता है। वर्ण-व्यवस्था की यह स्थापना राष्ट्र के अधःपतन की स्थिति का द्योतक होती है क्योंकि इस वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से स्थापित स्थिरता की स्थिति उच्च-निम्न, स्पृश्य-अस्पृश्य, धनी-निर्धन

आदि की असमान स्थिति पर आधारित होती है जिससे राष्ट्र में शोषक और शोषित वर्णों की उत्पत्ति होती है। फलतः राष्ट्रीय-समाज में निर्धनता और निरीहता का विस्तार होता है जिससे मुक्ति के लिए वर्गों की स्थापना करके पुनः समानता की स्थिति स्थापित करने हेतु प्रयास किया जाता है। इसके कारण पुनः वर्णों के स्थान पर वर्गों का निर्माण होने लगता है।

इस प्रकार वर्ग से मुक्ति हेतु वर्ण और वर्ण से मुक्ति हेतु वर्ग एक राष्ट्र को सदैव जकड़े रहते हैं। इतिहास के इस चक्रीय सिद्धांत का प्रतिपादन कर डॉ० लोहिया यह सिद्ध करते हैं कि सभी राष्ट्र कभी-न-कभी अपने विकास की चरम सीमा का स्पर्श करते हैं तथा अपनी इस सर्वोच्च विकसित स्थिति तथा काल में अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते हैं। इस क्रम में मानव-जाति का सांस्कृतिक और भौतिक पारस्परिक सम्बन्ध होता है। फलतः विभिन्न जातियों के मनुष्य भाषा, व्यवहार, विचार, उत्पादन पद्धति और धार्मिक दृष्टि से एक दूसरे के निकट आते हैं और इन विषयों में एक दूसरे से प्रेरित और प्रभावित होते हैं। इस प्रकार उन्होंने इतिहास की व्याख्या के अपने इस चक्रीय सिद्धांत के माध्यम से सामाजिक विकास के तीन प्रमुख सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है- पहला, वैभव और सम्पत्ति का स्थान सतत् परिवर्तित होता रहता है जिससे राष्ट्रों का उत्थान और पतन होता है। दूसरा, हर राष्ट्र के अन्दर वर्ग-वर्ण का झूला झूलता रहता है तथा तीसरा, सभी राष्ट्रों को भौतिक और सांस्कृतिक आधार पर मिलन भी होता रहता है, जिससे उनमें एक निकटता का भाव उत्पन्न होता है।

4.3.5.2. चौखम्भा राज्य योजना

डॉ० लोहिया ने चौखम्भा राज्य की कल्पना की है। इनके राजनीतिक चिन्तन में चौखम्भा राज्य की योजना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। डॉ0 लोहिया ने चौखम्भा राज्य में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी धारणाओं को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत गाँव, मण्डल (जिला), प्रान्त तथा केन्द्रीय सरकार का महत्व बना रहेगा और उन्हें एक कार्यमूलक संघवाद की व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया जाएगा। कार्यों का संपादन उन्हें एक सूत्र में बाँध कर रखेगा। इस चौखम्भा राज्य में जिलाधीश का पद समाप्त कर दिया जाएगा, क्योंकि वह राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण की बदनाम संस्था है। इसके अतिरिक्त मण्डलों, गाँवों तथा नगरों की पंचायतें कल्याणकारी नीतियों तथा कार्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेंगी। यह चौखम्भा राज्य की योजना सिर्फ विकेन्द्रित प्रशासन की योजना ही नहीं है वरन् आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की योजना भी है। अतः प्रशासन संचालन के साथ-साथ इसमें उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और संचालन, कृषि, विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सभी योजनाओं का कार्यान्वयन सम्मिलित है।

डॉ० लोहिया द्वारा प्रतिपादित यह विकेन्द्रित चौखम्भा राज्य की योजना गाँधीवादी ग्राम-स्वराज्य की योजना का मूर्त रूप है तथा इसका प्रमुख अंग ग्राम-पंचायत है जिस पर संपूर्ण प्रशासन के संचालन का उत्तरदायित्व है तथा वहीं से जिला, प्रान्तीय और केन्द्रीय प्रशासन अपनी शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करता है। अतः यह विशुद्ध पंचायती राज का साकार रूप है तथा ग्राम पंचायत सम्पूर्ण प्रशासन में बुनयादी महत्व रखती है। उनका मत था कि ऐसे राज्य में ही सभी नागरिकों को प्रजातांत्रिक भागीदारी संभव हो सकती है। उनके अनुसार यह योजना सिर्फ स्वायत्तशासी-स्वावलम्बी गाँव की योजना ही नहीं बल्कि एक विवेकशील एवं जीवन्त गाँव की योजना है।

डॉ॰ लोहिया राजनीतिक विकेन्द्रीकरण को राजनीतिक समता और सम्पन्नता का द्योतक मानते थे और इसलिए राजनीतिक केन्द्रीकरण के विरूद्ध थे, क्योंकि ऐसी व्यवस्था में शासक, सेठ और सरकारी अधिकारियों का एक जन-शोषक त्रिकोण स्थापित हो जाता है तथा सामान्य व्यक्ति उनके उत्पीड़न का शिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में जनता शासन के हाथ की एक कठपुतली मात्र रहकर अपंग हो जाती है, जिससे प्रजातांत्रिक व्यवस्था का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और वह एक मुखौटा बनकर रह जाता है। प्रजातंत्र जन-कल्याण का साधन बनने के बजाय जन-उत्पीड़न और शोषण का एक साधन मात्र बन जाता है। अतः ऐसे प्रजातंत्र को ही सही प्रजातंत्र बनाने हेतु उनके द्वारा दो स्तरीय प्रजातंत्रीय संघीय व्यवस्था के स्थान पर चतुरूर्तरीय प्रजातंत्रीय संघीय व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की गयी तथा उसके अन्तर्गत चार समान शक्ति प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि ''बड़े स्तर की राज-व्यवस्था देश के कूड़े को बुहारेगी और छोटे स्तर की राज-व्यवस्था गली, मोहल्ले और गाँव के कूड़े को साफ करेगी।'' इस प्रकार लोहियाजी विकेन्द्रीकृत समाजवाद के समर्थक थे।

4.3.5.3. वाणी-स्वातंत्र्य और कर्म-नियंत्रण

वाणी-स्वातंत्र्य और कर्म-नियंत्रण डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन का महत्वपूर्ण पक्ष है। उनके अनुसार वाणी-स्वतंत्र्य पूर्ण स्वछन्द पर कर्म पर पूर्ण नियंत्रण रहे। उनका तात्पर्य था कि ''बोली की तो लम्बी बाँह होनी चाहिए। लेकिन कर्म बँधी हुई, संगठित तथा अनुशासित मुद्दों के समान होना चाहिए जहाँ तक वाणी की स्वतंत्रता का प्रश्न है, राज्य को उसमें किसी प्रकार से बलपूर्वक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। व्यक्ति यदि झूठ या गलत बात कहता है, तब भी उसे ऐसा कहने का स्वतंत्र अधिकार होना चाहिए लेकिन यह स्वतंत्रता कर्म की दृष्टि से नहीं दी जा सकती। व्यक्ति को कर्म सिद्धांत और संविधान के अनुसार ही करना चाहिए। इस तरह डॉ॰ लोहिया ने अपनी जनतांत्रिक आस्थाओं के कारण जहाँ वाणी की पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन किया तथा उसमें राज्य हस्तक्षेप को एक जघन्य अपराध करार दिया, वहीं दूसरी तरफ कर्म पर नियंत्रण को प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग घोषित किया। वाणी-स्वतंत्रता के अन्तर्गत उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता, भाषण की स्वतंत्रता, संगठन की स्वतंत्रता तथा निजी जीवन की स्वतंत्रता को शामिल किया तथा इनके निरपेक्ष चरित्र का समर्थन किया।

4.3.5.4. सविनय अवज्ञा का समर्थन

डॉ॰ लोहिया ने अन्याय के प्रतिकार के रूप में गाँधीजी के सविनय अवज्ञा के सिद्धांत का समर्थन किया। उन्होंने अन्याय के प्रतिकार का इसे सबसे सबल और समर्थ साधन मानते थे और इसी रूप में इसका समर्थन भी किया। इस तरीके के माध्यम से कमजोर और असमर्थ व्यक्तियों को समर्थ बनाकर अन्याय, शोषण तथा दमन आदि का मुकाबला करने हेतु तैयार करना है। इसके माध्यम से व्यक्ति अहिंसक तरीके से यह घोषित करता है कि वह अन्याय का मुकाबला करने के लिए मरने के लिए तैयार है लेकिन उसके सम्मुख झुकने के लिए तैयार नहीं है। 'मरेंगे लेकिन झुकेंगे नहीं' यह इस सिद्धांत का आधारभूत तत्व है। डॉ॰ लोहिया के अनुसार यह सिद्धांत असमर्थ व्यक्ति और राष्ट्र को अन्याय का सामना करने के लिए सबल और समर्थ बनाता है। अहिंसा में आस्था के कारण डॉ॰ लोहिया ने सविनय अवज्ञा का समर्थन किया।

4.3.5.5. राजनीति और धर्म

राजनीति और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी डॉ॰ लोहिया ने गठन चिन्तन किया जो उनके ईश्वर, धर्म और धर्म-निरपेक्ष राज्य संबंधी विचारों में अभिव्यक्त हुआ है। यद्यपि लोहियाजी न ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते थे और न मूर्तिपूजा का। वे मन्दिर को एक ढ़कोसला मानते थे और उसमें स्थापित मूर्ति को नकली। वे मनुष्य को ईश्वर का नहीं वरन् ईश्वर को मनुष्यकृत मानते थे, तथापि ब्रह्म ज्ञान और अद्वैतवाद में अपने ढ़ंग से विश्वास रखते थे। सबमें अपनेपन के अनुभव को वे ब्रह्मज्ञान का तथा मनुष्य मात्र की एकता और समता को वे सच्चा अद्वैतवाद मानते थे। वे ईश्वर, पूजा-पाठ, तीर्थाटन, स्वर्ग-नर्क तथा मोक्ष-मुक्ति आदि में न विश्वास रखते थे और न उन्हें धर्म का सच्चा विषय मानते थे। इसके विपरीत गिरों को उठाना, प्यासों को पानी देना, भूखे को रोटी और बेघर को घर देना ही उनके अनुसार धर्म के सच्चे विषय थे। धर्म को वे बाद्य आडम्बर और कर्मकाण्ड का विषय नहीं, नैतिक गुणों का पयार्यवाची मानते थे तथा इसी रूप में वे धर्म की व्याख्या करते थे। धर्म का इससे अधिक उनके लिए और कुछ महत्व नहीं था। उनका धर्म सच्चा मानववाद था जिसके वे अनुयायी थे। प्रचलित धर्म के संकीर्ण और संस्थागत रूप के विरोधी थे। वे इसे निहित स्वार्थों की पूर्ति का एक साधन मानते थे। अतः राज्य और राजनीतिक दृष्टि से वे धार्मिक राज्य के स्थान पर एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का समर्थन करते थे, जो धर्म-विरोधी नहीं वरन् सर्वधर्म समभाव पर आधारित था तथा सभी की धार्मिक स्वतंत्रता का समर्थक और प्रतिरूप था। इसीलिए वे चाहते थे कि राज्य धार्मिक मामलों में निष्पक्ष रहे तथा बिना किसी भेद-भाव के अपने सभी नागरिकों को धर्म प्रचार, विश्वास, पूजा-उपासना आदि की स्वतंत्रता प्रदान करे।

डॉ॰ लोहिया धर्म को रचनात्मक दृष्टि से मनुष्य के नैतिक उत्थान का साधन मानते थे। इस दृष्टि से वे धर्म और राजनीति में गहरे संबंध में विश्वास करते थे। उनके अनुसार धर्म एक स्थायी और राजनीतिक आस्था थी, चरित्र की वस्तु थी। धर्म को वे प्रभाव की दृष्टि से दीर्घकालीन और राजनीति को अल्पकालीन मानते थे तथा एक-दूसरे के पूरक भी मानते थे। इस प्रकार दोनों पृथक् होकर भी अपृथकीय है।

4.3.5.6. मौलिक अधिकार

राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से डॉ॰ लोहिया के मौलिक अधिकार सम्बन्धी विचार का विशेष महत्व है। वे मानव जीवन के सभ्य तथा सुसंस्कृत विकास के लिए मौलिक अधिकारों के अस्तित्व को एक जनतांत्रिक समाजवादी समाज के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। वे राज्य को उनका निर्माता नहीं, संरक्षक के रूप में ही चित्रित करते हैं। इन मौलिक अधिकारों में वे प्रत्येक मनुष्य की बौद्धिक स्वतंत्रता अर्थात् उसकी चिन्तन और अभिव्यक्ति की निरपेक्ष स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं तथा यह मानते हैं कि यदि राज्य द्वारा उसपर किसी प्रकार का अंकुश लगाया जाता है तो व्यक्ति को उसका प्रतिरोध करने का अधिकार प्राप्त है। लेकिन प्रतिरोध अनिवार्य रूप से अहिंसक होना चाहिए।

बौद्धिक स्वतंत्रता के समान ही वे राज्य के धर्म-निरपेक्ष चरित्र का समर्थन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं। लेकिन वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन करते हुए भी वे उसके निरपेक्ष चरित्र का समर्थन करने की जगह उसके समाज के सापेक्ष चरित्र का समर्थन करते हैं तथा यदि वह शोषण और अन्याय का साधन बनती है तो उसे नियंत्रित करने का राज्य को अधिकार प्रदान करते हैं। समता के मौलिक अधिकर को डॉ॰ लोहिया ने सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। इस दृष्टि

से उन्होंने वैधानिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में समानता के अधिकार का समर्थन किया है। इस दृष्टि से उन्होंने नर-नारी समानता, जाति-भेद उन्मूलन, रंग-भेद और अस्पृश्यता निवारण पर अत्यधिक जोर दिया है। डॉ॰ लोहिया ने मनुष्य और समाज दोनों के सर्वांगीण विकास के लिए समता और स्वतंत्रता के सभी मौलिक अधिकारों का जोरदार समर्थन ही नहीं किया वरन् उनकी स्थापना के लिए उन्होंने आजीवन संघर्ष भी किया।

4.3.6. लोहिया के सामाजिक विचार

डॉ॰ लोहिया के अनुसार भारतीय समाज का पतन उसमें विद्यमान कई सामाजिक विषमताओं के कारण हुआ। इन सामाजिक विषमताओं में उनके अनुसार वर्ण या जाति-व्यवस्था, नर-नारी असमानता, अस्पृश्यता, रंगभेद तथा साम्प्रदायिकता प्रमुख हैं। वे इन विषमताओं को समाप्त कर एक सामाजिक समानता आधारित समाज-व्यवस्था की स्थापना के पक्षधर थे। उन्होंने उपर्युक्त सामाजिक विषमताओं में से जाति-प्रथा के सर्वाधिक विनाशकारी माना। उनका मत था कि ''आर्थिक असमानता और जाति-पाँति भेदभाव को जुड़वाँ राक्षस हैं और यदि एक से लड़ना है तो दूसरे से भी लड़ना आवश्यक है। इस तरह से आर्थिक असमानता के लिए जाति-व्यवस्था को उत्तरदायी मानते थे और इसी आधार पर वे उसके विरूद्ध संघर्ष के समर्थक थे। उनका मत स्पष्ट था कि जन्म नहीं, कर्म सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार होना चाहिए। जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को उच्च समझने का स्पष्ट अर्थ है जाति-व्यवस्था को बनाए रखना। उनके अनुसार जन्म-आधारित इस जाति-व्यवस्था को बनाए रखने के कारण ही भारत का समग्र सामाजिक जीवन निष्प्राण हो गया तथा उसी के कारण भारत दासता तथा परतंत्रता का शिकार बना। अतः परतंत्रता से मुक्ति के लिए भी डॉ॰ लोहिया जाति-प्रथा के वर्तमान दूषित स्वरूप के उन्मूलन को आवश्यक मानते थे।''

अतः जाति-प्रथा के उन्मूलन के लिए डॉ॰ लोहिया ने अनेक सुझाव दिए तथा इस दृष्टि से उन्होंने अन्तर्जातीय-विवाह तथा सम्पूर्ण समाज के सामूहिक सहभोजों के आयोजन का प्रस्ताव दिया। उनकी मान्यता थी कि इससे सामाजिक समानता की भावना उत्पन्न ही नहीं होगी वरन् वह सबल भी होगा। इसके लिए डॉ॰ लोहिया ने वयस्क-मताधिकार तथा निर्वाचन-प्रक्रिया को भी विशेष महत्वपूर्ण माना। उनका विचार था कि जैसे-जैसे वयस्क-मताधिकार आधारित निर्वाचन-प्रक्रिया का विस्तार होगा, वैसे-वैसे जाति-प्रथा की जकड़न समाज पर ढ़ीली होगी और सामाजिक समता का प्रसार होगा।

उन्होंने आर्थिक आधार पर भी जाति-प्रथा के समाप्ति पर बल दिया। उनक मत था कि जाति-प्रथा के कारण आर्थिक रूप से कमजोर जातियाँ सार्वजनिक जीवन से बहिष्कृत हो जाती हैं तथा आर्थिक रूप से सबल जातियों की तुलना उनमें दासता की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे वे उनके आर्थिक शोषण का शिकार हो जाती है। परिणामस्वरूप वे निर्धन ही नहीं होतीं वरन् उनकी स्वाभाविक योग्यता भी क्षीण हो जाती है। वे अपने को दीन-हीन समझकर अपने अस्तित्व के लिए समाज के सबल वर्ग पर निर्भर हो जाती है। इसी उद्देश्य से डॉ॰ लोहिया ने पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए 'विशेष अवसर के सिद्धांत' अर्थात् आरक्षण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वे चाहते थे इन जातियों को अपने उत्थान के लिए राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में आरक्षण और प्राथमिकता प्रदान की जाए, ताकि वे आर्थिक दृष्टि से सबल होकर अन्य उच्च जातियों के समकक्ष हो सकें और सामाजिक प्रतिष्ठा पाकर सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। इस प्रकार डॉ॰ लोहिया उन्हें समान अवसर नहीं वरन् प्राथमिकता

के रूप में विशेष अवसर देकर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के पक्षधर थे जिसका लाभ उठाकर वे सर उठाकर जीवन जी सके।

4.3.7. लोहिया के आर्थिक विचार

डॉ॰ लोहिया के आर्थिक विचार उनके समाजवादी चिन्तन पर आधारित हैं जो उनके मानववादी दृष्टिकोण की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। वे चाहते थे कि जाति, वर्ण, धर्म, वंश, लिंग, संस्कृति, सम्पत्ति आदि के भेदभाव से मुक्त एक ऐसी न्यायनिष्ठ सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाए जो कर्म से उद्भूत और व्यवहार से पुष्ट हो। ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए क्रांतिकारी दृष्टिकोण को अपनाने को लोहिया आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि ''क्रांतिवाद के बिना समाज का सही विकास संभव नहीं होगा।'' अतः उनके अनुसार आम जनता में क्रांतिकारी भावनाओं को जाग्रत करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। सामाजिक बदलाव के प्रति उनके हृदय में उक तड़प उत्पन्न होना जरूरी है, तभी सामाजिक परिवर्तनों हेतु आवश्यक पृष्ठभूमि की तैयारी संभव हो सकती है और एक समता आधारित शोषण रहित समाजवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना हो पाएगी।

इस प्रकार डॉ॰ लोहिया का आर्थिक दृष्टि से समाजवादी चिन्तन स्पष्ट पूर्णतः क्रांतिकारी और मौलिक था। उनके इस मौलिक समाजवादी चिन्तन का प्रमुख लक्ष्य जहाँ एक ओर जाति-प्रथा को विनष्ट कर एक समतावादी समाज की रचना करना था, वहीं दूसरी ओर, आर्थिक दरिद्रता को नष्ट कर समाज में व्याप्त अमीर-गरीब के मध्य स्थापित आर्थिक असमानता की खाई को पाटना भी था। उनकी मान्यता थी कि इसी आर्थिक असमानता की खाई से सामाजिक अन्याय की उत्पत्ति होती है जो एक मूलभूत अन्याय है और सामाजिक व्यवस्था को असंतुलित, अव्यवस्थित और विकृत करने वाला है। इसीलिए उनके मतानुसार यदि आर्थिक अन्याय समाप्त होता है तो अनिवार्य रूप से सामाजिक समता के द्वार खुलते हैं। उनके समाजवादी चिन्तन में सिर्फ जाति एवं वर्ण-व्यवस्था का उन्मूलन ही सामाजिक समानता की स्थापना के लिए आवश्यक नहीं था। वरन् आर्थिक दृष्टि से आय-व्यय की असमानता को समाप्त करना तथा उनकी एक हद बाँधना, खेतिहर भूमि का पुनर्वितरण करना, आर्थिक विकेन्द्रीकरण तथा उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण के माध्यम से समाजीकरण की व्यवस्था करना आवश्यक था। इस हेतु साधन के रूप में अन्न एवं भू-सेना का संगठन करना भी आवश्यक था।

आर्थिक समानता कायम करने की दृष्टि से डॉ॰ लोहिया सबल और निर्बल जातियों के मध्य न्यूनतम आमदनी के सिद्धांत को लागू करना चाहते थे, ताकि उनके मध्य स्थापित आर्थिक असमानता की खाई को पाटा जा सके और निर्बल जातियों को शोषण से मुक्त किया जा सके। उन्होंने सम्पत्ति आधारित वर्गों के विशेषाधिकारों की समाप्ति पर जोर दिया। उन्होंने छोटे-बड़े नौकरशाहों तथा धन्नासेठों के खर्चीले जीवन यापन के तरीके पर अंकुश लगाने का समर्थन किया। वे चाहते थे कि अपनी जीविका का उपार्जन करने हेतु सभी व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के श्रम करें। अधिकतम तथा न्यूनतम आय निर्धारण को डॉ॰ लोहिया ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए एक बुनियादी प्रश्न घोषित किया।

इसके अतिरिक्त डॉ॰ लोहिया ने मूल्य या दामबन्दी का भी समर्थन किया, ताकि उत्पादन के माध्यम से उत्पादन के साधनों के मालिकों द्वारा जनता का शोषण न किया जा सके और उचित मूल्य पर न जनता को जीवन निर्वाह हेतु साधन, सेवक और सामग्री उपलब्ध हो सके। डॉ॰ लोहिया ने कहा कि ''मैं यह मानता हूँ कि इस मूल्य या दाम बाँधों नीति को हकीकत में बदलने के लिए हमें हमारे आर्थिक

और सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन करने पड़ेंगे और सरकारी लूट, पूँजीपतियों के मुनाफे और बड़े किसानों के हितों पर जमकर प्रहार करने होंगे।'' इसके लिए उन्होंने सुझाव दिया कि बन्दूकधारी सेना की तरह ही अन्न एवं भू-सेना का संगठन किया जाये जो कृषि एवं आर्थिक विकास में सहयोगी होने के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी समाजवादी परिवर्तन प्रक्रिया में भागीदार हो सके।

इस प्रकार डॉ॰ लोहिया का समाजवाद इसी मूलभूत विचारधारा पर आधारित है कि भारत के सभी नागरिकों को रोजी-रोटी और जीवन निर्वाह के अन्य बनुयादी साधन उपलब्ध हों और सभी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में सक्रिय सहयोगी हों। स्पष्ट है कि डॉ॰ लोहिया की राजनीति अनिवार्य रूप से उनकी अर्थनीति से जुड़ी हुई थी जो आम लोगों की रोजी-रोटी की समस्या से सम्बन्धित थी। उन्होंने कहा कि ''जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति को रोजी-रोटी की समस्या से अलग रखो, वे या तो अज्ञानी हैं या बेईमान हैं। राजनीति का अर्थ और प्रमुख उद्देश्य लोगों का पेट भरना है। जिस राजनीति से लोगों को रोटी नहीं मिलती और उनका पेट नहीं भरता, वह राजनीति भ्रष्ट, पापी और नीच राजनीति हैं।''

अपने आर्थिक चिन्तन को व्यावहारिक बनाने के लिए डॉ॰ लोहिया ने खेतिहर भूमि के पुनर्वितरण पर भी जोर दिया तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण पर उद्योगों की दृष्टि से जोर दिया। बड़े उद्योगों के मुकाबले में छोटे उद्योगों को प्राथमिकता देते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि उत्पादन का अधिकांश कार्य छोटे उद्योगों में कार्य विद्युत संचालित मशीनों के माध्यम से सम्पन्न किया जाना चाहिए, ताकि प्रत्येक कार्य करने में सक्षम व्यक्ति को रोजगार मिल सके और बेकारी की समस्या का समाधान संभव हो सके। उनके अनुसार तभी देश के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास को गति मिल पाएगी।

4.3.8. लोहिया के भाषा सम्बन्धी विचार

डॉ॰ लोहिया ने जाति, सम्पत्ति के विशेषाधिकार की तरह भाषा को भी विशेषाधिकार का दर्जा प्रदान किया है तथा इसे भी वर्ग-निर्माण का एक प्रमुख आधार माना है। भाषा सम्बन्धी विशेषाधिकार से डॉ॰ लोहिया का मंतव्य अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से था जो देश को ब्रिटिश दासता से विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था। अंग्रेजों के शासन-काल में राज-काज की भाषा अंग्रेजी होने के कारण अंग्रेजी का ज्ञान रखने वाले लोगों को विशेष प्रतिष्ठा ही प्राप्त नहीं थी वरन् जो इसका ज्ञान नहीं रखते थे, वे शासन संचालन के लिए अक्षम भी होते थे। ब्रिटिश शासन की शिक्षा नीति के माध्यम से यह बात कूट-कूटकर भारतीय जनमानस में भर दी गयी थी। फलतः अंग्रेजी का ज्ञान प्रतिष्ठासूचक ही नहीं, प्रगतिमूलक भी बन गया था। देश बिना अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के उन्नति नहीं कर सकता, स्वतंत्र भारत की शिक्षा नीति का भी यही आधारभूत विचार बन गया। डॉ॰ लोहिया सरकार की इस अंग्रेजीवादी नीति के सख्त विरोधी थे। वे इसे प्रजातंत्र की भावनाओं के अनुकूल नहीं मानते थे और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के राह का एक रोड़ा भी मानते थे। वे प्रजातांत्रिक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए अंग्रेजी के ज्ञान की अनिवार्यता का उनमूलन आवश्यक समझते थे क्योंकि तभी अंग्रेजी के ज्ञान से अनभिज्ञ करोड़ों लोग शासन-संचालन के प्रभावी भूमिका का निर्वाह करने में समर्थ हो सकते थे।

इसीलिए डॉ॰ लोहिया ने अपने नेतृत्व में व्यापक 'अंग्रेजी हटाओ' अभियान प्रारंभ किया। उन्होंने घोषित किया कि ''मैं चाहता हूँ कि अंग्रेजी का सार्वजनिक प्रयोग तुरंत बन्द होना चाहिए। विधान परिषदों, सरकारी कार्यालयों, न्यायालयों, दैनिक समाचार पत्रों और नामपटों में अंग्रेजी का इस्तेमाल नहीं होना चाहिए तथा अंग्रेजी की अनिवार्य पढ़ाई बन्द होनी चाहिए।'' अंग्रेजी के स्थान पर डॉ॰ लोहिया

लोक भाषा का प्रयोग चाहते थे, ताकि भाषा के आधार पर निर्मित वर्ग और उसका महत्व समाप्त हो जाये। उनके अनुसार भाषा भेदभाव का नहीं, समता का आधार होनी चाहिए तथा यह विभाजन का नहीं वरन् मेल-मिलाप और राष्ट्र की भावात्मक एकता को बढ़ाने का एक साधन के रूप में प्रयुक्त की जानी चाहिए। उनके अनुसार ऐसी लोकभाषा अंग्रेजी नहीं, हिन्दी ही हो सकती है। इसी आधार पर हिन्दी को तरजीह दी जानी चाहिए तथा उसके प्रचार-प्रसार हेतु प्रयत्न किए जाने चाहिए। वे चाहते थे कि हिन्दी को अंग्रेजी के स्थान पर शीघ्र ही भारत की सहकारी भाषा बना दिया जाय। इस प्रकार लोहिया हिन्दी के महान समर्थक बन गए।

4.3.9. एशियाई समाजवाद की अवधारणा का प्रतिपादन

डॉ॰ लोहिया यूरोपीय समाजवाद को एशियाई देशों के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे। उनका आग्रह रहा है कि एशिया के समाजवादियों को मौलिक चिन्तन तथा अभिक्रम का अभ्यास डालना चाहिए। उन्हें अपनी नीतियाँ उस सभ्यता के संदर्भ में विकसित करनी चाहिए जो सदियों पुराने निरंकुशवाद तथा सामंतवाद के कूड़े-करकट से उभरने का प्रयत्न कर रही हैं। एशियाई राजनीति की दुर्दशा का मुख्य कारण यह है कि उसमें कट्टर धार्मिक विश्वासों और राजनीतिक सोच-विचार का मिश्रण पाया जाता है। इससे पंथाभिमान तथा साम्प्रदायिकता का विष फैलता है। इसीलिए 26 मार्च, 1952 को रंगून में आयोजित एशियाई समाजवादी कॉन्फ्रेंस की प्रारंभिक सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि ''एशिया में जहाँ आर्थिक समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं, वहाँ पश्चिमी समाजवादी प्रजातंत्र कदापि उपयोगी नहीं हो सकता। एशिया के लोग रोटी के लिए अपने जनतांत्रिक अधिकारों को बेचने के लिए सरलता से तैयार हो जायेंगे। हमें रोटी की समस्या के समाधान हेतू पूँजीवादी या साम्यवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना ही अनिवार्य दिखाई देने लगती है किन्तु दोनों ही अर्थव्यवस्थाएँ इस दृष्टि से एक जैसी ही हैं। दोनों में अन्तर सिर्फ इतना है कि पूँजीवाद यदि निजी सम्पत्ति को प्रोत्साहन देता है तो साम्यवाद सार्वजनिक सम्पत्ति को। पूँजी एवं सत्ता का केन्द्रीकरण दोनों में एक-सा है। आर्थिक केन्द्रीकरण अंततः बेकारी को बढ़ा देता है।''

अतः निर्धनता और बेकारी के उन्मूलन की दृष्टि से ये दोनों ही व्यवस्थाएँ एशियाई देशों के अनुकूल नहीं है। इसीलिए हमारे लिए नवीन एवं उपयुक्त तरीका ही अपनाना श्रेयस्कर होगा और यह तरीका है राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता का पूर्णतः विकेन्द्रीकरण। इस विकेन्द्रीकरण के माध्यम से आवश्यक भूमि सुधार कर तथा छोटी मशीनों का प्रयोग कर लघु उद्योग-धंधों का विकास कर एक ऐसी ग्राम-स्वराज की व्यवस्था स्थापित करना जो प्रजातांत्रिक समाजवाद का मूर्त रूप हो। ऐसी व्यवस्था हर समर्थ हाथ को काम देकर गरीबी और बेकारी के उन्मूलन में सहायक सिद्ध होगी। यही व्यवस्था एशियाई देशों की विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक व्याधियों का एक सही उपचार सिद्ध होगी। अतः एशियाई देशों के समाजवादियों को पश्चिमी समाजवाद को छोड़कर इसी दिशा में सोचना और कार्य करना चाहिए। समाजवाद के विकास की यही सही दिशा है।

इस प्रकार डॉ॰ लोहिया एशियाई दृष्टि से एक ऐसे विकेन्द्रित समाजवाद के समर्थक थे जिसका बुनियादी रूप छोटी मशीनों पर आधारित उद्योग-धंधे, सहकारी श्रम पर आधारित कृषि और ग्राम-स्वराज्य पर आधारित चौखम्भा राज्य-व्यवस्था के माध्यम से निर्मित था।

4.3.10. नव समाजवाद की परिकल्पना

डॉ॰ लोहिया समाजवाद के परम्परागत रूप में विश्वास नहीं रखते थे। वे उसे एक बीते हुए युग की वस्तु मानते थे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में लोहिया कहने लगे थे कि परम्परावादी तथा संगठित समाजवाद 'एक मरा हुआ सिद्धांत तथा मरणशील व्यवस्था' है। इसलिए उन्होंने नवीन समाजवाद का नारा लगाया। इस नव-समाजवादी व्यवस्था के तीन मूलभूत आधार उनके द्वारा निर्धारित किए गए जिन पर उसका निर्माण किया जाना था। ये तीन मूलभूत आधार थे- पहला, सभी उद्योगों, बैंकों तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, दूसरा, सम्पूर्ण विश्व-मानवों के जीवन स्तर का सुधार तथा तीसरा, एक विश्व-संसद् की स्थापना। उनकी यह नव-समाजवाद की परिकल्पना आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के पूर्ण विकेन्द्रीकरण पर आधारित थी तथा सहकारी श्रम तथा ग्राम-स्वराज्य के मध्यम से साकार रूप ग्रहण करनेवाली थी। डॉ॰ लोहिया की प्रेरणा से सन् 1966 में संयुक्त समाजवादी दल द्वारा निम्नलिखित सात क्रांतियों का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। उनका मत था कि इन सात प्रस्तावों को कार्यान्वित करने पर समाजवाद के सार्वभौम सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है। उनके द्वारा प्रस्तावित ये सात प्रस्ताव या क्रांतियाँ इस प्रकार हैं- पहली, स्त्री-पुरुष समानता की स्वीकृति, दूसरी, रंगभेद पर आधारित असमानताओं का अंत, तीसरी, जन्म, जाति और वर्ण संबंधी असमानताओं की समाप्ति, चौथी विदेशी शासन और दमन का अन्त तथा विश्व-सरकार की स्थापना, पाँचवीं, वैयक्तिक सम्पत्ति पर आधारित आर्थिक असमानतायुक्त व्यवस्था का अंत और योजनाबद्ध आर्थिक विकास द्वारा उत्पादन में वृद्धि, छठी, वैयक्तिक मौलिक अधिकारों के सभी प्रकार के अतिक्रमण का विरोध तथा निषेध तथा सातवीं, हिंसक युद्ध-विरोध तथा सविनय अवज्ञा या सिविल नाफरमानी के सिद्धांत का सर्वत्र स्वीकृति।

इस प्रकार डॉ॰ लोहिया द्वारा प्रतिपादित नव-समाजवाद आर्थिक और राजनीतिक समानता तथा स्वतंत्रता और सार्वभौम न्यायनिष्ठ विश्ववाद पर आधारित था। उनकी मान्यता के अनुसार समाजवाद की ऐसी सार्वभौम व्यवस्था स्थापित करके ही विश्व-शांति और कल्याण के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है जिनकी प्राप्ति विश्व के अस्तित्व की सुरक्षा के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है। अतः डॉ॰ लोहिया का नव-समाजवादी परिकल्पना पूर्णतः मानववादी चरित्र की थी तथा उसका आधार विश्व-मानववाद था।

4.3.11. लोहिया एक मानवतावादी समाजवादी

यद्यपि डॉ॰ लोहिया अपने चिन्तन और कर्म की दृष्टि से भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में एक महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते हैं। लेकिन सभी भारतीय समाजवादियों में लोकतान्त्रिक समाजवाद के एक मौलिक चिन्तक तथा उसकी स्थापना के लिए अदम्य प्रयत्न करने वालों में वे सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने आजीवन समाज में व्याप्त विभिन्न विषमताओं और अन्यायों के विरूद्ध संघर्ष किया तथा उसके उन्मूलन के लिए अथक प्रयत्न किया। वे विभिन्न अंधविश्वासों और पाखण्डों के विध्वंसक और आडम्बरों, कर्मकाण्डों के मूर्तिभंजक भी थे। उन्होंने अपनी समाजवादी प्रगाढ़ आस्थाओं के कारण परम्परावाद, जातिवाद, ईश्वरवाद, वर्णवाद, साम्प्रदायिकता, रंग-भेद, अस्पृश्यता, दरिद्रता आदि पर ध्वंसक प्रहार ही नहीं किए वरन् लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज-व्यवस्था की रचना हेतु भारतीय एवं विश्व-परिस्थितियों के अनुकूल एक सृजनात्मक दर्शन एवं पद्धति का निर्माण भी किया जिसका अनुसरण करके एक सर्वसमता और स्वतन्त्रतावादी समाज की रचना के लक्ष्य को प्राप्त कर विश्व-मानवता की संभावनाएँ साकार हो सकती है। वे विश्व के पददलित, दरिद्र और शोषित जनों की सामाजिक, आर्थिक

और राजनीतिक मुक्ति के एक निष्ठावान समर्थक एवं मुक्तिदाता भी थे। यही कारण है कि उनका चिन्तन संकुचित सीमाओं में आबद्ध नहीं होकर विश्ववादी चरित्र का था। अतः वे राष्ट्रवाद के साथ ही अन्तर्राष्ट्रवाद के भी पोषक थे। सम्पूर्ण विश्व-मानवता का कल्याण उनका इष्ट था। अपने इस उद्देश्यों के लिए डॉ॰ लोहिया ने आजीवन एक मसीहाई जीवन जिया। सम्पूर्ण मानवता की हित सिद्धि ही उनके जीवन का परम सत्य था जिसकी पूजा-अराधना में ही उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। मानव कल्याण के लिए समाज में व्याप्त रूढ़ियों और कुरीतियों से समझौता करना उन्हें स्वीकार नहीं था। समझौतावाद नामक शब्द उनके शब्दकोष में नहीं था। बुराई चाहे वह किसी भी रूप में हो, वे उसके कट्टर विरोधी थे और उसकी आलोचना से वे कभी पीछे नहीं हटते थे। मानवतावाद का रक्त अबाध रूप से उनकी धमनियों में बहता था तथा सर्वमानव-कल्याण उनके हृदय की धड़कन के समान था। वे अपनी इस प्रगतिशील मानववादी अवधारणाओं के खातिर जिये और मरे।

4.3.12. निष्कर्ष

यद्यपि समाजवादी नेताओं में नरेन्द्र देव तथा जयप्रकाश नारायण पर मार्क्सवाद का सबसे अधिक प्रभाव था। लेकिन उनकी तुलना में डॉ॰ लोहिया पर गाँधीवादी विचारधारा का प्रभाव अधिक था। उन्होंने सामान्य जनों के अधिकारों तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वैयक्तिक तथा सामूहिक सविनय अवज्ञा की गाँधीवादी कार्य-प्रणाली का समर्थन किया। डॉ॰ लोहिया द्वारा प्रतिपादित विकेन्द्रित चौखम्भा राज्य की योजना गाँधीवादी ग्राम-स्वराज्य की योजना का मूर्त रूप है। स्पष्टवादिता उनके चरित्र का एक स्थायी गुण था। वे अपने मत पर स्थायी रूप से कायम रहते थे और निडर होकर अपनी आलोचनाओं का सामना करते थे। वे शोषित-पीड़ित दीन-दुःखियों के सच्चे हितैषी और निहित स्वार्थों के कट्टर शत्रु थे। डॉ॰ लोहिया ने भारत की परराष्ट्र-नीति की खुलकर आलोचना किया। उन्हें जवाहर लाल नेहरू की गुट-निरपेक्षता की नीति में विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि भारत को विदेशों में पक्के मित्रों की खोज करनी चाहिए। एक समाजवादी बुद्धिजीवी के रूप में राम मनोहर लोहिया ने सूक्ष्म चिन्तन तथा मनन किया था। उन्होंने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं को एशियाई दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। वे कोरे पंथवादी नहीं थे। उन्होंने कर्म तथा चिन्तन के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की समस्या को सदैव ध्यान में रखा। वे चाहते थे कि मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन तथा स्वभाव की अभिव्यक्ति हो। वे कभी इस पक्ष में नहीं थे कि व्यक्तित्व के किसी एक विशिष्ट पहलू की एकांगी तथा सीमित वृद्धि हो। इस प्रकार डॉ॰ लोहिया मनुष्य एवं समाज दोनों के सर्वांगीण विकास के लिए आजीवन संघर्ष किया।

निश्चय ही डॉ॰ लोहिया विकेन्द्रीकृत समाजवाद के समर्थक थे। वे परम्परावादी तथा संगठित समाजवाद को नकारते हुए नवीन समाजवाद के समर्थक थे। अतः उनके द्वारा मानवतावादी लोकतांत्रिक समाजवाद के दर्शन को व्यावहारिक रूप प्रदान करने हेतु दिया गया योगदान अमूल्य और अविस्मरणीय है। इस आधार पर विश्व-समाजवादियों में उन्हें एक उच्च स्थान प्राप्त है। वे समाजवादी दर्शन और व्यवहार के एक ज्वलन्त प्रतीक थे। यही कारण है कि वे आज भी विश्व-समाजवादियों के लिए अपने मौलिक चिन्तन और दृष्टिकोण के कारण प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि विश्व में जबतक समाजवाद के नामलेवा रहेंगे, तबतक डॉ॰ लोहिया उनके लिए एक मित्र, एक नेता एवं एक पथ-प्रदर्शक बने रहेंगे। एक ज्योति-स्तम्भ की तरह उनका मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे तथा सभी व्यवधानों के मध्य उन्हें अडिग रूप से अपनी राह पर चलने के लिए प्रोत्साहित करते रहेंगे। उनका कथन

समाजवाद के लिए आज भी उपयुक्त है और भविष्य में भी रहेगा कि ''आर्थिक गैर-बराबरी और जाति-पाँति जुड़वाँ राक्षस हैं और अगर एक से लड़ना है तो दूसरे से भी लड़ना आवश्यक है।''

भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के अग्रणी सेनानी डॉ॰ राम मनोहर लोहिया भारतीय समाजवादी आन्दोलन के संस्थापकों में से एक थे। राजनीति में पूरी तरह से तल्लीन रहने के बावजूद वे एक विश्वस्तरीय विचारक थे और एशिया एवं विश्व के विषय में उनको गहन जानकारी थी। इनकी इसी विश्वस्तरीय पहचान के अनुरूप वर्ष 2009 से वर्ष 2011 तक उनकी जन्मशती अयोजन के कार्यक्रमों की रूपरेखा तय करने के लिए सारी दुनिया के समाजवादी मिले। ऐसे में डॉ॰ लोहिया के व्यक्तित्व और कृतित्व पर सम्यक विचार की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है।

4.3.13. कठिन शब्दावली

(1) सार्वभौम - विश्वविख्यात/सारी पृथ्वी पर शासन करनेवाला
(2) अमानुषिक - मानव जैसा विवेकी व्यवहार न होना
(3) कालान्तर - बाद में
(4) अधः पतन - नीचे गिरना
(5) चतुरूर्तरीय - चार स्तरों वाला
(6) सुसंस्कृत - अच्छा संस्कार वाला
(7) न्यायनिष्ठ - न्याय में निष्ठा रखने वाला
(8) उद्भूत - जिसका उद्भव हुआ हो
(9) पुनर्वितरण - फिर से वितरण करना
(10) पंथाभिमान - अपनी आस्था पर गर्व

4.3.14. अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) डॉ॰ लोहिया का जन्म कब हुआ था?

(क) 1910 में (ख) 1909 में
(ग) 1908 में (घ) 1911 में

(2) डॉ॰ लोहिया की रचना है:

(क) वेदांग प्रकाश (ख) माई एक्सपेरीमेन्ट विद ट्रुथ
(ग) स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटीज (घ) मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशियलिज्म

(3) भारतीय समाजवादी दल के संस्थापक थे:

(क) जयप्रकाश नारायण (ख) अम्बेडकर
(ग) डॉ॰ लोहिया (घ) आचार्य नरेन्द्र देव

(4) चौखम्भा राज्य की परिकल्पना किसने की थी?

(क) प्लेटो (ख) अरस्तू
(ग) जयप्रकाश नारायण (घ) डॉ॰ लोहिया

(5) विश्व संसद के समर्थक थे:

(क) मार्क्स (ख) लेनिन

(ग) डॉ॰ लोहिया (घ) महात्मा गाँधी

(6) डॉ॰ लोहिया समर्थक थे:

(क) समाजवाद के (ख) साम्यवाद के

(ग) उदारवाद के (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(7) समाजवादी चिन्तन नामक पुस्तक का प्रकाशन:

(क) 1934 ई॰ में (ख) 1952 ई0 में

(ग) 1956 ई0 में (घ) 1966 ई0 में

(8) डॉ॰ लोहिया किनसे पूर्णतया सहमत थे, पर साम्यवादियों पर विश्वास नहीं करते थे:

(क) मार्क्स (ख) लेनिन

(ग) माओ (घ) हिगेल

(9) 1952 में कांग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में डॉ॰ लोहिया ने किनके विचारों को समाजवादी चिन्तन में अधिक स्थान देने की बात कही ?

(क) गोखले (ख) महात्मा गाँधी

(ग) बाल गंगाधर तिलक (घ) विपिन चन्द्र पाल

(10) डॉ॰ लोहिया का निधन हुआ था:

(क) 26 मार्च, 1952 ई0 में (ख) 23 मार्च, 1956 ई0 में

(ग) 12 अक्टूबर, 1966 ई0 में (घ) 12 अक्टूबर, 1968 ई0 में

उत्तरः- (1) क (2) घ (3) ग (4) घ (5) ग

(6) क (7) ग (8) क (9) ख (10) घ

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) लोहिया की रचनाओं का उल्लेख करें।

(2) लोहिया के इतिहास के चक्र सिद्धांत पर प्रकाश डालें।

(3) चौखम्भा राज्य योजना का उल्लेख करें।

(4) डॉ॰ लोहिया सविनय अवज्ञा का समर्थक थे, स्पष्ट करें।

(5) डॉ॰ लोहिया के राजनीति और धर्म पर विचार का उल्लेख करें।

(6) डॉ॰ लोहिया के मौलिक अधिकार सम्बन्धी विचार का उल्लेख करें।

(7) डॉ॰ लोहिया के नव-समाजवाद की परिकल्पना का उल्लेख करें।

(8) डॉ॰ लोहिया के एशियाई समाजवाद की अवधारणा का उल्लेख करें।

(9) डॉ॰ लोहिया के भाषा सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करें।

(10) विश्व संसद के समर्थक के रूप में लोहिया का वर्णन करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक विचारों का वर्णन कीजिए।
(2) डॉ॰ लोहिया के सामाजिक विचारों का वर्णन कीजिए।
(3) डॉ॰ लोहिया की राजनीतिक चिन्तन को क्या देन है?
(4) डॉ॰ लोहिया के समाजवाद को स्पष्ट करें।
(5) डॉ॰ लोहिया के आर्थिक विचारों को स्पष्ट करें।
(6) डॉ॰ लोहिया एक मानवतावादी समाजवादी थे, उल्लेख करें।

4.3.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जैन पुखराज, मेहता प्रो॰ जीवन, राजनीति विज्ञान, एस0 बी0 पी0 डी0 पब्लिकेशन्स, आगरा, 2013, पृ0 सं0-197-209
2. वर्मा, डॉ॰ वी0 पी0, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, 1983, पृ0 सं0-538-540.
3. नागर, डॉ0 पुरुषोत्तम; आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1989.
4. लोहिया, राममनोहर; समाजवाद की राजनीति, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, 1968
5. पाण्डेय रविप्रकाश, भारतीय सामाजिक विचार, विजय प्रकाशन मंदिर सी. के. 15/53, सुडिया वाराणसी, 1989
6. लोहिया, राममनोहर; समाजवादी चिन्तन, प्रकाशक नवहिन्दी पब्लिकेशन्स, हैदराबाद, 1954-56.
7. डॉ॰ लोहिया, समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय- पास प्रकाशन हैदराबाद प्रथम संस्करण 1969
8. डॉ॰ लोहिया आजाद हिन्दुस्तान के नये रूझान, नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद प्रथम संस्करण 1968
9. त्यागी, पी.के. भारतीय राजनीतिक विचारक, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 110002, पृ0 293 से 306
10. ताराचन्द्र दीक्षित, डॉ॰ लोहिया का समाजवादी दर्शन, (लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976) पृ0 222

इकाई – 4 जयप्रकाश नारायण

इकाई की रूपरेखा

4.4.1. उद्देश्य
4.4.2. प्रस्तावना
4.4.3. जीवन परिचय
4.4.4. उनके चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व
4.4.4.1. प्रारम्भिक प्रभाव
4.4.4.2. मार्क्सवादी प्रभाव
4.4.4.3. गाँधीवादी प्रभाव
4.4.4.4. भूदानी एवं सर्वोदयी प्रभाव
4.4.4.5. सर्वोदय से समग्र क्रांति की ओर
4.4.5. जयप्रकाश नारायण की प्रमुख रचनाएँ
4.4.6. जयप्रकाश नारायण की चिन्तन-यात्रा
4.4.6.1. राष्ट्रवादी चरण
4.4.6.2. मार्क्सवादी-साम्यवादी चरण
4.4.6.3. लोकतंत्रवादी-समाजवादी चरण
4.4.6.4. गाँधीवादी-सर्वोदयी चरण
4.4.6.5. समग्र क्रांतिवादी चरण
4.4.7. जयप्रकाश की लोकतंत्र की परिकल्पना
4.4.8. जयप्रकाश की लोकतंत्र सम्बन्धी विचार
4.4.9. भारतीय लोकतंत्र में सुधार के लिए सुझाव
4.4.10. जयप्रकाश के राजनीतिक विचार
4.4.11. जयप्रकाश का समाजवाद
4.4.12. निष्कर्ष
4.4.13. कठिन शब्दावली
4.4.14. अभ्यास प्रश्न
4.4.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.4.1. उद्देश्य

- जयप्रकाश नारायण के कृतित्व एवं व्यक्तित्व को जान सकेंगे।
- जयप्रकाश के जीवन के संबंध में जान सकेंगे।
- उनके चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व को समझ सकेंगे।
- जयप्रकाश की प्रमुख रचनाओं के संबंध में जान सकेंगे।
- जयप्रकाश की चिन्तन यात्रा को समझ सकेंगे।

- जयप्रकाश की लोकतंत्र संबंधी विचार को जान सकेंगे।
- भारतीय लोकतंत्र में उनके द्वारा दिए गए सुधार के सुझाव को जान सकेंगे।
- जयप्रकाश के राजनीतिक विचार को समझ सकेंगे।
- जयप्रकाश के समाजवाद को समझ सकेंगे।
- जयप्रकाश के समग्र क्रान्ति की अवधारणा को समझ सकेंगे।

4.4.2. प्रस्तावना

अपनी सर्वोदयी और समग्र क्रांति के निष्ठावान प्रणेता की भूमिका के पूर्व अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक काल में जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के एक प्रमुख व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध थे। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के सर्वोच्च नेता महात्मा गाँधी उन्हें समाजवाद के मुख्य व्याख्याकार के रूप में स्वीकार करते थे। उनकी प्रारम्भिक समाजवाद के प्रति तथा बाद में सर्वोदय एवं समग्र क्रान्ति के प्रति निष्ठा का एकमात्र लक्ष्य एक ऐसी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के आदर्श की खोज करना था जो व्यक्ति की सामाजिक ही नहीं, वैयक्तिक स्वतंत्रता और समानता के सिद्धान्त और व्यवहार पर आधारित हो तथा जिसमें रहकर हर व्यक्ति इनका उपभोग करते हुए अपने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन का आदर्श विकास करने हेतु समान अवसर प्राप्त कर सके। जयप्रकाश नारायण का सम्पूर्ण जीवन एक ऐसे ही समाज के आदर्श प्रतिमान की खोज में व्यतीत किए हुए जीवन की महागाथा है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सत्ता के मोह से विरक्त होकर उन्होंने एक आदर्श समर्पित जीवन जिया और निर्लिप्त भाव से उसने जीते हुए अपनी सम्पूर्ण जीवन यात्रा सम्पन्न की। इस दृष्टि से वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक नायक ही नहीं, उसकी स्वतंत्रता की रक्षा करनेवाले एक सच्चे 'लोकनायक' भी थे। उनके त्यागमयी और सतत् संघर्षशील जीवन के कारण ही भारतीय जनता ने उन्हें 'लोकनायक' की उपाधि से विभूषित किया। वे आज भी जीवित नहीं रहते हुए भी इसी लोकप्रिय और सम्मानजनक नाम से पुकारे जाते हैं। जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के प्रमुख नेता, प्रचारक तथा प्रवक्ता रहे हैं।

4.4.3. जीवन परिचय

लोकनायक जयप्रकाश नारायण का जन्म 11 अक्टूबर सन् 1902 को सिताबदियरा नामक गाँव में एक साधारण कायस्थ परिवार में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में सम्पन्न हुई तथा उच्च शिक्षा प्रारंभ में पटना के विज्ञान महाविद्यालय में हुई। उनकी शादी बिहार के प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री बृज किशोर बाबू की पुत्री प्रभावती के साथ दरभंगा में सम्पन्न हो गया। पटना में अध्ययन के दौरान ही जयप्रकाश नारायण राष्ट्रीय विचारों से प्रभावित होने लगे। वे एक मेधावी और कुशाग्र बुद्धि छात्र थे। हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था। अपने राष्ट्रवादी रूझान के कारण जयप्रकाश नारायण अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर गाँधी के असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े लेकिन चैरी-चैरा काण्ड के कारण जब गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन बन्द कर दिया तो उनके बहुत से साथी अपनी पढ़ाई पूर्ण करने के लिए पुनः कॉलेज में दाखिल हो गए लेकिन जयप्रकाश नारायण अपने राष्ट्रवादी विचारों के कारण किसी ऐसी शिक्षण संस्था में पढ़ना नहीं चाहते थे जो सरकार द्वारा स्थापित हो तथा उससे प्राप्त अनुदान से संचालित होती हो।

इसीलिए वे सन् 1922 में उच्च शिक्षा हेतु अमेरिका चले गए तथा वहाँ एक श्रमजीवी के रूप में रहते हुए उन्होंने स्वावलम्बन के आधार पर ओहियो से स्नातक तथा विस्कोन्सिल राज्य के विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की। एक शिक्षार्थी के रूप में उन्होंने अमेरिका में सात वर्ष व्यतीत किए। इसी दौरान वे मार्क्सवादी साम्यवाद के सम्पर्क में आये और उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने मार्क्स, ऐंजिल्स, लेनिन, ट्रॉटस्की आदि के ग्रंथों का पूरे मनोयोग से अध्ययन किया। वे भारतीय साम्यवादी लेखक एम0 एन0 राय के विचारों से भी परिचित हुए। इस सबके प्रभाव से वे एक साम्यवाद प्रेरित मार्क्सवादी बन गए, लेकिन वे रूसी क्रांति के समर्थक नहीं थे। रूस की बौलशेविक पार्टी ने जो क्रूर कृत्य किए थे, उससे उनकी नैतिक चेतना को भारी आघात पहुँचा था।

अपनी माता की गम्भीर रुग्णता का समाचार मिलने पर सन् 1929 में जयप्रकाश नारायण स्वदेश लौट आए। उनके अमेरिका प्रवास के दौरान उनकी धर्मपत्नी प्रभावती देवी गाँधीजी के सान्निध्य में साबरमती आश्रम में रहती थीं। गाँधीजी भी इन्हीं दिनों भारतीय मुक्ति संग्राम के दूसरे चरण सविनय अवज्ञा आन्दोलन को प्रारंभ करने की तैयारी में जुटे थे। जयप्रकाश नारायण उनसे मिलने के लिए साबरमती आश्रम गए जहाँ उनकी भेंट पंडित जवाहर लाल नेहरू से भी हुई। नेहरू उनके विचारों से काफी प्रभावित हुए। जयप्रकाश नारायण उनके साथ सन् 1929 के कांग्रेस के ऐतिहासिक लाहौर अधिवेशन में भाग लिया। नेहरू जी ने उनकी प्रतिभा का राष्ट्रीय आन्दोलन में उपयोग करने हेतु उन्हें कांग्रेस के श्रम अनुसन्धान ब्यूरो के अध्यक्ष के रूप आमंत्रित किया और उन्होंने 1930 में यह दायित्व ग्रहण कर लिया। इसी वर्ष नमक सत्याग्रह के माध्यम से गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारंभ कर दिया, जिसमें जयप्रकाश नारायण ने भूमिगत रहकर सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया। फलतः सन् 1932 में उन्हें गिरफ्तार कर एक वर्ष के लिए नासिक रोड सेण्ट्रल जेल में नजरबन्द कर दिया गया। वहीं जयप्रकाश नारायण का सम्पर्क वहाँ नजरबन्द कांग्रेस के कुछ युवा नेताओं से हुआ, जो समाजवादी रूझान के थे तथा कांग्रेस को तदनुरूप एक विस्तृत जन संगठन बनाकर उसे समाजवादी रूप प्रदान करना चाहते थे। फलस्वरूप जेल में ही उन्होंने आवश्यक तैयारी के रूप में कांग्रेस में ही एक समाजवादी दल के गठन की रूपरेखा निर्धारित की।

सन् 1934 में जेल से रिहा होने पर इन युवा कांग्रेस नेताओं के द्वारा 'कांग्रेस समाजवादी दल' का गठन किया तथा युवा जयप्रकाश नारायण इस दल के प्रमुख सूत्रधार बने। इस कांग्रेस समाजवादी दल का मार्च 1934 में कांग्रेस के पटना अधिवेशन के समय, एक सम्मेलन आयोजित किया गया और जयप्रकाश नारायण इस दल के प्रथम सम्मेलन में महासचिव नियुक्त किए गए तथा 1936 में फैजपुर में आयोजित उसके तृतीय सम्मेलन में उसके अध्यक्ष निर्वाचित कर लिए गए। अध्यक्ष निर्वाचित होने के पश्चात् जयप्रकाश नारायण ने साम्यवादियों के साथ मिलकर एक साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा बनाने का प्रयत्न किया लेकिन साम्यवादी राष्ट्रवादी कम और अन्तर्राष्ट्रवादी अधिक थे तथा इस कारण राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के निर्धारण के लिए सोवियत रूस से प्रभावित थे। अतः दृष्टिकोणों में इस अन्तर के कारण जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में कार्य करने वाले समाजवादियों का साथ साम्यवादियों के साथ अधिक समय तक निभ नहीं सका। फलतः वे साम्यवादियों से अलग होकर कांग्रेस में रहते हुए स्वतंत्र रूप से राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में अपनी भूमिका का निर्वाह करने लगे।

समाजवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार हेतु सन् 1939 में जयप्रकाश नारायण ने बम्बई से 'कांग्रेस सोशलिस्ट' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा किसानों, मजदूरों और

महिलाओं को संगठित करने के लिए समाजवादी मोर्चे की स्थापना की। सन् 1940 में सरकार द्वारा उनको गिरफ्तार कर जेल में बन्द कर दिया गया। गाँधीजी सहित मुक्ति आन्दोलन के अन्य नेताओं द्वारा उनकी गिरफ्तारी का विरोध किया गया तथा उन्हें देश की स्वतंत्रता संघर्ष का एक ऐसा अदम्य योद्धा घोषित किया जो देश के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने हेतु संकल्पित था। जेल से रिहा होकर वे पुनः पूरे जोर-शोर से देश के स्वतंत्रता संघर्ष में भाग लेने लगे। पुनः उन्हें गिरफ्तार कर देवली जेल में नजरबन्द कर दिया। सन् 1942 में गाँधीजी ने अपने नेतृत्व में 'करो या मरो' का नारा देते हुए 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारंभ कर दिया। इस आन्दोलन में भाग लेने हेतु जयप्रकाश नारायण अपने कुछ साथियों के साथ जेल से फरार हो गए तथा भूमिगत होकर उस आन्दोलन को गति देने लगे। गिरफ्तारी से बचने के लिए वे नेपाल चले गए तथा वहाँ ब्रिटिश राज को उखाड़ फेंकने के लिए एक आजाद दस्ते का गठन किया। वे आन्दोलन को सक्रिय करते हुए नेपाल से गुप्त रूप से देश के विभिन्न भागों की यात्राएँ करने लगे। इसी दौरान सन् 1943 में लाहौर में उन्हें गिरफ्तार कर वहाँ के किले में नजरबन्द कर दिया गया। सन् 1946 में उन्हें वहाँ से रिहा किया गया।

इस प्रकार देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में अदम्य साहसपूर्ण सक्रिय भूमिका के कारण वे एक जननायक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए तथा उनकी गणना देश के शीर्षस्थ नेताओं में होने लगी। जेल से रिहा होने के पश्चात् उन्होंने पुनः कांग्रेस समाजवादी दल को सक्रिय किया और उसके माध्यम से देश की स्वतंत्रता के लिए कार्य करने लगे। देश की स्वतंत्रता के पश्चात् उन्होंने किसी सरकारी पद पर रहना स्वीकार नहीं किया क्योंकि कांग्रेस द्वारा जिन नीतियों का अनुसरण किया जा रहा था, वे उन्हें समाजवाद के अनुकूल नहीं लगीं। सन् 1948 में गाँधीजी की हत्या के कारण जयप्रकाश नारायण को गहरा आघात लगा। परिणामस्वरूप समाजवादियों ने कांग्रेस से स्वयं को पृथक कर एक स्वतंत्र 'भारतीय समाजवादी पार्टी' का गठन किया जो बाद में सन् 1952 में आचार्य कृपलानी के नेतृत्व में कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर निकले कांग्रेसियों द्वारा गठित 'कृषक-मजदूर प्रजा पार्टी' से संयुक्त होकर 'प्रजा समाजवादी पार्टी' के रूप में प्रकट हुई। जयप्रकाश नारायण ने इस विलय में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने सन् 1953 में जयप्रकाश नारायण सहित सभी समाजवादियों को सरकार में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया लेकिन जयप्रकाश नारायण के प्रस्ताव पर नेहरू की सहमति नहीं के कारण दोनों दल के मध्य सहयोग की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो गयीं। इसी बीच सन् 1951 में गाँधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी के रूप में विनोबा भावे के नेतृत्व में भारत की भूमि समस्या के समाधान हेतु भूदान आन्दोलन प्रारंभ हुआ। जयप्रकाश नारायण इस आन्दोलन से प्रभावित हुए तथा सत्ता की राजनीति से दूर होकर इस आन्दोलन की सफलता हेतु सक्रिय योगदान देने लगे। उनपर गाँधीवादी प्रभाव इतना था कि वे समाजवाद की गाँधीवादी व्याख्या करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में 'गाँधीवाद ही सच्चा समाजवाद' है। साध्य-साधन एकता पर जोर देते हुए वे पूर्णतः एक नैतिकतावादी बन गए। फलतः उन पर जो मार्क्सवाद का प्रभाव बचा था, वह भी समाप्त हो गया और समाजवादी होते हुए भी वे पूर्णतः एक गाँधीवादी बन गए।

इस वैचारिक परिवर्तन के पश्चात् विनोबा भावे के समान जयप्रकाश नारायण भी भूदान आन्दोलन को सफल बनाने में जी-जान से जुट गए। अपना शेष जीवन समर्पित कर वे एक पूर्णकालिक भूदानी बन गये तथा इसकी सिद्धि ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। जयप्रकाश नारायण ने सन् 1970 में नक्सली समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया, लेकिन वे आंशिक रूप से इसमें सफल हुए तथा

उनके नैतिक प्रभाव से प्रभावित होकर लगभग चार सौ नक्सलियों ने उनके सम्मुख अपने हथियार डालकर आत्म-समर्पण कर दिया। लेकिन 1973 में उनकी धर्मपत्नी के निधन के बाद वे राजनीतिक गतिविधियों से विरक्त हो जीवन जीने लगे। उनका स्वास्थ्य भी गिरने लगा था।

लेकिन देश की हालत बिगड़ती जा रही थी। राजनीतिक भ्रष्टाचार, प्रशासकीय अकुशलता और आर्थिक विफलता आदि के कारण जन-जीवन अशांति के दौर से गुजर रहा था और उसे कोई सही नेतृत्व देनेवाला नहीं था। अतः इस स्थिति ने जयप्रकाश नारायण को पुनः राजनीति में सक्रिय होने के लिए बाध्य कर दिया। सन् 1974-75 में उन्होंने गुजरात और बिहार में देश के शुद्धिकरण हेतु छात्रों द्वारा चलाए जाने वाले आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया तथा 'संपूर्ण क्रांति' के लिए जनता का आह्वान भी किया। शीर्घ ही यह आन्दोलन देश के अन्य भागों में फैल गया और जन-संघर्ष समितियों के द्वारा संचालित होने लगा। इसी बीच जून 1975 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने चुनाव में भ्रष्ट आचरण के आरोप में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया। इस पर जयप्रकाश नारायण ने दिल्ली में आयोजित विशाल आम सभा में उनसे नैतिक आधार पर त्यागपत्र की माँग कर आन्दोलन प्रारंभ कर दिया। इस आन्दोलन से भयाक्रान्त होकर देश में आपात स्थिति की घोषणा कर जयप्रकाश नारायण सहित देश के सभी विपक्षी नेताओं को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया। जेल में जयप्रकाश नारायण का स्वास्थ्य और तेजी से खराब होने लगा, इस कारण उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया।

जनवरी 1977 में लोक सभा चुनाव की घोषणा का लाभ उठाते हुए जयप्रकाश नारायण ने सभी विपक्षी दलों में कांग्रेस विरोधी एकता कायम करने का प्रयास किया और फलस्वरूप एक सशक्त विरोधी दल के रूप में 'जनता पार्टी' अस्तित्व में आयी तथा जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में शानदार सफलता प्राप्त की। लेकिन थोड़े ही समय में जयप्रकाश नारायण ने इस सरकार से भी निराशा अनुभव की तथा स्वीकार किया कि ''यह सरकार भी जन-आकांक्षाओं पर खरी नहीं उतरी।'' सच तो यह है कि जयप्रकाश नारायण मानववादी आदर्शों से प्रेरित व्यक्ति थे जिनके जीवन का एक ही उद्देश्य समता एवं स्वतंत्रता आधारित शोषणमुक्त समाज की स्थापना करना था। स्वास्थ्य के निरन्तर गिरावट के कारण 8 अक्टूबर, 1979 को उनका निधन हो गया।

4.4.4. उनके चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व

अन्य विचारकों की तरह जयप्रकाश नारायण किसी एक प्रकार की विचारधारा के प्रति आजीवन प्रतिबद्ध नहीं रहे। उनके चिन्तन का एक विकासवादी क्रम रहा जो एक मार्क्सवादी से प्रारंभ होकर गाँधीवाद के माध्यम से सम्पूर्ण क्रांति तक पहुँचा। जीवन के प्रारंभिक काल में ही पारिवारिक पृष्ठभूमि से उनके चरित्र पर नैतिकता का प्रभाव था। शिक्षा के दौरान राष्ट्रीय माहौल के कारण वे सक्रिय रूप से राष्ट्रवादी बन गए। जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी जेल डायरी में किया कि ''क्रान्ति के बिच्छू ने सर्वप्रथम मुझे उस समय काटा जब मैं पटना में हाईस्कूल में पढ़ रहा था। उन दिनों इस क्रान्ति का नाम था- राष्ट्रीय क्रान्ति अर्थात् क्रान्ति के द्वारा राष्ट्र की स्वतन्त्रता की प्राप्ति।'' इसके अतिरिक्त उनके चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित हैं:-

4.4.4.1. प्रारम्भिक प्रभाव

उनके जीवन पर श्रीमद्भागवत गीता का भी गहरा प्रभाव पड़ा। वे विशेष रूप से उसके अनासक्त कर्म के सन्देश से बहुत प्रभावित हुए। अपने अमेरिका प्रवास के दौरान भी वे गीता अपने पास रखते और उसके नियमित अध्ययन से प्रेरणा प्राप्त करते थे। वहीं पर उनके चिन्तन पर सबसे पहला निर्णायक प्रभाव

पड़ा तथा मनुष्य के जीवन में श्रम के महत्व से वे अवगत हुए। पारिवारिक आर्थिक सहायता उपलब्ध नहीं होने के कारण उन्हें अमेरिका में अपना अध्ययन जारी रखने के लिए स्वयं श्रम करके उससे होने वाली आय से अध्ययन करना पड़ता था। गरीबी के दंश का अनुभव उन्होंने वहीं किया। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा भी है कि ''मैंने भारत में गरीबी देखी थी, पर उसका अनुभव तो मुझे अमेरिका में ही हुआ।''

4.4.4.2. मार्क्सवादी प्रभाव

अमेरिका में शिक्षा के दौरान उनके चिन्तन पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। मार्क्सवादी साहित्य के अध्ययन एवं लेनिन के नेतृत्व में रूस की साम्यवादी क्रान्ति ने उनके चिन्तन पर निर्णायक प्रभाव डाला और वे उसे ही मानव मात्र की शोषण से मुक्ति का एकमात्र मार्ग मानने लगे। भारतीय लेखक एम0 एन0 राय द्वारा रचित मार्क्सवादी साहित्य ने भी उन्हें प्रभावित किया और उनका हृदय अन्याय, असमानता, दासता, शोषण आदि के विरूद्ध संघर्ष के लिए स्वयं को संकल्पबद्ध समझने लगे। उनका कहना है कि स्वतंत्रता का अर्थ शोषण से, भुखमरी से, दरिद्रता से उनकी मुक्ति अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

4.4.4.3. गाँधीवादी प्रभाव

जयप्रकाश के चिन्तन में गाँधीवादी प्रभाव के दो चरण रहे हैं। एक अध्ययन हेतु अमेरिका जाने के पूर्व का चरण तथा दूसरा, वहाँ से अध्ययन समाप्त कर भारत लौटने के पश्चात् का चरण। अमेरिका जाने के पूर्व जयप्रकाश नारायण गाँधीजी से प्रभावित होकर पटना में अपनी पढ़ाई बीच में छोड़कर असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। एक राष्ट्रवादी के रूप में देश की ब्रिटिश राज से मुक्ति उनके जीवन का सर्वोपरि उद्देश्य बन गया। दूसरा चरण अमेरिका से लौटने के बाद जयप्रकाश नारायण का मार्क्सवादी साम्यवाद से मोहभंग का काल है। जयप्रकाश नारायण का मार्क्सवाद से मोहभंग होने लगा और उसका स्थान गाँधीवाद लेने लगा। इसमें गाँधी भक्त उनकी धर्मपत्नी प्रभावती देवी की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। जयप्रकाश नारायण को यह अनुभव होने लगा कि देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति का सर्वाधिक उपयुक्त और विश्वसनीय मार्ग सत्य और अहिंसा आधारित गाँधीवादी मार्ग ही है। अब मार्क्सवाद की जगह गाँधीवाद और मुख्य रूप से उनके द्वारा की जाने वाली उसकी समाजवादी व्याख्या, उनके जीवन का मूलमंत्र बन गया। जयप्रकाश नारायण के चिन्तन की यह गाँधीवादी स्थिति देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् गाँधीजी की शहादत तक सक्रिय रूप से बनी रही।

4.4.4.4. भूदानी एवं सर्वोदयी प्रभाव

देश की स्वतंत्रता के पश्चात् उसकी विकट भूमि समस्या के समाधान हेतु एक गाँधीवादी प्रयास के रूप में गाँधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबा भावे द्वारा भूदान आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। इसके माध्यम से उन्होंने न्याय और सद्भाव के आधार पर देश के जागीरदारों-जमींदारों से यह आग्रह किया कि वे आवश्यकता से अधिक जो भूमि उनके अधिकार में है, उसके न्यायपूर्ण विभाजन हेतु उसका दान अर्थात् भूदान कर दें। प्रारंभ में जयप्रकाश नारायण इस आन्दोलन से विशेष प्रभावित नहीं हुए लेकिन बाद में विनोबा भावे के सम्पर्क में आने के कारण वे इसका महत्व समझकर एक सक्रिय सहयोगी के रूप में इस भूदान आन्दोलन में शामिल हो गए। भूदान आन्दोलन विकसित होकर 'ग्रामदान' आन्दोलन के रूप में परिवर्तित हो गया, इसे जयप्रकाश नारायण अहिंसक गाँधीवादी सत्याग्रह के तरीके का ही विकास

मानने लगे और उसे सशक्त और प्रभावशाली बनाने में लग गए। अब गाँधीवादी सर्वोदय उनके जीवन का मूलमंत्र तथा सर्वोदयी समाज की स्थापना उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य बन गया। इसी में उन्होंने सच्चे समाजवाद के दर्शन किए।

4.4.4.5. सर्वोदय से समग्र क्रांति की ओर

लेकिन भूदान, ग्रामदान आधारित सर्वोदयी आन्दोलन भी सामाजिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन करने में असफल रहा जिन्हें लेकर वे एक सक्रिय सर्वोदयी बने थे। अतः 1970 में जयप्रकाश नारायण ने यह अनुभव किया कि इस सर्वोदयी विचारधारा और व्यवस्था से समाज में बुनियादी परिवर्तन लाना असंभव है। ऐसी विषम और विकट स्थिति में उन्होंने अनुभव किया कि सामाजिक व्यवस्था का शुद्धिकरण सिर्फ, 'समग्र क्रान्ति' द्वारा ही संभव है। एक ऐसी बुनियादी क्रान्ति जो अहिंसक तरीके से सम्पूर्ण व्यवस्था को आमूल-चूल बदलने में समर्थ हो। 5 जून, 1974 को पटना में आयोजित छात्र संघर्ष समिति की आम सभा में उसकी अनिवार्यता बतलाते हुए उसकी व्याख्या करते हुए कहा कि 'समग्र क्रांति' ही वर्तमान समय में देश की समस्याओं का एकमात्र हल है। आज एक शोषण मुक्त एवं न्यायनिष्ठ समाज की स्थापना की यह पहली आवश्यकता है। केवल इस क्रान्ति के माध्यम से ही समाज के हर क्षेत्र में एक समता-आधारित शोषण मुक्त समाज के लक्ष्य की प्राप्ति संभव है। 'समग्र क्रान्ति' के द्वारा स्थापित होनेवाले समाज की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि ''यह एक ऐसा लोकतांत्रिक समाज होगा जिसमें प्रत्येक नागरिक एक श्रमिक होगा और हर एक नर-नारी में पूर्ण समानता होगी। विकास के सबको समान अवसर उपलब्ध होंगे। व्यक्तियों की आय में इतना अन्तर नहीं होगा कि समाज में वर्ग-भेद उत्पन्न हो जाए। सारी सम्पत्ति का स्वामी समाज होगा। प्रगति योजनाबद्ध तरीके से होगी। श्रम बेगार नहीं, आनन्द का विषय होगा। कुल मिलाकर मानव जीवन अधिक सम्पन्न, सम्पूर्ण और सुन्दर होगा।''

इस प्रकार जयप्रकाश नारायण के चिन्तन में 'सम्पूर्ण क्रांति' का आशय था कि इसके माध्यम से एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना जो सर्वांगीण रूप से विकसित और सर्वांग सुन्दर हो। उनका चिन्तन विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता हुआ अपने जीवन के संध्याकाल में समग्र क्रान्तिवादी के रूप में परिणत हो गया।

4.4.5. जयप्रकाश नारायण की प्रमुख रचनाएँ

इस प्रकार जयप्रकाश नारायण एक शीर्षस्थ स्वतंत्रता सेनानी ही नहीं वरन् भारतीय समाजवाद के प्रमुख व्याख्याकार भी थे। उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी में लेखन कार्य किया और कई पुस्तकों की रचना की। उनके द्वारा रचित कुछ प्रमुख पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं: 1. ह्वाई सोशलिज्म. 2. टुवर्ड्स स्ट्रगल, 3. फ्रॉम सोशलिज्म टू सर्वोदय, 4. स्वराज फॉर द पीपुल, 5. द प्रिजन डायरी, 6. समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, 7. क्रांति के आधुनिक प्रयोग, 8. टुवर्ड्स टोटल रिवोल्युशन आदि।

4.4.6. जयप्रकाश नारायण की चिन्तन यात्रा

जयप्रकाश नारायण आजीवन किसी एक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध नहीं रहे। उसका रूप निरन्तर बदलता रहा। जैसे-जैसे अनुभव के आधार पर जयप्रकाश नारायण का सोच बदलता रहा, वैसे-वैसे उसका रूप भी बदलता रहा। लेकिन उसके विकास का आधारभूत लक्ष्य एक ही रहा। यह लक्ष्य था- एक ऐसी न्यायनिष्ठ शोषणमुक्त स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व पर आधारित समाज व्यवस्था का

अनुसंधान जिसमें रहकर हर व्यक्ति एक शान्त, सुखी और समृद्ध जीवन जीने का अधिकार प्राप्त कर सके। वह हर व्यक्ति को हर समय और सुसंस्कृत जीवन जीने का अधिकार और अवसर प्रदान कर सके। व्यक्ति अपना और अपने समाज का सर्वांगीण विकास करने में सफल और समर्थ हो सके। जयप्रकाश नारायण की चिन्तन-यात्रा के विकास के क्रम को हम निम्नलिखित चरणों में विभक्त कर सकते हैं:-

4.4.6.1. राष्ट्रवादी चरण

यह जयप्रकाश नारायण के चिन्तन का पहला चरण है। पटना में शिक्षार्थी रहते हुए उनके जीवन में राष्ट्रवादी भावनाओं यानी देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए उत्पन्न भावनाओं के माध्यम से इसका निर्माण हुआ। इससे प्रेरित होकर वे बीच में पढ़ाई छोड़कर 1920 में महात्मा गाँधी द्वारा भारतीय स्वराज्य के लिए छेड़े गए अहिंसक असहयोग आन्दोलन में सक्रिय रूप से कूद पड़े लेकिन चैरी-चैरा हिंसक हत्याकाण्ड से प्रभावित होकर जब गाँधीजी द्वारा इस असहयोग आन्दोलन को बन्द कर दिया गया तो जयप्रकाश नारायण के चिन्तन का राष्ट्रवादी चरण भी समाप्त हो गया तथा वे पुनः अपनी शिक्षा को पूर्ण करने में लग गए।

4.4.6.2. मार्क्सवादी-साम्यवादी चरण

जयप्रकाश नारायण उच्च शिक्षा हेतु एक स्वावलम्बी शिक्षार्थी के रूप में अमेरिका चले गए। वहाँ उन्होंने सात वर्ष रहकर अपनी शिक्षा पूर्ण किया तथा यहीं पर उनकी चिन्तन का दूसरा चरण-मार्क्सवादी चरण के रूप में प्रारंभ हुआ। जयप्रकाश नारायण की एक समाजवादी के रूप में चिन्तन मार्क्सवाद के माध्यम से प्रारंभ हुई। अमेरिका में वे अपने शिक्षकों तथा सहपाठियों के माध्यम से मार्क्सवादी विचारधारा के संपर्क में आए जिसके फलस्वरूप मार्क्सवाद आधारित साम्यवाद को ही वे समाजवाद का प्रमाणिक रूप मानने लगे। उन्होंने मार्क्सवादी साहित्यों तथा भारतीय साम्यवादी लेखक एम0 एन0 राय की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और वे साम्यवादी सोच के एक पक्के समाजवादी बन गए तथा उसी में भारतीय स्वतंत्रता तथा निर्धनता के उसकी मुक्ति संभव मानने लगे। इस हेतु उन्होंने भारत की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों तथा समस्याओं के समाधान हेतु मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुसार व्याख्या करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उनके माध्यम से ही भारतीय समाज का समाजवादी अवधारणा के अनुसार पुनर्निर्माण किया जा सकता है।

मार्क्स की तरह जयप्रकाश नारायण भी समाजवाद को मुख्यतः एक आर्थिक सिद्धांत या विचारधारा मानते हैं जिसका उद्देश्य कुछ हाथों में हुए आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को समाप्त कर आर्थिक समानता स्थापित करना है तथा उसके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था के अन्य सभी पक्षों को उसके अनुकूल पुनर्निर्मित करना है। जयप्रकाश नारायण मार्क्स की तरह आर्थिक सत्ता को मौलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानकर उसके माध्यम से ही समस्त समाज के कायाकल्प में विश्वास करते हैं। जयप्रकाश नारायण समाज में भौतिक शक्तियों की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक स्वरूप में विश्वास करते हुए उनके आधार पर निर्मित समाज के साधन सम्पन्न और साधनहीन वर्गों के मध्य वर्ग-संघर्ष की अवधारणा का समर्थन करते हुए उसे समाजवादी समाज की स्थापना का मुख्य साधन घोषित करते हैं। उनके अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही हमें आर्थिक असमानता और उससे होने वाले शोषण से परिचित कराता है तथा उनसे मुक्ति का मार्ग भी सुझाता है।

जयप्रकाश नारायण ने मार्क्स के इस सिद्धांत को भारतीय समाज पर लागू करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारत का बुर्जुआ वर्ग अर्थात् पूँजीपति एवं जमींदार वर्ग एक भागीदार की तरह

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से मिलकर भारतीय जनता का शोषण कर रहा है। मार्क्स की तरह वैयक्तिक सम्पत्ति को शोषण का एक मुख्य कारण मानते हुए जयप्रकाश नारायण ने उसका विरोध ही नहीं किया वरन् शोषण मुक्ति के लिए उसका उन्मूलन को आवश्यक बतलाया। उनके अनुसार समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य वैयक्तिक सम्पत्ति का उन्मूलन कर उस पर सार्वजनिक स्वामित्व कायम करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार शिक्षा समाप्त कर अमेरिका से भारत लौटने पर अपनी सुदृढ़ मार्क्सवादी आस्थाओं के कारण जयप्रकाश नारायण को कांग्रेस के तत्कालीन कार्यक्रमों में परिलक्षित समाजवादी रूझान अपर्याप्त लगे तथा उन्होंने इस हेतु सन् 1934 में आयोजित भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल के प्रथम अधिवेशन में एक पन्द्रह सूत्री कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया जो उनकी मार्क्सवादी आस्थाओं को प्रतिबिम्बित करता था।

4.4.6.3. लोकतंत्रवादी-समाजवादी चरण

अमेरिका से लौटने के बाद जयप्रकाश नारायण का मार्क्सवादी समाजवाद की प्रतिबद्धता के प्रति मोह भंग होने लगा। उसके मुख्य रूप से दो कारण थे। पहला कारण था समाजवादी व्यवस्था को व्यावहारिक रूप प्रदान करने हेतु सोवियत रूस के साम्यवादी शासकों द्वारा अपनाये गये दमनात्मक साधन और दूसरा कारण था सोवियत रूस के पिछलग्गू के रूप में भारतीय साम्यवादियों द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में निभायी गई प्रतिक्रियावादी भूमिका। प्रारम्भिक दौर में जयप्रकाश नारायण ने मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धांतों को असंगत नहीं बताया वरन् उन सिद्धांतों को देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप ढ़ालने पर बल प्रदान किया लेकिन जैसे-जैसे उनके चिन्तन का विकास हुआ, वैसे-वैसे उन सिद्धांतों की असंगतता से प्रभावित होकर वे मार्क्सवाद से दूर होते गए तथा वे अपने समाजवाद को मार्क्सवादी समाजवाद की जगह लोकतांत्रिक समाजवाद के नाम से पुकारने लगे। जयप्रकाश नारायण के चिन्तन में परिवर्तन की यह प्रक्रिया सन् 1940 से स्पष्ट रूप से झलकने लगी। समाजवाद के लोकतान्त्रिक चरित्र पर जोर देने के कारण उनका समाजवाद मार्क्सवाद से दूर और गाँधीवाद के निकट आने लगा तथा वह शनैः-शनैः गाँधीवादी रूप लेने लगा। उन्होंने अपनी इस अवधारणा के समर्थन में कहा कि ''मार्क्सवाद एक सामाजिक विज्ञान और सामाजिक परिवर्तन की क्रान्तिकारी पद्धति है, अतः उसके चिन्तन में मताग्रह और कठमुल्लेपन को कोई स्थान प्राप्त नहीं हैं।'' इसी आधार पर बदलती हुई विश्व परिस्थितियों और विशेष रूप से भारतीय स्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने समाजवाद को लोकतन्त्रानुरूप परिभाषित करने पर जोर दिया तथा कहा कि समाजवाद का वास्तविक अर्थ सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता के अनुरूप होना चाहिए।

जयप्रकाश नारायण ने स्पष्ट किया कि ''समाजवादियों का लक्ष्य केवल पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन कर एक दलीय निरंकुशतावादी शासन की स्थापना करना नहीं है, वरन् एक ऐसे स्वतंत्र और समान लोगों के समाज की रचना करना है जो मानवीय मूल्यों पर आधारित हो तथा जिन्हें उनका व्यावहारिकता या शासकीय हितों के नाम पर किसी भी रूप में बलि नहीं चढ़ाया जा सके।'' उसने यह स्वीकार किया कि समाजवाद और लोकतंत्र एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। जयप्रकाश नारायण द्वारा समाजवाद के लोकतांत्रिक चरित्र पर जोर दिए जाने का प्रमुख कारण उसे मानवीय बनाना था तथा उसमें मनुष्य की गरिमा और उसकी स्वतंत्र स्थिति को कायम करना था। इस प्रकार जयप्रकाश नारायण द्वारा परिकल्पित समाजवादी समाज न सिर्फ लोकतांत्रिक चरित्र का होगा वरन् उसका अंतिम लक्ष्य

व्यक्ति का सर्वोच्च नैतिक उत्थान होगा। वह व्यक्ति की भौतिक समृद्धि का ही नहीं, बल्कि उनकी नैतिक उन्नति का भी मूर्त रूप होगा।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना होनी चाहिए जिसमें हर स्तर पर जनता का विशेषकर मेहनतकश जनता की भागीदारी हो, ताकि वह राज्य की मशीनरी के संचालक नौकरशाह वर्ग पर प्रभावी नियंत्रण रख सके तथा उन्हें समाजवादी आदर्शों के अनुकूल कार्य करने हेतु बाध्य कर सके। उन्होंने अपने समाजवाद में मनुष्य के भौतिक पक्ष की तुलना में उसके नैतिक पक्ष के उत्थान पर अधिक बल देता है। उनका मत है कि मात्र भौतिक विकास से मनुष्य को अच्छा या नैतिक मनुष्य बनने की प्रेरणा प्राप्त नहीं हो सकती। नैतिक उद्देश्यों के प्रति प्रेरणा और चेतना की सन्तुष्टि को ध्यान में रखकर ही उसके भौतिक विकास का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

4.4.6.4. गाँधीवादी-सर्वोदयी चरण

चिन्तन के इस दौर में जयप्रकाश नारायण के सम्मुख मनुष्य के भौतिक विकास की तुलना में उनके नैतिक विकास की प्रमुखता के समाधान के रूप में उनका ध्यान नैतिकता आधारित गाँधीवाद की तरफ आकर्षित हुआ। मनुष्य और उसके सर्वांगीण भौतिक और नैतिक विकास की सम्भावनाएँ उन्हें गाँधीवाद आधारित सर्वोदयी व्यवस्था में दृष्टिगोचर होने लगीं। अतः सन् 1957 में जयप्रकाश नारायण ने स्वयं को दलगत राजनीति से पृथक कर लिया। उनका कहना था कि राजनीति के माध्यम से समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व तथा शांति आधारित समाज की स्थापना का लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सकता। फलतः उन्होंने समाजवाद के स्थान पर सर्वोदय आधारित गाँधीवाद का समर्थन प्रारंभ कर दिया। उनका दृढ़ विश्वास था कि लोकशक्ति या जनशक्ति को जाग्रत किए बिना वास्तविक समाजवादी व्यवस्था का निर्माण असंभव है। अतः उन्होंने लोकशक्ति आधारित इस समाज व्यवस्था को समाजवादी या लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था का नाम देने के बजाय उसे गाँधीवाद आधारित सर्वोदयवादी समाज व्यवस्था का नाम दिया।

सर्वोदयी विचारधारा की जड़ या मूल गाँधीवाद में निहित है तथा यह गाँधीवादी समाज का आदर्श रूप है। गाँधीजी स्वतंत्रता आन्दोलन में अपनी व्यस्तता के कारण उसकी सर्वांग रूप से व्याख्या नहीं कर पाए थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबा भावे द्वारा यह कार्य किया गया, जयप्रकाश जिनके सक्रिय सहयोगी थे। उन्होंने सर्वोदयी समाज की व्याख्या करते हुए कहा कि ''सर्वोदय एक ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन और शोषणविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन तथा अवसर उपलब्ध होंगे। ऐसे समाज की स्थापना हेतु की जाने वाली क्रान्ति अनिवार्य रूप से सत्य और अहिंसा के माध्यम से ही सम्पन्न होगी। सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता है।'' जयप्रकाश नारायण विनोबा तथा काका कालेलकर द्वारा सर्वोदयी समाज की इस व्याख्या से पूर्णतः सहमत और समर्थक थे तथा उसे ही सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख लक्ष्य और साधन के रूप में स्वीकार करते थे। इसी में वे उस समाजवादी समाज की परिकल्पना के व्यावहारिक रूप के दर्शन करते थे जिसे वे मूर्त रूप प्रदान करना चाहते थे। सर्वोदयी समाज अनिवार्य रूप से अहिंसक, शोषणमुक्त और सहकारिता पर आधारित था जो जयप्रकाश नारायण के आदर्श समाज के चित्र के अनिवार्य अंग थे। जयप्रकाश नारायण के अनुसार सर्वोदयी समाज वास्तव में ग्राम-स्वराज्य का ही दूसरा रूप होगा जो गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित आदर्श समाज या रामराज्य का प्रतिरूप होगा।

सर्वोदयी समाज की स्थापना हेतु जयप्रकाश नारायण ने जिन साधनों की प्रस्तावना की, उनमें प्रमुख राजकीय सत्ता के स्थान पर 'लोकसत्ता' के उपयोग की प्रस्तावना थी। उन्होंने यह अनुभव किया कि राजसत्ता पर अधिकार बिना दलगत राजनीति का प्रयोग असंभव है और दलगत राजनीति लोकतंत्र को आदर्श बनाने के बजाय उसे भ्रष्ट करनेवाली होती है। विभिन्न राजनीतिक दल लोकतंत्र को सबल बनाने हेतु नहीं वरन् राजसत्ता पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के उद्देश्य से अपनी कार्य-नीति निर्धारित करते हैं तथा सत्ता में आने पर वे लोकतंत्र का नहीं वरन् अपने दलगत स्वार्थों को ध्यान में रखकर सत्ता का प्रयोग करते हैं। जिसके फलस्वरूप लोकतंत्र सुदृढ़ होने के बजाय कमजोर होता है। इसीलिए उन्होंने सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए दलविहीन तथा लोकशक्ति पर आधारित लोकतंत्र का समर्थन किया। उनके अनुसार ऐसा लोकशक्ति पर आधारित सच्चा लोकतंत्र ही सर्वोदयी समाज का सही रूप है। लोकशक्ति आधारित यह सर्वोदयी व्यवस्था जयप्रकाश नारायण के अनुसार न ही शोषक और न ही प्रतिस्पर्धी बल्कि सहकारी और साझी चरित्र की होगी। यह संतुलित और स्वपर्याप्त होगी तथा उसके हर क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों के सहकारी स्वामित्व और श्रम के माध्यम से संचालित होगी। 'दान' इस सर्वोदयी सभ्यता का एक प्रमुख साधन होगा। ग्राम स्वराज्य की स्थापना हेतु विनोबा भावे द्वारा भूदान आन्दोलन प्रारंभ किया गया जिसके माध्यम से उन्होंने जिनके पास आवश्यकता से अधिक भूमि थी, उसका उन्हें दान करने के लिए प्रेरित किया। ताकि उनका विभाजन भूमिहीनों में करके शोषण से बचाया जाय। सर्वोदयी विचारकों के अनुसार यह 'भूदान' सामाजिक क्रांति का प्रथम चरण था। 'सम्पत्ति दान' इसका दूसरा तथा 'सम्पूर्ण ग्रामदान' इसका तीसरा चरण था। यद्यपि यह आन्दोलन पूर्णतः सफल नहीं हुआ लेकिन इसने अपने अहिंसक क्रान्तिकारी चरित्र के कारण समाज को नैतिक तथा कुछ अंश तक भौतिक दृष्टि से प्रभावित अवश्य किया।

4.4.6.5. समग्र क्रान्तिवादी चरण

जयप्रकाश नारायण के चिन्तन का अंतिम चरण है समग्र क्रान्तिकारी चरण। राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी, गाँधीवादी और सर्वोदयवादी चिन्तन क्रम से गुजरते हुए उन्होंने अनुभव किया कि ये विभिन्न विचारधाराएँ वांछित मौलिक परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है, जिनके बिना सत्य और अहिंसा आधारित न एक आदर्श व्यक्ति और न एक आदर्श समाज की रचना संभव है। इसलिए उन्होंने 'समग्र क्रांति' को अपने विचारधारा में प्रयोग किया। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए जयप्रकाश नारायण ने कहा कि वह व्यक्ति तथा समाज के प्रत्येक अंग या पक्ष का स्पर्श करेगी तथा उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया को अपने अंतिम लक्ष्य तक ले जाएगी। उनके अनुसार समग्र क्रांति में व्यष्टि और समष्टि दोनों में मूलभूत सर्वांगीण परिवर्तन लाने की क्षमता निहित है। इसका उद्देश्य वर्तमान समाज को विकृतियों से मुक्त कर एक नवीन समाज व्यवस्था बनाना है। जयप्रकाश नारायण ने समग्र क्रांति में समाज के सात आयामों को सम्मिलित किया जिनकी वे उसके माध्यम से पुनर्रचना करना चाहते थे। इन आयामों में समाज और व्यक्ति के सभी संभावित पक्ष सम्मिलित हैं, जो इस प्रकार हैं- सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, शैक्षणिक और नैतिक या आध्यात्मिक आयाम या पक्ष। इन सबमें मौलिक महत्व का आयाम है, नैतिक या आध्यात्मिक। गाँधीजी की तरह जयप्रकाश नारायण भी मानते थे कि मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए उसमें लोभ, मोह और स्वार्थ जैसी संकीर्ण भावनाओं का मूलोच्छेदन किया जाना आवश्यक है। यह मूलोच्छेदन ही उसमें नैतिकता या सामाजिकता की भावनाएँ जाग्रत करेगा और उसे एक सच्चा मनुष्य बनाएगा।

जयप्रकाश नारायण ने समग्र क्रान्ति के माध्यम से एक ऐसे मानवीय दृष्टिकोण की परिकल्पना प्रस्तुत किया जिसमें मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को एक लक्ष्य या साध्य न मानें वरन् उसे एक नैतिक और आत्मिक विकास के साधन के रूप में स्वीकार करें। मनुष्य के भौतिक विकास पर नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का विवेक-सम्मत अंकुश या नियंत्रण रहना चाहिए। उनका मत है कि अहिंसक साधनों के प्रयोग से जाग्रत लोकशक्ति द्वारा ही समग्र क्रान्ति सम्पन्न होगी। उन्होंने कहा कि ''सम्पूर्ण या समग्र क्रान्ति अहिंसक आन्दोलन की एक लम्बी प्रक्रिया है तथा उसके प्रत्येक स्तर पर एक ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जो समग्र क्रान्ति के मूल्यों को स्वीकार करता हो, लोकतंत्र तथा नागरिकों की स्वतंत्रता के प्रति निष्ठा रखता हो तथा संकीर्ण स्वार्थों से पूर्णतः मुक्त हो।''

इस प्रकार जयप्रकाश नारायण के समग्र क्रांति की अवधारणा उनके जीवन का सार था जो उनके गाँधीवादी विश्वासों और आस्थाओं का ही सार था। उनका यह विचार गाँधीवादी विचारधारा का ही एक अग्रिम विकास था जो उसके मूलभूत विचारों के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करके उसे 'ग्राम-स्वराज्य' का वह स्वरूप प्रदान करना चाहता था जिसका उल्लेख गाँधी ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में किया था। अतः गाँधीवादी समाज का निर्माण ही समग्र क्रान्ति का लक्ष्य था जिसे देश की परिवर्तित परिस्थितियों में जयप्रकाश नारायण द्वारा मूर्त रूप दिया गया।

4.4.7. जयप्रकाश की लोकतंत्र की परिकल्पना

जयप्रकाश नारायण लोकतंत्र को पश्चिमी अवधारणा के अनुसार जनता के भौतिक कल्याण का एक साधन नहीं मानते थे। वे लोकतंत्र को भौतिक से अधिक नैतिक मूल्यों पर आधारित एक व्यवस्था और जनता के नैतिक उत्थान का साधन मानते थे। उनके आदर्श लोकतंत्र की परिकल्पना भौतिकवादी कम और नैतिकवादी चरित्र की अधिक थी। वह एक प्रत्यक्ष जन-सहभागिता का मूर्त रूप थी जो हर एक स्तर पर ग्राम से राष्ट्रीय स्तर तक जनता की सक्रिय सहभागिता और सहकारिता पर आधारित थी। अतः जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रस्तुत वास्तविक लोकतंत्र की परिकल्पना जन-स्वराज्य का एक जीता-जागता रूप थी। इसमें व्यक्ति और उसका सर्वांगीण कल्याण या लोक-कल्याण सर्वाधिक महत्व का विषय होगा। यह एक दल-विहीन व्यवस्था का प्रतीक होगा तथा इसमें स्थानीय से राष्ट्रीय स्तर तक सत्ता का पूर्ण विकेन्द्रीकरण होगा। इस कारण यह पंचायती राज्य का एक मूर्त रूप होगा तथा व्यक्ति तथा समाज के स्वार्थों के एक सुन्दर समन्वय पर आधारित होगा। आधुनिक लोकतंत्र समस्त दुर्गुणों से मुक्त होगा तथा जिसमें रहकर व्यक्ति सच्ची स्वतंत्रता और पूर्ण समानता का उपभोग करते हुए सर्व-बन्धुत्व भाव से आबद्ध होगा। इसका आकार पिरामिडनुमा होगा, इसका प्रत्येक स्तर ग्राम, क्षेत्र, जिला, प्रदेश और राष्ट्रीय स्वराज्य या स्वशासित होगा तथा सम्पूर्ण समाज सभी प्रकार की विषमताओं से शून्य और शोषण मुक्त होगा। इस प्रकार जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रतिपादित इस सहभागी लोकतंत्र की परिकल्पना जन-सहकारिता का एक आदर्श रूप होगी।

4.4.8. जयप्रकाश की लोकतंत्र सम्बन्धी विचार

जयप्रकाश नारायण की लोकतंत्र में गहरी आस्था थी। लेकिन वे पश्चिमी लोकतंत्र की अवधारणा यानी विकसित और कार्यरत संसदीय लोकतंत्र की अवधारणा को सच्ची अवधारणा नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में वह तंत्र अधिक था और लोक कम। उसमें जनता की भागीदारी मतदाता के रूप में

औपचारिक मात्र थी, वास्तविक नहीं और इसीलिए वे उसके कटु आलोचक थे। वे निम्नलिखित आधार पर उसे असंगत घोषित कर अस्वीकार करते थे:

जयप्रकाश नारायण पश्चिमी लोकतंत्र का सबसे पहला दोष यह मानते थे कि उसमें व्यक्ति और समाज में कोई जैविक सम्बन्ध की कल्पना नहीं की गयी है। व्यक्ति को समाज की अविभाज्य इकाई नहीं मानकर उसे एक स्वतंत्र इकाई मानकर समाज के विरूद्ध खड़ा कर दिया गया है। फलतः व्यक्ति और समाज के स्वार्थों में टकराव और संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। जबकि वास्तविक लोकतंत्र में जयप्रकाश नारायण के मतानुसार समाज को व्यक्तियों का एक जैविक योग मानते हुए व्यक्ति को उसका अनिवार्य अंग मानना चाहिए तभी व्यक्ति और समाज के स्वार्थों में समरूपता उत्पन्न हो सकती है और वे एक दूसरे के पूरक बनकर व्यक्ति अपने वैयक्तिक और समाज अपने सामूहिक व्यक्तित्व के विकास का लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। ऐसा होने पर ही वह ''जनता द्वारा, जनता का शासन, जनता के लिए' हो सकता है।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार पश्चिमी लोकतंत्र का दूसरा दोष यह है कि उसका स्वरूप और संचालन का मुख्य आधार नैतिक और भौतिक नहीं बल्कि गणितीय है। वह बहुमत का शासन होता है। इसमें व्यक्ति का मूल्य एक मतदाता से भिन्न कुछ नहीं होता। शासन संचालन में उसकी भूमिका गौण हो जाती है। जयप्रकाश नारायण के माना कि लोकतंत्र का यह गणितीय स्वरूप उसके वास्तविक लोकतंत्र बनने की राह में एक व्यवधान बनकर उसका मार्ग अवरूद्ध कर देता है। संसदीय लोकतंत्र का शासन सैद्धान्तिक रूप से बहुमतीय चरित्र का होते हुए भी वास्तविक आधार पर अल्पमतीय चरित्र का ही होता है। उनके अनुसार प्रत्याशियों द्वारा अधिकाधिक मत प्राप्ति के लिए जन-भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया जाता है और लोक-लुभावन राजनीति का प्रयोग कर जनता तथा देश के हितों के साथ स्वार्थवश खिलवाड़ करते हैं।

संसदीय लोकतंत्र का एक गंभीर दोष उसकी सत्ता की केन्द्रीकरण तथा नौकरशाही की निरंकुशता की प्रवृत्ति है। उनके अनुसार निर्वाचन में मतदान पश्चात् मतदाताओं का शासन पर कोई प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं रहता। शासन की सारी शक्ति सत्ताधीशों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण शासन के अधिकांश निर्णय असंगठित मतदाताओं के हितों में न होकर संगठित निहित स्वार्थों की पूर्ति को ध्यान में रखकर लिए जाते हैं जिनका लाभ जनता को कम और सम्पन्न वर्गों को अधिक होता है। इस प्रकार अल्पमत बहुमत का शोषक बन जाता है। साथ ही सत्ता के केन्द्रीकरण से शासक वर्ग के अधीन कार्य करने वाली नौकरशाही निरंकुश हो जाते हैं जिसका उद्देश्य लोक-कल्याण न होकर अपना हित-साधन करना होता है। फलतः भ्रष्टाचार बढ जाता है और जन-जीवन की कठिनाइयों में कमी होने के बजाय वृद्धि हो जाती है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार इस तरह लोकतांत्रिक उत्तरदायी शासन अनुत्तरदायी शासन में परिवर्तित हो जाता है।

जयप्रकाश नारायण संसदीय लोकतंत्र में कार्यरत दल-प्रणाली को भी दोषी मानते हैं। उनके अनुसार बिना दलों के अस्तित्व के संसदीय लोकतंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती लेकिन ये दल अपनी दलगत राजनीति के कारण कुप्रभाव डालते हैं और उसे रूग्ण बना देते हैं। क्योंकि दल-प्रणाली देशहित के स्थान पर दलहित को ध्यान में रखकर सत्ता-प्राप्ति के लिए हर वांछनीय-अवांछनीय साधन का प्रयोग करने से नहीं चुकते हैं। इसलिए दल आधारित संसदीय लोकतंत्र को जयप्रकाश नारायण लोकतंत्र

का सही रूप नहीं मानते हैं और एम0 एन0 राय की तरह दल-विहीन लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना का समर्थन किया। दलयुक्त लोकतंत्र भेड़तंत्र के समान है।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार संसदीय लोकतंत्र का एक और गंभीर दोष उसकी चुनाव-प्रणाली है। यह खर्चीला होने के कारण निर्धन लेकिन सुयोग्य व्यक्ति जनता का प्रतिनिधित्व करने का अवसर प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं। फलतः संसदीय लोकतंत्र धनिकतंत्र का एक प्रतिरूप बनकर रह जाता है। साथ ही उनका कहना है कि संसदीय लोकतंत्र में निर्वाचन के समय राजनीतिक दल अपने पक्ष में मतदाताओं में लहर पैदा करने के लिए मूल मुद्दों से हटकर गलत प्रचार-प्रसार करके दिग्भ्रमित करने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। इससे निर्वाचन का अर्थ एवं महत्व उस पर धन, शक्ति, झूठे प्रचार-प्रसार एवं भ्रष्टाचारी तरीकों को अपनाये जाने के कारण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार संसदीय लोकतंत्र में निर्वाचन की दूषित प्रणाली उसे सबल और सार्थक बनाने के बजाय उसे कमजोर और निरर्थक बना देती है।

4.4.9. भारतीय लोकतंत्र में सुधार के लिए सुझाव

जयप्रकाश नारायण इस तथ्य से वाकिफ थे कि उनके द्वारा प्रतिपादित जन-सहभागिता आधारित सहकारी आदर्श लोकतंत्र की परिकल्पना की प्राप्ति एक दूरगामी लक्ष्य है जिसकी निकट भविष्य में स्थापना असंभव है। इसीलिए उन्होंने वर्तमान भारतीय लोकतंत्र में सुधार हेतु प्रयास किए जिससे उनकी आदर्श परिकल्पना साकार हो सके। उन्होंने उसमें सुधार हेतु कुछ सुझाव दिए जो निम्नानुसार हैं:-

1. राज्यशक्ति की तुलना में लोक-शक्ति को प्रबल बनाया जाय- उन्होंने अनुभव किया कि संविधान द्वारा लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के बाबजूद उसके संचालन और नियंत्रण के लिए अंकुश के रूप में जिस लोक-शक्ति की आवश्यकता है, वह इतनी सशक्त नहीं है कि सफलतापूर्वक राज्य-शक्ति का नियंत्रण कर सके और उसे लोक-कल्याण के कार्य करने के लिए बाध्य कर सके। अतः राज्य-शक्ति की तुलना में लोकशक्ति की प्रबलता का विचार जयप्रकाश नारायण के वैचारिक दर्शन का मुख्य आधार था।
2. भ्रष्टाचार निवारण- जयप्रकाश नारायण भ्रष्टाचार को भारतीय लोकतंत्र के लिए अभिशाप मानते थे तथा सभी स्तरों पर उसकी बढ़ती हुई मात्रा से उसके भविष्य को लेकर चिन्तित थे तथा उसके उन्मूलन को लोकतंत्र की सफलता के लिए अनिवार्य मानते थे। सर्वप्रथम वे राजनीतिक भ्रष्टाचार की समाप्ति को आवश्यक मानते थे तथा चाहते थे कि ऐसे ही व्यक्तियों को मंत्रियों के रूप में नियुक्त किया जाय जिनका वैयक्तिक और सार्वजनिक जीवन भ्रष्टाचार से मुक्त हो। साथ ही वे चाहते थे कि ऐसी अधिकारयुक्त वैधानिक संस्था का निर्माण किया जाए जो भ्रष्टाचार की जाँच-पड़ताल कर सके तथा आरोपित होने पर उस व्यक्ति के विरूद्ध दण्डात्मक कार्यवाही कर सके।
3. चुनाव-प्रणाली में सुधार- जयप्रकाश नारायण भारतीय चुनाव प्रणाली को भी भ्रष्टाचार का एक प्रमुख कारण मानते थे। उसमें काले धन का प्रयोग बढ़ता जा रहा है जो भारतीय जनतंत्र की जड़ों को कमजोर करने का काम कर रहा है। अतः चुनाव को कम खर्चीला बनाये जाने की आवश्यकता है। आज भारतीय लोकतंत्र एक धनिकतंत्र में परिणत हो गया है।
4. प्रतिनिधि-प्रत्यावर्तन की व्यवस्था पर बल- जयप्रकाश नारायण ने अनुभव किया कि वर्तमान चुनाव-प्रणाली में एक बार जो प्रत्याशी प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हो जाता है फिर उस पर अपने मतदाताओं का कोई अंकुश नहीं रहता है। एक बार जो प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाता है, वह

अपने चुनाव क्षेत्र में तभी वापस जाता है जब उसे दुबारा निर्वाचन हेतु मत प्राप्त करना होता है। इसीलिए वे चाहते थे कि एक प्रतिनिधि-प्रत्यावर्तन की व्यवस्था स्थापित की जाय जिससे अपने अयोग्य और अकर्मण्य प्रतिनिधि को मतदाता आवश्यक समर्थन जुटाकर उसे प्रतिनिधि के पद से हटा सके। अतः निर्वाचन प्रणाली के द्वारा प्रत्यावर्तन का भय उन्हें निरन्तर जन-हित के लिए सजग रखेगा।

5. प्रशासनिक तंत्र का कायाकल्प- उनका कहना था कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात भारतीय शासन में ब्रिटिश शासकों द्वारा स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था को ज्यों का त्यों अपना लिया है जिससे यह व्यवस्था अनुपयुक्त होकर भार स्वरूप बन गयी है। नौकरशाही का वर्चस्व पूर्ववत कायम है जो जनता के प्रति अनुत्तरदायी बना रहा है। अतः उन्होंने संपूर्ण प्रशासनतंत्र का कायाकल्प कर उसे अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने की आवश्यकता पर बल दिया।
6. लोक-समितियों के गठन पर बल- जयप्रकाश नारायण ने अपनी लोक-शक्ति की अवधारणा को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए, उसके साधन के रूप में जागरूक जन की लोक-समितियों की स्थापना पर बल दिया। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि ये समितियाँ लोकतंत्र के प्रहरी के रूप में सक्रिय होकर कार्य करती हुई उसके प्रत्येक चरण को नियंत्रित कर सही दिशा में कार्य करने हेतु प्रेरित और संचालित करेंगीं।
7. लोक-आन्दोलनों की आवश्यकता- जयप्रकाश नारायण लोकतंत्र की सफलता के लिए राज्य-शक्ति पर लोक-शक्ति के नियंत्रण को आवश्यक मानते थे। लोक-शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में राज्य-शक्ति पर नियंत्रण स्थापित करने हेतु जयप्रकाश नारायण ने जन-अधिकार के रूप में अहिंसक लोक-आन्दोलनों का समर्थन किया तथा सभा, जुलूस, प्रदर्शन, धरना, हड़ताल, सविनय-अवज्ञा आदि को उनके अस्त्र-शस्त्र की मान्यता प्रदान की, ताकि राज्यशक्ति को लोकशक्ति के अनुरूप कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सके।
8. संविधान संशोधन हेतु सुझाव- जयप्रकाश नारायण को भारतीय लोकतंत्र में कई तरह के अभाव और कमियों का अनुभव हुआ, जिसके निवारण के लिए भारतीय संविधान में संशोधन के सुझाव दिए। वे सम्पत्ति के अधिकार को सर्वप्रथम मौलिक अधिकारों की सूची से निकालकर उसे साधारण अधिकार के रूप में परिवर्तित करने का सुझाव दिया। साथ ही प्रत्येक नागरिक का जीवन और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार अक्षुण्ण बने रहे। जयप्रकाश नारायण के संशोधन का तीसरा सुझाव उच्चतम न्यायालयों में न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में था। पहले यह कार्य कार्यपालिका के हाथ में केन्द्रित था लेकिन अब संशोधन कर उनकी नियुक्ति के लिए मुख्य न्यायाधीश की सम्मति लेना आवश्यक कर दिया गया है। जिसके फलस्वरूप वह कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता पर प्रभावी अंकुश के रूप में कार्य करने हेतु सक्षम अनुभव करती है। जयप्रकाश नारायण का संविधान संशोधन का चौथा सुझाव केन्द्र-राज्य संबंधों से सम्बन्धित था। वे चाहते थे कि राज्यपाल राज्य का प्रतिनिधि अधिक हो और केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में कम हो। वे यह भी चाहते थे कि संविधान में परिवर्तन कर शक्तियों का पुनः विभाजन हो और राज्य स्वायत्तता को सुदृढ़ करने हेतु उन्हें केन्द्र की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्रदान की जाय। जिससे सत्ता के केन्द्रीकरण के स्थान पर राज्यों के पक्ष में उसका विकेन्द्रीकरण होगा जहाँ से वह जिला और ग्राम स्तर पर विकेन्द्रित होकर उस पंचायती ग्राम-स्वराज्य के विचार को मूर्त रूप प्रदान करेगी जिसका

सपना गाँधी और जयप्रकाश नारायण ही नहीं, उनके सभी अनुयायी भी देखते आ रहे हैं। दरअसल ग्राम-स्वराज्य ही लोकतंत्र का असली रूप है।

4.4.10. जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार

गाँधीजी की मृत्यु के उपरान्त जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक व्यक्तित्व में गहरा रूपान्तर हो गया। वे उस सिद्धान्त को मानने लगे जिसपर गाँधीजी ने बल दिया था। आगे चलकर दलगत राजनीति से सम्बन्ध विच्छेद कर उन्होंने अपने को एक जीवनदानी के रूप में सर्वोदय आन्दोलन के लिए समर्पित कर दिया। वे ग्राम जीवन के पुनः संगठन के पक्ष में थे। वे चाहते थे कि गाँवों को स्वायत्त तथा स्वावलम्बी इकाइयाँ बनाया जाय। इसके लिए भूमि सम्बन्धी कानूनों में आमूल सुधार करने की आवश्यकता थी। भूमि पर वास्तविक किसान का स्वामित्व होना चाहिए। उन्होंने सहकारी खेती का समर्थन किया। उन्होंने कहा, ''वास्तविक समाधान यह है कि उन सभी निहित स्वार्थों का उन्मूलन कर दिया जाय जिनसे किसी भी रूप में भूमि जोतने वालों का शोषण होता है, किसानों के सभी ऋणों को निरस्त कर दीजिए, जोतों को एकत्र करके सहकारी और सामूहिक फार्मों की तथा राजकीय और सहकारी ऋण-व्यवस्था तथा हाट-व्यवस्था और सहकारी सहायक उद्योगों की स्थापना कीजिए। उनका कहना था कि सहकारी प्रयत्नों के द्वारा ही कृषि तथा उद्योग के बीच सन्तुलन कायम किया जा सकता है।

राज्य को अपने निजी उद्योगों की स्थापना करनी है तथा आर्थिक प्रसार के अन्य उपाय करने हैं। किन्तु कृषि को उसकी वर्तमान अवस्था में छोड़ देना उचित नहीं है। उनका कहना था कि कृषि क्षेत्र में उत्पादन की वृद्धि सहकारी तथा सामूहिक खेती के द्वारा ही संभव हो सकती है। वृहत उत्पादन संस्थानों पर सामूहिक स्वामित्व तथा नियंत्रण स्थापित किया जाय। उन्होंने आग्रह किया कि भारी परिवहन, जहाजरानी, खनन तथा भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय। वे भूमिकर को घटाने, व्यय को कम करने के पक्ष में थे। जयप्रकाश नारायण विश्व समाज के आदर्श को मानते थे। विश्व शत्रुतापूर्ण शक्ति-गुटों में विभक्त है और उनमें से प्रत्येक अपने सर्वोच्च अधिकारों को जताने के लिए हूहल्ला मचा रहा है। साथ ही सिद्धान्तहीन उद्धतता का भी बोलबाला है। ये सब बड़े ही अशुभ लक्षण हैं। जयप्रकाश नारायण के विचार के अनुसार इस संकट की घड़ी में बुद्धिजीवियों का कर्त्तव्य है कि वे विश्व समाज की भावनाओं का प्रसार और पुष्टि करें। आज विश्व की शक्ति-व्यवस्था का ध्रुवीकरण हो चुका है। दो गुट आमने-सामने खड़े हुए हैं। इसका मुकाबला करने के लिए एक मानसिक क्रान्ति की आवश्यकता है।

4.4.11. जयप्रकाश नारायण का समाजवाद

एक समाजवादी मनीषी के रूप में जयप्रकाश नारायण प्रख्यात थे। महात्मा गाँधी उन्हें समाजवाद का सबसे बड़ा भारतीय विद्वान मानते थे। उन पर ब्रिटेन तथा अमेरिका के समाजवादी विचारों का प्रभाव पड़ा। वे समाजवाद को सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का एक सम्पूर्ण सिद्धांत मानते थे। उनके अनुसार वह वैयक्तिक आचारनीति के सिद्धांत से भी बहुत बड़ी चीज है। उन्होंने मनुष्य की जैविक असमानता के सिद्धान्त का खंडन किया। समाजवादी होने के नाते उन्होंने स्पष्ट किया कि सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में व्याप्त असमानता का मुख्य कारण यह है कि कुछ लोगों का उत्पादन के साधनों पर बहुत अधिक नियंत्रण है और बहुसंख्यक लोग उनसे वंचित हैं। इसलिए उनका आग्रह है कि समाज ऐसी व्यवस्था करे, जिससे मनुष्य की शक्ति और क्षमताओं को निष्फल करनेवाली आर्थिक बाधाएँ दूर हो सके। वे सामाजिक

तथा आर्थिक समानता के समर्थक हैं। समाजवाद व्यापक नियोजन का सिद्धांत तथा कार्यप्रणाली है। उसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का 'सामंजस्यपूर्ण तथा सुसन्तुलित विकास' है।

समाजवाद की स्थापना उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करके ही की जा सकती है। समाजवाद ही विशाल जनसमुदाय के आर्थिक शोषण की क्रूर प्रक्रिया का अन्त कर सकता है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद उन प्रमुख मूल्यों के विरूद्ध नहीं है जिनका भारतीय संस्कृति ने पोषण किया। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद के व्यवस्थित आर्थिक सिद्धान्तों का निरूपण पश्चिम में हुआ किन्तु उसका मूल आदर्शवाद भारतीय संस्कृति का भी अंग है। समाजवादी होने के नाते जयप्रकाश नारायण आर्थिक समस्याओं को प्राथमिकता देते थे। इसलिए उनका आग्रह था कि देश की आर्थिक समस्याओं को तुरंत हल किया जाय। आर्थिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक जीवन के बीच कोई प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह भी सत्य है कि आधारभूत आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना सांस्कृतिक सृजनशीलता असंभव है। इसलिए जयप्रकाश नारायण उन परिस्थितियों के निर्माण के पक्षधर थे जिनमें समान अवसर के आदर्श का साक्षात्कार किया जा सके। संस्कृति के फलने-फूलने के लिए न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति अपरिहार्य है।

4.4.12. निष्कर्ष

प्राचीन और आधुनिक राजनीतिक विचारकों की तरह जयप्रकाश नारायण कोई निष्क्रिय राजनीतिक चिन्तक नहीं थे। उनका जीवन एक सतत् सक्रिय राजनीतिक चिन्तक और उसे व्यावहारिक रूप देने वाले कर्मयोगी के जीवन का ज्वलन्त उदाहरण है। मार्क्सवादी के रूप में उनके चिन्तन की विकास यात्रा प्रारंभ होकर गाँधीवाद, सर्वोदय और समग्र क्रान्ति की अवधारणा के व्यावहारिक प्रतिपादन पर आकर समाप्त हुई। उनके चिन्तन के इस विकास क्रम की विशिष्टता के कारण कुछ आलोचकों को उनके चिन्तन में स्थिरता और प्रतिबद्धता का अभाव दिखाई दिया। लेकिन उनके चिन्तन की यह आलोचना वस्तुपरक और व्यावहारिक नहीं है। उनके लिए चिन्तन कोई अपने आप में साध्य नहीं था बल्कि वह एक साधन था। जिसके माध्यम से वे एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे जो समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के मानववादी सिद्धान्तों पर आधारित हो तथा जिसकी प्राप्ति अनिवार्य रूप से सत्य और अहिंसा के साधनों के माध्यम से संभव हो। यही आदर्श उनके निरन्तर परिवर्तित होने वाले चिन्तन की विकास यात्रा का स्थायी आधार था तथा उसे अशृंखलाबद्ध दिखते हुए भी शृंखलाबद्ध सिद्ध करता है।

मार्क्सवाद के प्रति प्रासंगिक आस्था के बाबजूद वे कट्टर मार्क्सवादी तथा गाँधीवाद के प्रति आस्थावान होकर भी वे अंध या अनुदार गाँधीवादी नहीं हो सके। सत्यान्वेषण की उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति उन्हें निरन्तर गतिशील चिन्तक बनाये रही और वे गाँधीवाद से सर्वोदय के माध्यम से समग्र क्रान्ति की ओर उन्मुख हुए। समग्र क्रान्ति की अवधारणा का प्रतिपादन कर जयप्रकाश नारायण ने न सिर्फ उन सामाजिक विकृतियों पर चोट की जो उसकी राह में रोड़ा थी बल्कि उनका उन्मूलन कर उनके स्थान पर सत्य-अहिंसा आधारित सामाजिक व्यवस्था के आदर्श का भी प्रतिपादन किया। राज्यशक्ति के स्थान पर लोकशक्ति आधारित 'लोकराज्य' की जयप्रकाश नारायण की अवधारणा उनके द्वारा प्रतिपादित समग्र क्रान्ति की अवधारणा का एक स्वाभाविक परिणाम था। यही राजनीतिक चिन्तन जयप्रकाश नारायण का

वास्तविक योगदान है जो मनुष्य को अन्याय और शोषण से मुक्ति का एक नया मार्ग दिखलाता है और उनके मन में जीवन के सुखद भविष्य के प्रति एक नई आशा जाग्रत करता है।

निश्चय ही जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के माने हुए तथा सुविख्यात व्यक्ति हैं। यह उनका महत्वपूर्ण योगदान था कि उन्होंने भारत में समाजवादी आन्दोलन को कांग्रेस के झंडे के नीचे चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के साथ सम्बद्ध कर दिया। उसने अपना सम्पूर्ण जीवन सामाजिक जीवन की विकृतियों के उन्मूलन तथा उसके शुद्धिकरण हेतु समर्पित कर दिया था। जयप्रकाश नारायण मानववादी आदर्शों से प्रेरित व्यक्ति थे जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य एक समता एवं स्वतंत्रता आधारित शोषणमुक्त समाज की स्थापना करना था। उसी के लिए वे आजीवन संघर्षशील रहे, जिये और मरे।

4.4.13. कठिन शब्दावली

(1)	संकल्पबद्ध	-	संकल्प से बँधा हुआ
(2)	समग्र	-	सम्पूर्ण
(3)	न्यायनिष्ठ	-	न्याय में निष्ठा रखने वाला
(4)	शीर्षस्थ	-	शीर्ष पर रहने वाला
(5)	सर्वांगीण-	सब तरह का	
(6)	बुर्जुआ वर्ग	-	सम्पन्न वर्ग
(7)	परिलक्षित	-	दिखाई देना
(8)	निरंकुश	-	जिसपर अंकुश न हो
(9)	समृद्धि	-	सम्पन्नता
(10)	मूलोच्छेदन	-	जड़ से समाप्त करना

4.4.14. अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) निम्नांकित में से किसने दलहीन प्रजातंत्र और विकेन्द्रीकरण की बात की है?

(क) जवाहर लाल नेहरू (ख) सरदार पटेल

(ग) महात्मा गाँधी (घ) जयप्रकाश नारायण

(2) जयप्रकाश नारायण प्रवर्तक थे:

(क) पूँजीवाद (ख) साम्यवाद

(ग) समाजवाद (घ) इनमें से कोई नहीं

(3) जयप्रकाश नारायण लोकतंत्रीय विकेन्द्रीकरण का आधार किसे मानते हैं?

(क) ग्राम पंचायत (ख) पंचायत समिति

(ग) जिला परिषद् (घ) उपर्युक्त सभी

(4) जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय को क्यों अपनाया?

(क) नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा देने के लिए

(ख) नागरिकों के समानता के लिए

(ग) उनको शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए

(घ) उपर्युक्त सभी

(5) जयप्रकाश नारायण मतदाता की न्यूनतम आयु कितनी रखना चाहते थे?

(क) 18 वर्ष (ख) 19 वर्ष

(ग) 21 वर्ष (घ) 25 वर्ष

(6) ''संसार में कोई दल ऐसा नहीं है जो बिना राज्यतंत्र के समाजवाद की स्थापना कर सके।'' उक्त कथन से उनका किसके प्रति मोह प्रकट होता है?

(क) राज्य (ख) सरकार

(ग) संविधान (घ) इनमें से कोई नहीं

(7) ''भारत की समाजवादी सरकार पूर्णतः प्रजातांत्रिक होनी चाहिए। प्रजातंत्र के बाद समाजवाद अचिन्त्य है।'' उक्त कथन किसका है?

(क) जवाहर लाल नेहरू (ख) महात्मा गाँधी

(ग) डॉ॰ राम मनोहर लोहिया (घ) इनमें से कोई नहीं

(8) निम्नलिखित में जयप्रकाश नारायण की रचना कौन नहीं है?

(क) राष्ट्रवाद तथा सामाजिक क्रान्ति

(ख) सोशियलिज्म टू सर्वोदय

(ग) ए पिक्चर ऑफ सर्वोदय सोशल ऑर्डर

(घ) टूवार्डस टोटल रिवोल्यूशन

(9) जयप्रकाश नारायण की मृत्यु कब हुई थी?

(क) अक्टूबर 1980 में (ख) अक्टूबर 1979 में

(ग) अक्टूबर 1978 में (घ) नवम्बर 1982 में

(10) जयप्रकाश नारायण का जन्म कब हुआ था?

(क) 1902 में (ख) 1909 में

(ग) 1908 में (घ) 1910 में

उत्तरः- (1) घ (2) ग (3) घ (4) घ (5) क

(6) क (7) घ (8) क (9) ख (10) क

लघु उत्तरीय प्रश्न

(2) जयप्रकाश नारायण के चिन्तन पर मार्क्सवादी प्रभाव को स्पष्ट करें।

(3) जयप्रकाश नारायण के चिन्तन पर गाँधीवादी प्रभाव का उल्लेख करें।

(4) जयप्रकाश नारायण के सर्वोदयी विचार को स्पष्ट करें।

(5) जयप्रकाश नारायण की लोकतंत्र की परिकल्पना का उल्लेख करें।

(6) जयप्रकाश नारायण के समाजवादी विचार का उल्लेख करें।

(7) जयप्रकाश नारायण की प्रमुख रचनाओं का उल्लेख करें।

(8) जयप्रकाश नारायण की समग्र क्रान्ति की अवधारणा को स्पष्ट करें।

(9) जयप्रकाश नारायण के दल-विहीन प्रजातंत्र को स्पष्ट करें।

(10) राष्ट्रवाद पर जयप्रकाश नारायण के विचारों का उल्लेख करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) जयप्रकाश नारायण के जीवन पर निबंध लिखें।
(2) जयप्रकाश नारायण के चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्वों का उल्लेख करें।
(3) जयप्रकाश नारायण की चिन्तन यात्रा का उल्लेख करें।
(4) जयप्रकाश नारायण के समग्र क्रान्ति की अवधारणा का विश्लेषण करें।
(5) जयप्रकाश नारायण द्वारा पाश्चात्य संसदात्मक प्रजातंत्र पर दिए विचारों का उल्लेख करें।
(6) जयप्रकाश नारायण द्वारा भारतीय लोकतंत्र में सुधार संबंधी सुझाव का उल्लेख करें।
(7) जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय संबंधी विचारों को स्पष्ट करें।

4.4.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

(1) जैन पुखराज, मेहता प्रो॰ जीवन, राजनीति विज्ञान, एस0 बी0 पी0 डी0 पब्लिकेशन्स, आगरा, 2013, पृ0 सं0-217-243.
(2) वर्मा, डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद- आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा, 1983, पृ0 सं0.535-537.
(3) गोविंदाचार्य - के0एस0; आन्दोलन की जरूरत, सहारा समय 11 अक्टूबर 2003
(4) राय, सुप्रिया- राजनारायण का समाजवादी व्यक्तित्व, सनराइज पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2004
(5) जेने और फड़िया- भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन, 2005
(6) देसाई, नारायण: (सम्पा0) लोकनायक जयप्रकाश एवं विभूति सम्पन्न व्यक्तित्व, सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी, 2002
(7) शुक्ल, सोमनाथ; जयप्रकाश नारायण व्यक्ति और विचार, सर्वोदय विद्या संस्थान, कानपुर, जून 1968.